

✽ श्रीकृष्णचैतन्यः शरणम् ✽

सवृत्तिकं

श्रीश्रीहरिनामामृत-व्याकरणम्

प्रथम-खण्डम्

संज्ञा-सन्धि-विष्णुपद-आख्यात प्रकरणान्त-

‘अमृता’ ‘बालतोषणी’ टीकाद्वयोपेतम्

[धातुगणपाठादि परिशिष्ट सहितम्]

श्रीमन्माधवगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायाचार्यं वर्येण वेद-षड्दर्शनेतिहास-पुराण-

शब्दानुशासन-ज्योतिष-काव्यालङ्कार-सङ्गीत-छन्दः-शास्त्रादि-

पारावारपारीणेन महामहोपाध्यायाध्यापकनिकरैः

परमबृहत्तमसिद्धसङ्घैश्च निषेवितपदपङ्कजेन

वैष्णवसिद्धान्त राज्यरक्षणैक सेनापतिना

श्रीश्रील-सनातन-रूपानुगवरेण

परमहंसकुल मुकुट मणिना

श्रीश्रील-श्रीजीवगोस्वामि-चरणेन

विरचितम्



Amita-Krishna das

प्रकाशक

डालमिया जैन ट्रस्ट

नई दिल्ली



प्रकाशन तिथि

दीपमालिका, संवत् २०३१



मूल्य

प्रथम-खण्ड : ८) रु०

द्वितीय-खण्ड : १२) रु०

दोनों खण्ड एकसाथ : २०) रु०



प्रथम संस्करण

ग्यारह सौ प्रति

[सर्वस्वत्वं सुरक्षितम्]



मुद्रक

हरीनाथ सारस्वत

श्री प्रेम हरी प्रेस, वृन्दावन ।

प्रकाशकीय

श्री श्रीहरिनामामृत-व्याकरण नामक इस महान् ग्रन्थ के रचयिता श्री मन्माध्वगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायाचार्य वेद-षड्दर्शन-इतिहास-पुराण-शब्दानुशासन ज्योतिष-काव्यालंकार-संगीत-छन्दः-शास्त्रादि विशारद, वैष्णव सिद्धान्त राज्य-रक्षणैक-कुशल एवं विश्व-वैष्णव-राज-सभा-सभाजन, श्रीश्री रूप-सनातनानुग, परमहंसकुल-चूड़ामणि श्रील श्रीजीव-गोस्वामी-चरण हैं ।

इस ग्रन्थ का बंगाक्षर में कई स्थानों से प्रकाशन हो चुका है । परन्तु देव-नागरी लिपिमें यह अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया था । इस गुरुतर अभाव की ओर अनेक प्राचीन एवं अप्रकाशित गौड़ीय ग्रन्थों को देवनागरी लिपि में प्रकाशित करने वाले प्रकाण्ड विद्वान् गुरुपादपद्म कनिष्ठ, त्याग एवं तपोमूर्ति, कुसुम सरोवर निवासी (अधुना नित्यलीला प्रविष्ट) बाबा श्रीकृष्णदास जो महाराज का ध्यान गया और वे अशक्त, जीर्ण-शीर्ण कलेवर होते हुए भी प्रकाशन के लिये इसकी पाण्डुलिपि तैयार करने में जुट गये ।

बाबा श्रीकृष्णदासजी महाराज उड़ीसा के कटक जिले के निवासी थे । उनका जन्म एक संभ्रान्त परिवार में हुआ था । बहुत चेष्टा करने पर भी उनके माता-पिता आदि का कोई परिचय प्राप्त नहीं हो सका है । वे बाल्यकाल से ही विद्यानुरागी, विरक्त-स्वभाव एवं भजन-निष्ठ थे । अपने ग्राम में छात्रवृत्ति-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वे कटक गये जहाँ उन्हें परम भागवत, वैष्णवाचार्य, कीर्तन-सम्राट श्रील श्रीमद् रामदास बाबाजी महाराज के दुर्लभ दर्शन एवं उनकी अहैतुकी कृपालाभ का सौभाग्य प्राप्त हुआ । इसके पश्चात् वे घर पर न रह सके । पन्द्रह वर्ष की आयु में ही अपने प्रिय स्वजन एवं घर-बार का सदा के लिये परित्याग कर सीधे नवद्वीप पहुँचे । वहाँ गुरुदेव के श्रीचरणों में आत्म-समर्पण कर समाज-बाड़ी में उन्हें स्वनाम धन्या श्रीश्रीललिता सखीजी (सखी मां) का स्नेहासिक्त संरक्षण प्राप्त हुआ और वे उनके आदेशानुसार आश्रम के नाना प्रकार के सेवाकार्यों में संलग्न रहने लगे । नाम संकीर्तन में उनकी विशेष रुचि थी । वे संकीर्तन करते-करते भाव-विभोर हो जाते और उद्दाम नृत्य करने लगते ।

समाजबाड़ी में वेषाश्रम ग्रहण कर वे अपने गुरुदेव के आदेशानुसार बीस वर्ष की आयु में ब्रजमंडल चले गये । वहाँ अनेक स्थानों में घूम-फिर लेने के पश्चात् कुसुम-सरोवर पर रहने लगे । इन्हीं दिनों उन्होंने किसी विद्वान महात्मा से संस्कृत एवं भक्ति-ग्रन्थों का अध्ययन किया । बहुत प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चल सका है कि उनके शिक्षा-गुरु कौन थे । वे अपने गुरु-भ्राता रसिक चूड़ामणि श्रील गौरांग दास बाबाजी महाराज एवं श्रील राधाचरण दास बाबा जी महाराज (श्री रजनीदास बाबाजी महाशय) के बड़े कृपापात्र थे । उन्हीं के चरण-प्रान्त में रहकर उन्होंने भजन-साधन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की ।

श्री बाबा कृष्णदासजी महाराज बड़े उदारचेता एवं परोपकार-निष्ठ महात्मा थे । वे यह देखकर बड़े दुःखी थे कि देवनागरी लिपि में गौड़ीय वैष्णव साहित्य का नितान्त अभाव है और ब्रजभाषा में लिखित अनेकों ग्रन्थ एवं बाणियाँ या तो अनुपलब्ध हैं या अप्रकाशित हैं । अतः वे प्राणपण से इस अभाव की पूर्ति में जुट गये ।

उन्होंने बड़ी लगन से अथक परिश्रम कर अनेक गोस्वामी-ग्रन्थों को देव-नागरी लिपि में और अधिकतर हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया । साथ ही ब्रजभाषा के अनेकानेक ग्रन्थों एवं बाणियों का संग्रह और सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित किया । इस प्रकार उन्होंने गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय की अनुपमसेवा की । जीवन की शेष दशा में उन्होंने श्रीश्रीहरिनामामृत व्याकरण को दो टीकाओं के साथ प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया और बड़े परिश्रम से इस महान् ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार कर इसके मुद्रण की व्यवस्था की । इन दिनों वे वृन्दावन में

रमणरेतो स्थित श्रीजयदयालजी डालमिया के बगीचे में निवास कर मुद्रण कार्य का निरीक्षण करते रहे। परन्तु दुर्दैववश अपने इस महान कार्य को पूरा होता न देख सके। घोर परिश्रम और कार्य करने की अपनी धुन में शरीर की आवश्यकताओं की ओर से उदासीनता के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ता चला गया। इस ग्रन्थ के कुछ ही पृष्ठ छप पाये थे कि वे लगभग ६८ वर्ष की आयु में नित्य-लीला में प्रविष्ट हो गये।

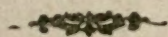
हर्ष की बात है कि श्रीगौरांग चन्द्र के अनुग्रह से आज बाबा श्रीकृष्णदास जी द्वारा संकलित एवं संपादित, 'अमृता' और 'बालतोषणी' नामक दो टीकाओं सहित इस ग्रन्थ के देवनागरी लिपि में प्रकाशन के साथ उनका संकल्प पूरा हो रहा है। इस अद्वितीय व्याकरण ग्रन्थ का उचित सम्मान करना तथा इसके प्रचार एवं अध्ययनादि कार्य में विद्यार्थीवृन्द को प्रोत्साहित करना सभी धर्माचार्यों, संस्कृताध्यापकों एवं विद्यानुरागी सज्जनों का परम कर्तव्य है। इन सभी महानुभावों से सविनय निवेदन है कि इस पवित्र नाममाला सदृश व्याकरण ग्रन्थ के प्रचार में सहायक बनें और इसे भारत सरकार, राजकीय सरकारों, विश्व विद्यालयों आदि संस्थानों से मान्यता दिलवाने में अपना सहयोग प्रदान कर नित्य-लीला प्रविष्ट बाबा श्रीकृष्णदासजी के महान् परिश्रम को सार्थक बनायें।

हम आभारी हैं डालमिया-जैन-ट्रस्ट के जिनके अर्थानुकूल्य से इस विशाल ग्रन्थ का प्रकाशन संभव हो सका है, श्री फूलचन्द जी गुप्त के जिन्होंने ग्रन्थ के मुद्रण का भार अपने ऊपर लेकर प्रकाशन में सहायता की है, और वैष्णव-सम्प्रदायाचार्य श्रीरास बिहारी शास्त्री, एम. ए. व्याकरणाचार्य तथा श्रीहरिदास शास्त्री, न्यायाचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्य-मीमांसा वेदान्त तर्क-तर्क-तर्क-वैष्णव दर्शन-तौर्य के जिन्होंने ग्रन्थ के प्रूफ देखने में अथक परिश्रम किया है। श्री हरिदास जी शास्त्री के हम ग्रन्थ की भूमिका लिखने और शुद्धि-पत्र तैयार करने के लिये भी विशेष रूप से आभारी हैं।

ग्रन्थ के मुद्रण में, विशेष रूप से प्रथम खंड के मुद्रण में जो अशुद्धियाँ रह गयी हैं उनके लिये क्षमा-प्रार्थना करते हुये हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि शुद्धि-पत्र की सहायता से उन्हें सुधार कर ही ग्रन्थ का उपयोग करनेकी कृपा करें।

विनीत

प्रकाशक





भूमिका



संस्कृत वाङ्मय तथा भारतीय दर्शन से किंचित् मात्र भी सम्बन्ध रखनेवाला ऐसा कौन होगा जो श्रीजीव गोस्वामी से भली भांति परिचित न हो ? सभी जानते हैं कि वे उन छः गोस्वामियों में से थे, जिन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के आदेश से ब्रज के लुप्त तीर्थों का उद्धार तथा विशाल और मूलभूत वैष्णव साहित्य का निर्माण कर वैष्णव धर्म की नींव को सुदृढ़ बनाया ।

श्रीजीव, रूप-सनातन के छोटे भाई श्रीबल्लभ (अनुपम) के पुत्र थे । उनका जन्म गौड़ीय-वैष्णवाचार्य स्वर्गीय श्रीबनमाली लाल गोस्वामी के ग्रन्थागार में सुरक्षित प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार संवत् १५८० में और अप्राकट्य संवत् १६६५ में हुआ ।* अल्पावस्था में ही काव्य, व्याकरण, न्याय, दर्शनादि में पारदर्शिता लाभ कर वे वृन्दावन चले गये और श्री रूप-सनातन के आनुगत्य में पूर्ण बैराग्यमय और भजनशील जीवन बिताने लगे । लगभग ६५ वर्ष वृन्दावन में रह कर उन्होंने जो महत्वपूर्ण कार्य किये, उनमें भागवत-सन्दर्भ, सर्व-सम्वादिनी, गोपाल चम्पू, माधव-महोत्सव और हरिनामामृत व्याकरणादि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना प्रधान हैं ।

पंडित समाज में व्याकरण को बालशास्त्र कहते हैं । प्रश्न हो सकता है कि भागवत-सन्दर्भ जैसे दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणेता पंडित-अग्रगण्य श्रीजीव गोस्वामी ने बाल-शास्त्र-विषयक “हरिनामामृत व्याकरण” की रचना क्यों की ? उत्तर यह है कि अन्य व्याकरणों को “बाल-शास्त्र” की संज्ञा भले ही दी जाय, पर हरिनामामृत व्याकरण के उद्देश्य और उसकी रचना-कौशल को देख इसे बाल-शास्त्र नहीं कह सकता । इसका महान उद्देश्य है व्याकरण अध्ययन-अध्यापन के बहाने शिक्षकों और छात्रों को कौशल पूर्वक हरिनामामृत का पान कराना । श्रीमद्भागवत में कहा है कि भगवन्नाम का उच्चारण किसी अन्य अभिप्राय से किया जाय तो भी सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।

* कुछ लोगों का मत है कि उनका जन्म संवत् १५६८ में और अप्राकट्य संवत् १६५३ में हुआ ।

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोत्रं हेलनमेव वा ।
 वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाधहरं विदुः ॥
 पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः ।
 हरिरित्यवशेनाह पुमान्नाहति यातनाम् ॥

(श्रीमद्भा० ६. २. १४-१५)

इसलिये इस व्याकरण में पाणिनि - प्रणीत व्याकरण की संज्ञाओं के भगवान् के नामों पर इस प्रकार रखा गया है कि व्याकरण पढ़ते समय भगवन्नाम की आवृत्ति और भगवद् रूप, गुण, लीला आदि का स्मरण स्वतः ही होता रहे। उदाहरण स्वरूप इसमें 'स्वर' वर्ण को 'सर्वेश्वर' की और 'व्यञ्जन' वर्ण को 'विष्णुजन' की संज्ञा दी गयी है; क्योंकि जिस प्रकार भगवान् विष्णु सर्वेश्वर हैं और अन्यान्य देवी-देवता उनके अधीन रह कर विभिन्न प्रकार से उनका वैभव बढ़ाते हैं, उसी प्रकार 'स्वर' वर्ण वर्णों के ईश्वर हैं और 'व्यञ्जन' वर्ण उनके अधीन रह कर उनके ऐश्वर्य की वृद्धि करते हैं। 'व्यञ्जन' वर्ण न तो 'स्वर' वर्ण की सहायता के बिना उच्चारित होते हैं और न विभिन्न प्रकार के शब्दों की सृष्टि ही कर सकते हैं। इसी प्रकार 'पुलिंग', 'स्त्रीलिंग' और 'नपुंसक लिंग' को क्रमशः 'पुरुषोत्तम', 'लक्ष्मी' और 'ब्रह्म' लिंग की संज्ञा दी गयी है, 'विभक्ति' और 'पद' को क्रमशः 'विष्णु भक्ति' और 'विष्णु पद' की, 'बहुव्रीही' (समास) और 'द्वन्द्व' (समास) को क्रमशः 'पीताम्बर' और 'रामकृष्ण' की, तथा अन्य सभी संज्ञाओं को कोई न कोई ऐसी संज्ञा दी गयी है, जिससे उन संज्ञाओं के स्वरूप के संकेत के साथ भगवन्नाम का उच्चारण हो और भगवान् के रूप, गुण, लीला आदि से मन का संयोग हो।

मनुष्य जीवन का महान्तम उद्देश्य है भगवत्-प्रेम की प्राप्ति। भागवतादि शास्त्रों का अनुशीलन इस उद्देश्य की प्राप्ति में विशेष रूप से सहायक है, और शास्त्रानुशीलन का प्रथम सोपान है व्याकरण। हरिनामामृत व्याकरण के अध्ययन से प्रारम्भ से ही मनुष्य में भगवत्-प्रेम का बीजारोपण और तदनुकूल संस्कारों की सृष्टि होती है। इसी उद्देश्य से इस ग्रंथ की रचना की गयी है। ग्रंथ के मंगलाचरण में अपने इस उद्देश्य को व्यक्त करते हुए श्री जीव गोस्वामी ने कहा है -

“भक्तगण जिस प्रकार तुलसी की माला के सहारे कृष्ण-नाम जप करते हैं, उसी प्रकार वे व्याकरण के सूत्रों के सहारे नाम-जप कर सकें, इस उद्देश्य से मैं श्रीकृष्ण-नामावलि का सूत्रों से ग्रन्थन कर रहा हूँ। इस माला के जप से श्रीकृष्ण-संग-जनित आनन्द की उपलब्धि होगी और व्याकरण शास्त्र में व्युत्पत्ति के साथ-साथ भागवतादि अप्राकृत शास्त्रों के अनुशीलन का अधिकार प्राप्त होगा।

कलापादि व्याकरण को निरर्थक और बागाडम्बर पूर्ण देखकर ही मैं वैष्णवों के लिये इस हरिनामावलि-सम्पुटित व्याकरण की रचना कर रहा हूँ, जिससे व्याकरणरूप मरुप्रदेश में प्रकृत जीवनरूप जल की आशा से व्यर्थ भटकने वाले लोग हरिनामामृतरूप सुधा का स्वच्छंद पान कर तृप्त हो सकें ।”

परन्तु इस व्याकरण का अवलोकन करने पर समझने में देर न लगेगी कि यह केवल वैष्णवों के लिये ही नहीं, अध्ययन परामुख सभी व्यक्तियों के लिये, कितनी उपयोगी है । इसकी प्रक्रिया इतनी सरल है कि व्याकरण जैसे शुष्क और जटिल विषय को अति सरस और सुगम बना देती है । सूत्रार्थ समझने के लिये इसमें विवृति की आवश्यकता नहीं है । स्वल्पकाल में ही यह व्याकरण-शास्त्र में प्रौढ़ पांडित्य और अन्य व्याकरणों के सिद्धान्त, संज्ञा आदि का पूर्ण ज्ञान उपलब्ध करा देती है, क्योंकि इसमें सभी व्याकरणों का मन्थन कर, सबके सिद्धान्तों का सार लेकर, जो पद जिस प्रकार निष्पन्न होना चाहिये उस-प्रकार किया गया है ।

सरल होने के साथ-साथ हरिनामामृत व्याकरण की प्रक्रिया स्वाभाविक भी है । पाणिनि ने अ, इ, उ, ण, आदि चतुर्दश सूत्रों को शिवजी के डमरू से उद्घोषित माना है । पर श्रीजीव गोस्वामी ने वर्णक्रम को स्वयं नारायण से उद्भूत होकर ब्रह्मा-नारद-व्यासादि क्रम से प्राप्त माना है । पाणिनि के अनुसार वर्णों का संगठन सूत्रों की संरचना के अनुसार होने के कारण मातृका क्रम या उच्चारण के स्थानानुसार नहीं है । पर हरिनामामृत व्याकरण के अनुसार वर्ण नारायण से उद्भूत होने के कारण स्वाभाविक उच्चारण के अनुसार संगठित हैं । श्रीमद्भागवत के “तेने ब्रह्महृदा य आदि कवये” (भा. १।१।१) और “प्रचोदिता येन” (भा. २।४।२२) इत्यादि वाक्यों से प्रामाणित है कि नारायण ने ही स्वनाभिकमलज ब्रह्मा के मुख से शब्द-ब्रह्म प्रकट किया है । यह भी श्रीमद्भागवत १२।६।४३ से प्रामाणित है कि नारायण से प्राप्त नादब्रह्म से ही ब्रह्मा ने अन्तःस्थ और उष्मादि अक्षरों को प्रकट किया है । श्रीजीव गोस्वामी ने इस प्रकार वर्णक्रम को नारायण से उद्घोषित मानकर व्याकरण में पाणिनि की आरोहवाद की पद्धति की जगह अवरोहवाद की पद्धति को स्थान दिया है, जो आस्तिकवाद का मूल है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ ‘बाल-तोषणी’ ‘तद्धितोद्दीपनी’ और ‘अमृता’ टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं । बाल-तोषणी टीका श्रीहरेकृष्ण आचार्य द्वारा लिखी गयी है । पर यह समास प्रकरण के २५८ सूत्र तक ही है । अवशिष्ट समास प्रकरण की टीका की पूर्ति श्रीगोपीचरण दास ने ‘बाल-तोषणी’ के नाम से की है । तद्धित-प्रकरण की ‘तद्धितोद्दीपनी’ टीका

भी उन्होंने ही लिखी है। 'अमृता' टीका श्री गोपालदास द्वारा की गयी है। इनके अतिरिक्त एक अप्रकाशित टीका श्री गोविन्ददेव-ग्रन्थागार जयपुर में है। श्री भरत मल्लिक-कृत कारकोल्लास ग्रन्थ भी प्रस्तुत ग्रन्थ के कारक-प्रकरण पर अवलम्बित है।

टीकाकार श्रीहरेकृष्ण आचार्य का कहना है कि हरिनामामृत व्याकरण का आधार "लघु हरिनामामृत" नाम की एक संक्षिप्त व्याकरण है, जिसकी रचना श्री सनातन गोस्वामी ने की थी। पर इस संक्षिप्त व्याकरण को अन्य व्याकरणों की अपेक्षा रहती थी, इसलिये श्रीजीव गोस्वामी ने वृहदायतन "हरिनामामृत व्याकरण" का प्रणयन किया। हरिनामामृत के गौड़ीयमठ से प्रकाशित संस्करण में लघु-हरिनामामृत का मुद्रण परिशिष्ट के रूप में किया गया है।

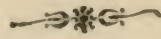
संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार के लिये हरिनामामृत व्याकरण एक बेजोड़ ग्रन्थ है। देवनागरी अक्षरों में इसका यह संस्करण विश्वविद्यालयों को अवसर प्रदान करेगा कि वे पाठ्य-पुस्तक के रूप में इसे अपना कर व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन को सरल और रुचिकर बनायें।

—हरिदास शास्त्री



श्रीश्रीहरिनामामृत-व्याकरणस्य

विषय-सूची



विषयाः	पत्राङ्काः
मङ्गलाचरणम् [ग्रन्थ प्रयोजनं, ग्रन्थ फलं, भङ्ग्या ग्रन्थनाम-निर्देशश्च]	१—७
१ संज्ञा-सन्धि-प्रकरणम्	८—८१
संज्ञा-प्रकरणम्	८—३०
सूत्रस्य षड् विधत्वम्	२८
सन्धि-प्रकरणम्	३१—८१
सर्वेश्वरसन्धिः	३१—५७
विष्णुजनसन्धिः	५८—७३
विष्णुसर्गसन्धिः	७४—८१
२ विष्णुपद-प्रकरणम्	८२—११३
नाम, नाम भेदाश्च	८२—८७
सर्वेश्वरान्ताः पुरुषोत्तमलिङ्गाः	८७—११३
सर्वेश्वरान्ताः लक्ष्मीलिङ्गाः	११४—१२५
सर्वेश्वरान्ताः ब्रह्मलिङ्गाः	१२६—१३५
विष्णुजनान्ताः पुरुषोत्तमलिङ्गाः	१३६—१७०
विष्णुजनान्ताः लक्ष्मीलिङ्गाः	१७१—१७२
विष्णुजनान्ताः ब्रह्मलिङ्गाः	१७३—१७६
विशेषण-लिङ्गाः	१७७—१८१
कृष्णनाम-प्रकरणम्	१८१—२०३
अव्ययशब्दाः	२०२—२०३

३ आख्यात-प्रकरणम्	२०४—
अच्युतादि-संज्ञाः	२०५—
भ्वादि-परपद प्रक्रिया	२१२—
उपेन्द्राः	
अनिटो धातवः	२४८—
भ्वादि आत्मपद प्रक्रिया	२८८—
भ्वादि-मिश्र प्रक्रिया	२८८—
अदादिः	३०७—
ह्लादिः	३३२—
दिवादिः	३३८—
स्वादिः	३४७—
तुदादिः	३५०—
रुधादिः	३५७—
तनादिः	३६०—
कधादिः	३६५—
चुरादिः	३७१—
णि-प्रत्ययान्ताः	३७६—
सन्न्ताः	३८८—
यङन्ताः	४००—
चक्रपाणयः	४०८—
विभुः (नामधातुः)	४२२—
उपेन्द्र विधौ कश्चिद्विशेषः	४४७—



श्रीश्रीहरिनामामृत-व्याकरणस्य (उत्तरार्द्धस्य)

❀ विषय-सूची ❀

विषयाः	पत्राङ्काः
४. कारक-प्रकरणम्	४५७—२२२
वचनप्रयोग विधिः, सम्बन्धः,	
कारकलक्षणञ्च	४५७—४७५
कर्तृकर्मणी	४७६—३४
द्विकर्मक-धातवः	३४—५४
ण्यन्तप्रयोगेकर्तृकर्मविवेकः	५४—८८
अधिकरणम्	८८—८४
अपादानम्	८५—१०४
सम्प्रदानम्	१०५—११२
करणम्	११३—११६
कारकानां परस्पर सन्देहे व्यवस्था	११७
उपपद विष्णु भक्तयः	११८—१५८
अच्युताद्यर्थाः	१५८—१८८
आत्मपद-परपद-प्रक्रिया विशेषौ	१८८—२२२
५. कृदन्त-प्रकरणम्	२२३—४५३
अच्युताभावाधोक्षजाम-प्रत्ययाः	२२४—२३८
विष्णुनिष्ठाः	२४३
क्त्वा-यप्	२६७—२७८
खमुण्-नमू	२८८—२८२
तु मु-ण कौ	३०८
अण्-खल्-यत्-ण्यत्-क्यपः	३१०—३१३
केलिम-णक-तृन-अन-णिनि-अत्-क-श-णाः	३४४

विषयाः

पत्राङ्काः

अत्-ट-खश्-खनट्-खिण्टु-खुकण्-क-क्विप्-	
सक्-णिव-मनिप्-क्वनिप्-वनिप्-वयः	३७६
असि-खश्-णिनि-क्विप्-क्वनिप्-	
अच्-ड्वनिप्-तृन्-इण्टु-स्तु-वनु-घिणुतः	३८६
णक-अन-उकण्-आकट्-आलु-अमर-धुर-कुर-क्वरप्-अक-	
र-उ-कि-नजिङ्-आरु-वर-क्विप्-उच्-त्र-इत्राः	४०८
उणादयः	४०८
निय-प्र-घण्-अल्-ण-द्य-क्विप्-अथु-न क्ति-	
डाप्-इक्-श्-तिप्-इण्-अन-टनाः	४४८
कुदन्ते पत्वानि	४५१

६. समास-प्रकरणम्

समासप्रकारास्तत् संज्ञाश्च	४५४—६७१
श्यामरामः	४५५—४५६
दिक्कृष्णपुरुषः	४५८—४८०
त्रिरामी-कृष्णपुरुषः	४८१
नञ्कृष्णपुरुषः	
द्वितीयादि-कृष्णपुरुषाः	५०५
अन्यपदार्थप्रधानः कृष्णपुरुषः	५०५—५१०
पीताम्बरः	५१०—५२१
रामकृष्णनिर्णयस्तदादिलिङ्गनिर्णयश्च	५२१—५४१
अव्ययीभावः	५४१—५४६
समाससाङ्ख्ये व्यवस्था, केवलसमासाश्च	५४७—५६०
पूर्वपरनिपाताः	
एकशेषः	५६०—५६५
अलुक् त्रिविक्रम विधिश्च	५६६—५७४
वामन विधानं पुंवद्भावश्च	५७४—५८८
सहस्य सः, समानस्य सः, समासाश्रयविधिश्च	
समासेषत्व णत्व-विधानम्	६००—६२८

विषयाः

पत्राङ्काः

विष्णुसर्गस्य प-स-विधानम्

६२८—६३०

उत्तर पदादेशः

६३०—६५०

अपरस्पर-पृषोदरादि-साधुशब्दाः

६५०—६५१

द्विरुक्ति-प्रकरणम्

६५१—६७१

७. तद्धित-प्रकरणम्

६७२—११२५

तद्धित-कार्याणि

६७३

समासान्ताः (अरामादिः)

केशवारामः

७४७

अरामः

७४७—७५६

कप् प्रत्ययो लक्ष्मीप्रकरणञ्च

७५६—८०५

प्रत्ययपरिभाषा

८०५—८०६

अपत्य-गोत्रापत्यादि-तद्धिताः

८१२—८४६

रक्त-देवता-समूह तद्धिताः

तदधीते वेद, दृष्टं साम, परिवृतः

युक्तः काल इत्यादि-तद्धिताः

८४६—८८१

स्मरहर-चातुरथिका स्तद्धिताः

८८२—८७०

शेषार्थ-तद्धिताः

८७६

तत्र जातः, स्थितः, कालादित्यादि

८८६

तत्र भवस्तस्य व्याख्यानञ्च, तत आगतः,

भक्तिः तेन प्रोक्तम्, तस्येदमित्यादि

८२८

विकारार्थास्तद्धिताः

८३२

तेन दीव्यति संस्कृतमित्यादि

८४०

तस्यभावे त्वतापी, निमनिर्यश्च

१००६—१०१२

स्वार्थिका भवन क्षेत्रार्थास्तद्धिताः साधुशब्दाश्च

१०४४

पूरणार्था भजादयस्तद्धिताः

क-इनि-मतु-ल-प्रभृति-प्रत्ययाः,

१०४५

आमयावि-प्रभृति-साधुशब्दाश्च

१०५६

आ-आहि-घा-दाश-चर-रूप्य-

विषयाः

पत्राङ्काः

तराम्-तमाम्-क-प्रभृति-प्रत्ययाः

१०५४

तरट्, इवार्थे क-प्रभृतयः, कृत्वसुः-मयडादयः

१०५८

स्वार्थ-प्रत्ययाः, तस्-शस्-आचश्च

११०५—१११३

कृङ्योगे आच्, अभूततद्भावे विः, साति प्रयोगश्च

१११३—११२०

ग्रन्थोपसंहारः

११२१—११२५



श्रीश्रीहरिनामामृत व्याकरण (प्रथम-खण्ड)

❀ शुद्धिपत्रम् ❀

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१	१३	शब्दा	शब्दा
२	२	कर्षणं	कर्षणं
३	१८	गण	गुण
४	७	नुदिश्य	नुद्दिश्य
४	२८	बहूनि	बहूनि
८	२८	पाराणाम्	पाराणाम्
८	३१	भुयार्णं	भूतार्णं
८	३१	भुतार्णं	भूतार्णं
८	४	ब्रह्म	ब्रह्म
८	१८	उभयाश्वा	उभयश्वा
११	२२	“अत्र क-प-संयोगेक्ष—दर्शितः”	इत्यंशः सम्पातायातः
१२	”	स्वरश्च	स्वरश्च
”	”	शब्द	शब्द
”	”	वृहद्	वृहद्
”	२६	संज्ञामाह	संज्ञामाह
१३	१८	बोध्यम्	बोध्यम्
”	२३	बलरामो	बलरामो
१४	१५	बहु	बहु
”	१६	बल	बल
”	२३	बले	बले
१५	१०	बले	बले
”	११	वृहद्	वृहद्
”	१७	ग्रन्थ कृत्तिः	ग्रन्थ कृद्भिः
१६	८	अनश्च	अणश्च
”	८	इनश्च	इणश्च
”	२८	वृहद्	वृहद्
”	२०	बलदेवादिः	बलदेवादिः
”	२२	बलदेवः	बलदेवः
१७	८	बलात्	बलात्

पृ०	प०	अंशुद्धः	शुद्धः
"	२०	वन्धा	वन्धा
"	२५	वक्ष्यामाण	वक्ष्यमाण
१८	२२	प्यव्यम्नेति	लवेप्यव्ययम्वेति
१८	१३	ब्रह्म	ब्रह्म
२०	१६	बल-बलराम-बल	बल
२१	४	छफश्च	छवश्च
"	१७	छिनत्तीति	छिनत्तीति
२२	१२	हरिवेणः	हरिवेणुः
"	१८	यवरलाः	यवरलाः
२५	१३	समीप	समीप
"	१८	सामान्यतो	सामान्यतो
"	२०	कथम्भूतस्थ	कथम्भूतस्थ
२६	२२	विटपुपदीदो	विष्णुपदादो
२७	१५	ग्रन्थकृत्तिः	ग्रन्थकृद्भिः
"	२३	अदेशो	आदेशो
३६	१७	सूत्रे	सूत्रे
५१	६	तमालोनु	तमालोनूइ
५३	७	ईशस्यानेकात्मके	ईशस्यान्यैकात्मके
६०	२४	बलरामस्येत्यर्थः	बलरामस्येत्यर्थः
६१	३३	उत्पुदाहरणम्	इत्पुदाहरणम्
६३	१६	प्रपूर्वात्	प्रपूर्वात्
६४	१८	युज्यते	युज्यते
६५	६	मशापो	मरामो
"	२४	विष्णुजनत्वा	विष्णुजनत्व
६६	१५	नाभिप्रेतः	नाभिप्रेतः
६७	८	आङ्ग्यां नित्यम्	आङ्माङ्ग्यां नित्यम्
"	१२	दविपदान्ताच्च	दविपदान्ताच्च
६८	२	वामनात् ङणवाः सर्वेश्वरे	वामनात् ङणनाद्विः सर्वेश्व
"	३३	रमामाविति	ररामाविति
६८	१८	ब्रह्मेति बृहि	ब्रह्मेति बृहि
७०	२	ब्रह्मा ब्रह्मा	ब्रह्मा ब्रह्मा
७२	२	पटत् पटेति	पटत् पटदिति पटत्पटेति
"	३८	विष्णेचक्र विष्णेचाणे	विष्णुचक्र पूर्वो विष्णुचापः
७५	२८	इत्यनेन	इत्यनेन
७६	२७	विष्णुसर्गः	विष्णुसर्गः

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
७७	१५	स्पष्टीकृतम्	स्पष्टीकृतम्
"	"	इत्यसन्धिः	इत्यसन्धिः
८१	२७	समापयति	समापयति
८३	१८	समानत्वं	समानत्वं
"	२८	उक्तपिति	उक्तमिति
"	३४	इत्यनेन	इत्यनेन
"	५	तेषां	तेषां
"	६	विष्णु	विष्णु
"	३३	वर्जयित्वेति	वर्जयित्वेति
"	३५	धातुविष्णुशक्ति	धातुविष्णुशक्ति
"	"	संख्यातः	संख्यातः
८४	१३	असम्मत	असम्मत
"	२४	व्यवहारात्	व्यवहारात्
८५	४	शब्दस्पर्शादिको	शब्दस्पर्शादिको
"	१०	नाम्नः	नाम्नः
"	१३	विष्णु प्रत्येकं	विष्णुभक्तयः
"	३०	लक्षणमिदं	लक्षणमिदं
८६	२	जशट	जशट
"	३	अनुबन्धश्च	अनुबन्धश्च
"	८	इत्	इत्
"	३४	स्वादिनामात्	स्वादिनामात्
८७	२	जटणयाः	जटणयाः
८८	१३	ऊठादीनां	ऊठादीनां
"	१७	इती भवन्ति	इद् भवन्ति
"	२८	अन्त्यो	अन्त्यो
"	३०	मुराम्यदिश्च	मुरामादिश्च
९०	१५	पूर्वनिमित्तं	पूर्वनिमित्तं
९१	२१	शस्त्वाभावात्	शस्त्वाभावात्
"	३१	सूत्र्यते	सूत्र्यते
९२	५	कृत-	कृत-
१००	११	ररामपरः	ररामहसः
१०१	८	नेस्त्रयो	त्रेस्त्रयो
"	२३	परम	परम
१०२	२६	बहुवचनश्चेत्यर्थः	बहुवचनश्चेत्यर्थः
१०३	१८	भेदे	भेदे

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१०६	२	बहुलम्	बहुलम्
"	१०	सर्वश्वरे	सर्वश्वरे
"	२६	विशेषणम्	विशेषणम्
१०७	२७	अपूर्व विधानम्	अपूर्व विधानम्
१०८	१६	सर्वश्वरत्वाभाव इति मम,	सर्वश्वरत्वाभाव इति भावः
"	२२	पुनर्भूः	पुनर्भूः
१०९	७	सखिभ्यामित्यादि	सखिभ्यामित्यादि
१११	२९	रसम्भवात्	रसम्भवात्
११३	६	पुलिङ्गाः	पुरुषोत्तम लिङ्गाः
"	१०	"	"
"	१८	"	"
११४	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	७	राधाया एः	राधाया ए
"	१२	याधयति	राधयति
"	२४	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
११५	१	"	"
"	३	सम्बोधने	सम्बोधने
"	४	बहिरङ्गं	बहिरङ्गं
"	६	बलवानिति	बलवानिति
११६	४	निर्जर	निर्जर
११७	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
११८	३	भक्तये	भक्तये
११९	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	१६	कोमुद्यां	कोमुद्यां
१२१	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	२४	उगदिनो	उणादिनो
१२३	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	१०	ग्रन्थकृन्मतं	ग्रन्थकृन्मतं
"	२१	तदेवोपन्यस्यति	तदेवोपन्यस्यति
"	"	गतिकारकेतर	गतिकारकेतर
१२४	३	बह्वेवं	बह्वेवं
१२५	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	१३	"	"
"	२४	"	"
"	२७	तिलक्ष्मीरिति	अतिलक्ष्मीरिति

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१२५	६	अनितुवामिति	अनियुवामिति
"	३३	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
१२६	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	२१	"	"
१२७	१	सर्वेश्वराणां नपुंसकलिङ्गाः	सर्वेश्वरान्ता ब्रह्मलिङ्गाः
१२८	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	३	ब्रह्म	ब्रह्म
"	१८	तस्येदं	तस्येदं
१३०	१५	पङ्गा	पङ्गा
१३१	१	नपुंसकलिङ्गा	ब्रह्मलिङ्गाः
"	२२	यतोऽतिगोपिना	यतोऽतिगोपिना
"	२८	भववती	भगवती
१३२	२	मौशान्तं ब्रह्म	मौशान्तं ब्रह्म
"	१६	पुरुषोत्तमवच्य	पुरुषोत्तमवद्रूपं
१३३	१	सर्वेश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः	सर्वेश्वरान्ता ब्रह्मलिङ्गाः
"	२	विष्णुभक्ति	विष्णुभक्ति
"	२१	प्रत्यान्तवद्	प्रत्ययान्तवद्
"	२६	विष्णु	विष्णु
१३५	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	७	पदानां	शब्दानां
"	५	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	१५	"	"
"	२०	"	"
"	१६	हेतुस्तु उच्चाधपरः	नास्त्येवपाठः
१३७	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	७	भवगाञ्च शूरः	भगवाञ्च शूरः
"	११	त्यादौ	इत्यादौ
१३८	५	रुदग	रुदच
"	२२	ररामस्य	ररामस्य
१४०	२	गो विष्णुपदान्ते	गो विष्णुपदान्ते
१४१	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	८	राधा	राधा
१४३		नामान्तस्येति	नामान्तस्येति
"	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
१४४	३	महातन्म	महान्तम्

पृ०	प०	अशुद्धः
१४५	१	पुंलिङ्गाः
"	२१	प्रभृतीनां
१४६	५	निक्शु
"	८	सध्वोश्च
१४७	१	पुंलिङ्गाः
"	३	पुण्ड्रप्
"	३३	पर्वतम्
१४८	२०	मयतेदिति
"	३०	वेतमाह
१४९	१	पुंलिङ्गाः
"	२०	रननिति
१५०	१४	भावो
"	२३	रिदतोः परस्यः
"	२५	ताराम निर्देशः
१५१	१	पुंलिङ्गाः
"	१५	निमित्तत्व
"	१९	वत्तिन
"	"	त्रिविक्रम
१५२	१५	परे
१५३	१	पुंलिङ्गाः
"	१२	रषणान्त
१५४	१३	तस्मादद्धात्ते
"	१६	रषणान्तेति
"	२५	यिष्णुभक्तिस्विति
१५५	१	पुंलिङ्गाः
"	१०	रषणान्तेति
"	१७	प्रियाष्ट्व
१५६	४	भवयोश्च
"	५	फल
"	३०	अविष्णु
१५७	१	पुंलिङ्गाः
"	४	रषणान्तेति
१५८	६	दधृषी
"	१२	रषणान्तेति
"	३०	हरे कृष्ण-प्राशिति

शुद्धः
पुरुषोत्तमलिङ्गाः
प्रभृतीनां
निक्शु
सध्वोश्च
पुरुषोत्तमलिङ्गाः
पुण्ड्रप्
पूर्वमत्
मापतेदिति
हेतुमाह
पुरुषोत्तमलिङ्गाः
निति
भावो
रिदतो परस्य
साराम निर्देशः
पुरुषोत्तमलिङ्गाः
निमित्तत्व
वत्तिन
त्रिविक्रम
परे
पुरुषोत्तमलिङ्गाः
रषणान्त
तस्मादुद्धवस्य
रषणान्तेति
विष्णुभक्तिष्विति
पुरुषोत्तमलिङ्गाः
रषणान्तेति
प्रियाष्टः
भवयोश्च
फल
अविष्णु
पुरुषोत्तमलिङ्गाः
रषणान्तेति
दधृषी दधृषः
रषणान्तेति
हरे ॥ कृष्णप्राशिति ।

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१५८	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	३	मयदद्येवेति	'मयद्येव' इति
"	६	षण्णदति	षण्णवति
"	१८	हतिवेणुविधिः	हरिवेणुविधिः
"	२१	हरियेणुविधिः	हरिवेणुविधिः
"	३०	भृतस्य	युक्तस्य
"	३१	नयति	नवति
१६०	७	सपि	सपि
"	११	मतीनां	मतीनां
"	३४	प्रियदषामिति	प्रियषषामिति
१६१	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
१६२	१३	शेषस्व	शेषस्य
१६३	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	१०	दादेस्व	दादेस्तु
१६४	८	कंसहिंसौ	कंसहिंसौ
"	१५	जान्त	सान्त
"	१६	ल्यादिति	स्यादिति
"	२०	राम	अराम
१६५	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	२५	दृह	इह
"	३१	धवस्त	धवस्त
१६७	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
"	३	औणादिकस्यास्य — तत्त्व	औणादिकस्यास्य... पत्व-
"	५	विष्णुसर्गत्वञ्च	विष्णुसर्गत्वञ्च
"	८	विष्णुपदान्त	विष्णुपदान्त
१६८	१०	कंसद्विदसु	कंसद्विट्सु
"	११	राधाविष्णुजताभ्यामिति	राधाविष्णुजनाभ्यामिति
"	२२	वासुदेवः	वासुदेवः
१६८	१	पुंलिङ्गाः	पुरुषोत्तमलिङ्गाः
१७०	११	"	"
"	२०	"	"
"	२८	"	"
१७१	१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	१५	प्रियघतसौ	प्रियचतसौ
"	२३	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१७१	२५	प्रियचतस्रेति	प्रियचतस्रेति
१७२	२१	स्त्रीलिङ्गाः	लक्ष्मीलिङ्गाः
"	२४	"	"
१७३	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	२४	"	"
"	२८	सुम्	नुम्
"	५	कंसहिंसो	कंसहिंसो
१७५	१	नपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	१७	सुपन्थासीति	सुपन्थानीति
"	२८	दीर्घाहेदि	दीर्घाहेति
१७६	७	अपुंसकलिङ्गाः	ब्रह्मलिङ्गाः
"	१८	इतिन पुंसकालिङ्गाः	इति ब्रह्मलिङ्गाः
१७७	२	संज्ञाविशेषादौ	संज्ञाविशेषादौ
"	२०	प्रायश	प्रायशः
"	१७	विष्णुभक्ति	विष्णुभक्ति
१७८	२	विशेषणम्	विशेषणम्
"	७	मुदाहृतमिति	मुदाहृतमिति
१७९	६	स्वलिंग	स्वलिङ्ग
"	१०	द्वैविध्यात्	द्वैविध्यात्
१८०	३	बहूनां	बहूनां
"	१७	द्विवेनादिकं	द्विवेनादिकं
"	२०	पदैने	यडैते
"	३३	व्ययस्था	व्यवस्था
१८१	१२	पठितानामधिक	पठितानामधिक
१८३	५	सप्तकं	सप्तकं
"	१४	विधेरभ्युपगमात्	विधेरभ्युपगमात्
"	१५	दर्शयति	दर्शयति
"	२१	कालस्यपदायावेत्यर्थः	कालस्यपदायावेत्यर्थः
१८४	२०	स्फुर्यति	स्फुर्यति
१८५	२५	हेत्वार्त्	हेत्वार्त्
१८७	२८	जातीयाऽरयववतीयस्या	जातीयावयवतीयस्यार्थे
१८८	१८	अनुपश्चात्	अनु पश्चात्
१८९	५	इदमक्	इदकम्
"	११	संसारस्यारामः	संसारस्यारामः
१९०	५	अम्	अमुं

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१६१	५	नद्वेर्मः	नद्वेर्मः
"	२६	भावात्	भावात्
१६२	१२	पुमरौ	पुनरौ
"	२७	आवात्	आत्राम
"	३१	एवमतिरयमित्यादि	एवमतिरयमित्यादि
१६३	६	युष्मभ्यं	युष्मभ्यं
"	१०	अस्माकं मित्येषां	अस्माकमित्येषां
१६४	१७	स्फटम्	स्फुटम्
"	२०	नित्य	नित्य
१६	२३	पदादौ	पादादौ
१६७	५	कथं "मुचितं	कथमुचितं
१६८	२	तौ द्वौ	तौ द्वौ
"	१३	पर सप्तम्येय	परसप्तम्येव
१६९	१६	प्रषिसिद्धे	प्रतिसिद्धे
"	३२	वभति	भवति
२००	१६	उत्तर पूर्वा	उत्तर पूर्वा
"	२८	पूर्वादिय	पूर्वादिय
२०१	२	अथनपुंसके	अथब्रह्मणि
२०२	४	स्व	स्वः
"	१०	सदृशां त्रिषु	सदृशं त्रिषु
२०३	२	प्रायदश्च	प्रादयश्च
"	४	एवमित्यर्थवत्वात्	एवाम्' इत्यर्थत्वात्
"	७	— — — —	इति कृष्णनाम प्रकरणम् ॥
"	१२	प्रादिभ्यश्च	प्रादिभ्यश्च
२०४	११	अकाशात्	सकाशात्
"	२२	निखिलान्मायवेद्यस्य	निखिलान्माय वेद्यस्य
"	३१	भू सन्नतो, भूसन्नतो	भूसनन्तो, भूसनन्तो
२०५	६	व्याप्याधिकार	व्याप्याधिकार
"	१०	अधिकार भेदः	अधिकार भेदः
"	२१	पीताम्नो	पीताम्बरो
"	२५	विधि	विध
"	२७	द्विविधस्य	द्विविधस्य
२०७	१५	मद् भिन्नो	तद् भिन्नो
"	२०	नपपत्तेः	नुपपत्तेः
२०८	३	यास्म	यास्म

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२०८	६	बाल	बाल
"	६	श्वस्ती	श्वस्तनौ
२०९	१०	भगवदतार	भगवदवतार
२१०	८	ईत्	ईत
"	१८	प्रयम	प्रथम
"	१९	भयवन्नामत्वम्	भगवन्नामत्वम्
"	२१	भगन्नामता	भगवन्नामता
२१२	१८	भ्वादे श्वरादेश्चशप्	भ्वादेश्चशप्
२१३	१३	ऽपीत	ऽपीति
२१८	३२	हिनि	हिनु
२१९	२०	उपसगति	उपसर्गेति
२२१	६	महाहरेहि	महाहरेपि
२२२	२३	नेट्य	नेट्य
२२३	४	अभाविषताम, अभविषताम्	अभाविषताम्, अभविषताम्
"	२७	वृष्णीन्द्रादिकमेप	वृष्णीन्द्रादिकमेव
"	३२	अरामान्य	अरामान्य
२२४	२४	ाल०	बाल०—
"	३०	ननेति	विनेति
२२६	७	ववूवयुः	वभूवयुः
"	३४	अधोक्षज सर्वेश्वर परत्वाभावादिति	अधोक्षज सर्वेश्वर परत्वाभावादि
२२७	३	निर्गुणः	निर्गुणः
"	२५	अभविष्यतेत्यादि	अभविष्यतेत्यादि
२२९	७	वेतिभ्यो	वेतिभ्यो
२३०	३२	नस्कुटति	नस्फुटति
२३१	३	विद्यादौ	विध्यादौ
"	३	स्फाटतु	स्फोटतु
"	४	अस्फाटतु	अस्फोटत्
२३२	३	अभ्यो	अभ्यो
"	२	स्फटिषीष्ट	स्फोटिषीष्ट
"	२५	कपिशत्वान्नरामहरः	कपिलत्वान्नरामहरः
२३३	१२	सतूपताराद्	सतूपतापाद्
२३५	५	हरिकयलम्	हरिकमलम्
"	८	वस्यापि	वस्यापि
२३८	८	मध्यस्या	मध्यस्या
२३९	२	तफल	तृफल

पृ०	प०	अशुद्धः
२३६	६	तस्माद
"	३१	नेत्यादी
२४३	४	यादयश्चायादयश्च
"	१०	उबोवेत्यत्र
२४७	१०	घन् पपो
२४८	६	युजिभृजि
"	१०	स्वजिरुद्धवो
२५०	४	यम
२५२	१४	इत्युक्ता
२५३	७	र, वः
"	११	पुररिह
"	२१	द्विवचन
"	३३	मन्यत्र
२५५	१०	क्षेयम्
"	२६	इत्येताभ्याञ्चोत्तरे
२५६	३	परपदे
"	१७	प्राप्ते
२५७	४	आय ईयङ्
"	११	सामर्थ्यादेवात्र
२५८	३	गोपाय्यादित्यादौ
"	१४	कर्मणि
२५९	५	ष्ठिवाचमुक्लमा
"	१६	वैष्णवत्वा
"	१७	भावेन
"	२१	ग्रहणम्
२६०	२	चम्यामि
"	२८	साहचर्यात्
"	३२	क्रमस्त्रिक्रिमो
२६२	१५	रित्यात्मपदं
"	१८	हमयान्ते
२६३	२	र वः
२६५	४	वर्द्धति
"	२६	मानियमि"
२६६	६	सकोऽन्तरहरः
"	७	ननु बहुवचम्

शुद्धः
तस्माद
नेत्यादी
यादयश्चायादयश्च
उबोवेत्यत्र
घन् पपो
युजिभृजि
स्वजिरुद्धवन्
जमि-यमयो
इत्युक्तत्वादादिरेवगृहीतः
र-व-प्राक्
पुनरिह
द्विवचन
मन्यत्र
क्षेयम्
इत्येताभ्याञ्चोत्तरे
परपदे
प्राप्ते
आय ईयङ्
सामर्थ्यादेवात्र
गोपाय्यादित्यादौ
कर्मणि
ष्ठिवाचमु लकमां
वैष्णवत्वा
भावेन
ग्रहणम्
चम्यामि
साहचर्यात्
क्रमस्त्रिविक्रमो
रित्यात्मपदं
हमयान्ते
र-व-
वर्द्धति
मानियमि
सकोऽन्तरहरः
ननु बहुवचं

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२६८	१	श्रीश्रीहरिनाममृत-	श्रीश्रीहरिनामामृत-
"	८	परत्थाम् गत्वं	परत्वान्तत्वं
२६८	६	व्यावाये	व्यवाये
"	२२	कुत्वाङिति	कुपयाङिति
"	३१	सर्वेश्वर	सर्वेश्वर
२७१	२	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	३४	सहस्र सर्वेश्वरान्त	सहज सर्वेश्वरान्त
२७२	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
"	८	कर्त्तारि	कर्त्तरि
"	२२	कान्तिक्षलः	कान्तिक्षयः
२७३	३	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	५	आरामादान	आरामादन
"	१३	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	"	"	"
"	३१	नरये	नरस्य
२७४	१०	सामथ्यदिव	सामथ्यदिव
२७५	८	षनिमित्तस्य	षनिमित्तस्य
"	७	वर्गज	वर्गज
"	२५	सिद्धयर्थमिति	सिद्धयर्थमिति
२७६	८	दृद्यदन्तयो	दृद्यदन्तयो
"	"	यथो	ययो
"	१०	अस्माप्रीत्	अस्माप्रीत्
"	१३	स्यानित्वात्	स्थानिवत्त्वात्
"	१३	सात्व	सात्त्वतः
"	१७	सत्सङ्गादृद्यदन्त	सत्सङ्गादृद्यदन्त
"	१८	कापालस्य	कामपालस्य
"	१८	वृष्णीन्द्रा	वृष्णीन्द्रा
"	१८	निषिद्धो	निषिद्धो
२७७	८	नियतानि	नियमानि
"	१०	हरिभ्यामिट्	हनिभ्यामिट्
"	१२	द्युदन्ताच्च	दृद्यदन्ताच्च
"	१७	दृद्यदन्त	दृद्यदन्त
"	२१	विधातल	विहित कपिल
"	"	दृद्यदन्त	दृद्यदन्त
"	२२	यग्रहणेनात्म	यग्रहणेनात्म

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२६७	२७	मिथि	मिति
"	२८	दित्यादनविति	दित्यादाविति
"	३०	लणणे	लक्षणे
"	३१	सत्तपि	सत्यपि
२७८	८	ऋद्वयान्त	ऋद्वयान्त
"	"	दृश्योगोविन्दो	दृश्योगोविन्दो
"	८	ऋरमान्तानां	ऋरमान्तानां
"	१२	प्रत्यये	प्रत्यये
"	१३	त्रिविक्रमः	त्रिविक्रमः
"	१४	प्रतिषेधति	प्रतिषेधति
"	१६	शस्त्य	शास्त्य
"	२६	भवमि	भवति
"	२८	त्रिविक्रः	त्रिविक्रमः
"	"	धातुके	धातुके
२७९	७	दृचदन्तदो	दृचदन्तयो
"	८	तदुत्	तदेतत्
"	१५	प्राप्तोयो-नियेधः	प्राप्तोयो-नियेधः
"	२०	नामधातो	नामधातो
"	२४	आत्मपदं	आत्मपदं
"	३२	उपेन्द्र	उपेन्द्र
"	३५	निषेध	निषेध
२८०	४	उश्वनो	उश्वो
"	६	निर्गुणे	निर्गुण-
"	८	शृणुयात्, शृणुयात्,	शृणुयात्
"	"	शृणोतु	शृणोतु
"	८	श्रवणे	श्रवणे
"	"	स्थाने	स्थाने
"	१२	ह्रस्वान्त	ह्रस्वान्त
"	"	कथ	कथ
"	१४	रुधादेः	रुधादेः
"	१५	शृणुते	शृणुते
"	२०	उरामस्य	उरामस्य
"	"	हरो	हरो
"	२४	क्रमदीश्वरादयस्तु	क्रमदीश्वरादयस्तु
२८१	३	शृण्वानि	शृण्वानि

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२८१	४	क्रयादि नियमे	क्रादि नियमे
"	३	शृणोत्	अशृणोत्
"	३	शृश्रुवतु	शृश्रुवतुः
"	७	धूत्रभ्य	धूत्रभ्य
"	८		सुगती
"	१४	असंयोगपूर्वादिति	असंयोगपूर्वादिति
"	२१	द्र	द्रु
"	२२	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	"	"	"
"	२३	कर्त्तरीति	कर्त्तरीति
"	२५	रेरपवातः	रेरपवादः
"	२६	छुत्र	छुत्र
२८२	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
"	१०	अनिरामेतिमिति	अनिरामेतां
"	१२	तृ प्लवन तरणयोः	तृ प्लवन तरणयोः
"	१३	क्याद्यन्तर्गणोवा	क्याद्यन्तर्गतोवा
"	१८	उद्धारवमस्यादर्शनं	उद्धवारामस्यादर्शनं
"	२४	भूतेशपरपदेपरे	भूतेश परपदे
"	३०	सहजा	सहजा
२८३	१०	तीर्षीद्वम्	तीर्षीद्वं
"	८	सत्सङ्गावयदन्तस्येति	सत्सङ्गावयदन्तस्येति
"	१३	काम	इति अधिकं
"	२०	दृचदा	दृचद
"	२३	यलाय	कलाय
"	३३	जसङ्गति	असङ्गति
२८४	१	नाममृत	नामामृत
"	६	अभाङ्क्षीत् अभाङ्क्ताम्	असाङ्क्षीत् असाङ्क्ताम्
"	७	धातोरन्तः	धातोरन्तः
"	८	अदर्शत्	अदर्शत्
"	१०	सृसि	सृजि
"	११	मइस्	मइस्
"	१	नाममृत	नामामृत
"	१३	आदर्शयिषाताम्	आदर्शिषातां
२८५	२	दृक्षीष्ट दशिषीष्ट	दृक्षीष्ट दर्शिषीष्ट
"	८	समीमाद्	समीपाद्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२८५	११	धातवः	धातवः
"	१३	विकित् सति	विकित् सति
"	२३	कपिलत्वलघ	कपिलत्वलघ
२८६	१६	देति	वेति
"	२३	ऽनन्तकत्वेऽपि	ऽनन्तकत्वेऽपि
"	२४	दिभा	दिका
"	२५	त्यादतः	त्यादितः
"	२७	कपिलो	कपिलो
"	२८	पस्पदादि	परपदादि
"	३०	परपदित्वमेव	परपदित्वमेव
"	३२	पाठस्तु	पाठस्तु
"	३४	सौवा	सौत्रा
२८७	२	एजाञ्चकर	एजाञ्चकार
"	४	द्विवचने	द्विवचने
"	६	रित्यत्र	रित्यत्र
"	६	भावात्	भावात्
"	८	दिश्यत	दिश्यत
"	११	तथा	तथा
"	१३	रिस्यरामहरः	र रामहरः
"	१८	द्विवचन	द्विवचन
"	१८	स्तारामः	स्तारामः
"	२१	भात्	भावात्
"	२५	मादिका	मादिका
२८८	४	तेजते	तेजते
"	४	विनामो	विनामे मात्र विनामो
"	१८	मूर्द्धन्यस्तात्	मूर्द्धन्यस्तात्
"	२०	डित्वेऽपि	डित्वेऽपि
"	२०	स्यादेव	स्यादेव
"	२६	डाप् डापा	डाप् डापा
"	२८	व्यवपारे	व्यवहारे
२८९	३	इड्वदिच्चि	इण्वदिच्चि
"	१५	इण्	इण्
२९०	८	परीणा	परीणां
"	१५	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२१	प्रत्यये	प्रत्यये

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
२८१	४	रामदिती	रामादिती
"	८	इणस्त	इणस्तो
२८२	११	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	१६	रिव	रेव
"	१८	वकल्प	विकल्प
२८३	३२	मादित्वात्	मादित्वात्
२८४	६	दीप्ती	दीप्ती
२८५	१७	निषधः	निषेधः
"	२०	द्यते	द्युते
२८६	४	सरामोदि	सरामादि
"	१४	यति	यति
"	१६	भान्नेह	भावान्नेह
"	१७	सङ्कर्षणः	सङ्कर्षणः
२८७	४	इत्यात्मपद प्रक्रिया	इतिम्वादि-आत्मपद प्रक्रिया
"	७	"	"
"	१२	"	"
२८८	१	अथ मिश्रप्रक्रिया	अथ म्वादि-मिश्रप्रक्रिया
"	८	फफणतुः	पफणतुः
"	२०	अथ - मिश्र	अथ म्वादि-
"	२७	शातनम्	शातनम्
२८९	२	भ्रजृ	भ्राजृ
"	१२	त्रयाणां	त्रयाणां
"	१७	नित्यमिदित्वात्	नित्यमिदित्वात्
"	२१	लघूद्धवस्ल	लघूद्धवस्य
"	२७	दु भ्राज	दु भ्राजृ
३००	१४	प्रयूरणे	प्रपूरणे
"	१६	जकी	सकी
"	१७	तस्पधः	तस्यधः
"	२२	द्विवचन	द्विवचन
३०१	२	वयो	वपो
"	१७	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	३०	अधोक्षजे	अधोक्षजे
"	३३	विष्णुजनान्तानाम	विष्णुजनान्तानाम
३०२	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
"	८	निषेधात्ययार्थम्	निषेधात्ययार्थम्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३०२	२६	नपस्य	नरस्य
"	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
३०३	३	नित्यत्व-	इति पाठः सम्पातायातः
३०४	१३	वृत्तं	वृत्ते
"	१५	सामर्थ्यात्	सामर्थ्यात्
"	१८	पूर्वोक्तादीश्वरादि	पूर्वोक्तादीश्वरादि
"	३५	स्पर्द्धायाम्	स्पर्द्धायाम्
३०५	११	वास्ताद्	वा स्याद्
"	२२	नार्हतीति	नार्हतीति
३०६	१	नाममृत	नामामृत
"	५	इति मिश्र-प्रक्रिया	इति भ्वादि मिश्र-प्रक्रिया
"	१४	भुवादिगणः	भुवादिगणः
"	१८	इति मिश्र प्रक्रिया	इति भ्वादि मिश्र-प्रक्रिया
३१०	४	हन् हे जंहि	हन्ते जंहि
"	१३	हन् हे रिति	हन्ते रिति
"	१६	घातोः	घातोः
"	२०	स्वरत्वाभावात्	स्वरत्वाभावात्
"	२५	प्रघ्नन्ति अन्तर्घ्नन्ति	प्रघ्नन्ति अन्तर्घ्नन्ति
"	२७	स्थाने	हन्तेः स्थाने
"	२८	एकाच्	एकाच्
३११	४	अत्र हनेणिङादेशा	अत्र हनेणिङादेशा
"	५	कपिलत्वम्	कपिलत्वम्
"	७	कपिलत्वस्यानिष्ठत्वादिति	कपिलत्वस्यानिष्ठत्वादिति
"	११	बधादेशं	बधादेशं
"	१२	भवन्तीति	भवन्तीति
"	२३	विशेषस्य	विशेषस्य
"	२५	अगायिषातामित्यादिषु	अगायिषातामित्यादिषु
३१२	१	२१२	३१२
"	११	नरादुत्तरस्य	नरादुत्तरस्य
"	१२	सिद्धतत्त्वे	सिद्धतत्त्वे
"	१३	जघनथि	जघनथि
३१३	४	वृत्ते	कृते
"	८	शेषः	शेषः
"	८	द्विवचनमिति	द्विवचनमिति
"	१३	द्विवचने	द्विवचने

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३१३	१६	युयादिति	यूयादिति
"	२०	रामन्त	रामान्त
"	२१	मेवोक्तम्	मेवोक्तम्
"	२३	व्याख्याया	व्याख्यायां
"	२६	स्थानित्वादिराम	स्थानिवत्त्वादिराम
"	३०	एकामक	एकात्मक
"	३१	द्विर्वचम्	द्विर्वचनम्
३१४	२६	आख्यायिषतां	आख्यायिपातां
३१५	७	विदाकुरुत	विदाङ्कुरुत
"	१०	दद्योरुः-इत्यस्योदाहरणंखलितम्	अवेः, अवेत्, अवेदीत्
"	११	दिदेसमीत्यतः प्राक्	उष-वेत्ति-जागृम्य आम्
"	१४	यलाद्यन्तानि	स्थलाद्यन्तानि
"	२६	नत्वस्व	नत्वस्
३१६	३२	क्रियाभ्यतीहारे	क्रियाव्यतिहारे
३१७	७	पमुन्द्राणां	उपेन्द्राणां
"	३१	केवल स्यासधातोः	केवलस्य अस्धातोः
३१८	१७	प्रत्ययेन	प्रत्ययेन
३१९	१४	चे	चेति
"	१४	वर्द्धत्वे	वर्गत्वे
"	१६	सर्वेश्वरे	सर्वेश्वरे
३२०	१७	चकारादट्	चकारादट्
"	२२	द्विवचने	द्विवचने
३२२	१२	वृष्णीन्द्र	वृष्णीन्द्र
"	१७	निमित्त	निमित्त
"	२३	अन्यथा	अन्यथा
"	३२	उषवेति	उषवेत्ति
३२३	४	णकटन	युक्-टन्
"	७	अदद्रीसीत्	अदरिद्रीत्
"	११	के परे	परे
"	१५	णक्	युक्
"	१६	रामहरो	रारामहरो
"	१९	आरामाणलू	आरामाणल
"	२७	चकाधीति	चकाधीति
"	२८	जये	जने
३२४	१८	लघा	लघो

पृ०	प०	अशुद्धः
३२४	१८	विष्णुजये
३२५	११	पूर्वोध्यमिति
"	१८	वक्ते एपि
३२६	४	सध्यो
"	११	स्तिपि
"	११	स्तिपा
"	१७	धातुके
"	२४	समचक्षिष्टेयि
"	२७	भगति
"	२८	अयासदयेभ्य
"	३१	लुग् विकरणस्येयि
३२७	३	बोभूत्वित्यादि
"	१२	प्रवर्तते
"	१७	बोभूत्विति
"	२१	बोभूत्वि
"	२१	बोभूनीत्विति
"	२४	गोविन्द निषेधनुक्ता
"	२६	बाभ्ररति
३२८	२१	प्रादेशो
"	२७	कर्त्तृणि
"	३०	ययीभावम्
३२९	१६	द्धाप्ते
३३०	२	णो
"	२	न्यायन
"	१३	राषा
"	१६	मिम्
"	३०	भाषावृत्त्यादाविति
३३१	११	वक्रोति
३३२	१७	लज्यां
"	२६	द्विवचनञ्च
"	३०	परस्मिन्
३३३	२५	तत्रैव
"	२६	यत्न
"	३१	पधातोश्च
३३४	१७	द्वयदन्तयो

शुद्धः
विष्णुजनै
पूर्वोऽयमिति
वचरपि
स-ध्वो
श्-तिपि
श् तिपा
धातुके
समचक्षिष्टेति
भवति
अयासदयेभ्य
लुग्विकरणस्येति
बोभूति इत्यादि
प्रवर्तते
बोभूतीति
बोभूतो
बोभूवीति
गोविन्द निषेधमुक्त्वा
बोभूति
आदेशो
कर्मणि
व्ययीभावम्
प्राप्ते
णे
न्यायेन
रषा
किम्
भाषावृत्त्यादाविति
वक्रोति
लज्जायां
द्विवचनञ्च
परस्मिन्
तत्रैव
यत्न
पृधातोश्च
द्वयदन्तयो

५०	५०	मशुद्धा	शुद्धः
३३४	३१	घृद	द्यूद
३३५	४	दिपां	विषां
३३६	१७	स्वात्	स्यात्
३३७	११	श्रीदिति	श्रदिति
३३८	२८	मनथकं	मनर्थकं
"	२३	स्थानित्व	स्थानिवत्त्वा
३३९	२१	कृत्यावे	कृत्यादे
३४०	८	तस्मिन्	तस्मिन्
"	४	आङीयीति	आङीऽपीति
"	४	अनुपपत्तेः	अनुपपत्ते
"	११	रङ्गं मूयवव	रङ्गं तस्यैव
"	१२	नुमस्यदङ्गत्वात्लोफः	नुमस्याङ्गत्वात्लोफः
"	१३	आङोयि	आङ्गोऽपि
"	१६	स्वीकारेण	स्वीकारेण
"	२३	आङीऽपीति	आङ्गीऽपीति
३४१	१४	रजिभो	रजिजभो
"	१७	अप्तुतदिति	अप्तुपदिति
"	१९	मिनिटा	मनिटा
"	२१	चत्वम्	घत्वम्
"	३१	विष्णुपदान्ते	विष्णुपदान्ते
"	३१	माडेति	मोडेति
३४२	२४	घेष्णवे	घैष्णवे
"	३०	मये	मते
३४३	७	स्नेहने	स्नेहने
"	१०	भुवी	भूवी
"	२१	वृष्णान्द्र	वृष्णीन्द्र
३४४	३	प्राण प्रसवे	प्राक्षि-प्रसवे
"	१०	त्यादि	त्यादि
"	१५	स्यादिति	स्यादिति
३४५	८	उपदानम्	उपादानम्
"	४	'जनी प्रादुमवि' इत्यतः प्राक्-	लीङ् मलेषणे-लीयते । नात्ता, लेता
"	१८	कर्त्तरि	कर्त्तरि
"	२८	उद्यवादशर्तं	उद्धवादशर्तं
"	११	अधो	अधोक्षजे
३४६	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३४६	४-५	“इति श्रीहरिनामामृते” व्याख्यातो दिवादिः	इति दिवादिः ॥
”	१०	शीद्धवाचे	शीद्धवाच्चे
३४७	१६	अचेपीत्	अचेपीत्
”	२३	उपेन्द्राणोपदेशस्येत्यादौ	उपेन्द्राणोपदेशस्येत्यादौ
३५२	८	अस्पृक्षत्	अस्पृक्षत्
”	२५	अनिरावेता	अनिरामेता
३५३	१३	सृजिपृशो	सृजिपृशो
३६१	११	भूतेशे	भूतेशे
”	१८	नमित्तिकस्य	नैमित्तिकस्य
”	२३	तण्वन्ति	तण्वन्ति
”	८	उनिर्गुणे	उनिर्गुणे
३६२	८	संपरिभ्यां	संपरिभ्यां
”	१३	स्वतोऽरामाभावाद्	स्वतोऽरामाभावाद्
”	१८	ऋद्धयाद्	ऋद्धयाद्
३६३	१६	संजमार्जयतीत्यर्थः	संमार्जयतीत्यर्थः
३६४	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
”	८	प्रत्यय	प्रत्यय
”	८	परिनिविभ्य	परिनिविभ्य
”	८	नेनोपेन्द्र	नेनोपेन्द्र
”	११	तेषूदाहरणानि	तेषूदाहरणानि
”	२२	वच्छिन्नम्	वच्छिन्नम्
”	२२	उपादानं	उपादानं
३६५	२	विनिमयः	विनिमयः
३६६	५	स्त्रिविक्रमो	स्त्रिविक्रमो
”	८	शृट्	शृट्
”	१५	श्नइति	श्नइति
”	८	तु वाधते	तु न वाधते
३६७	४	निष्कापणम्	निष्काशनम्
”	२५	वृषणीन्द्राभ्या	वृषणीन्द्राभ्या
”	२५	कृतेऽपि	कृतेऽपि
३६८	२	दुर्नुद्धिः	दुर्नुद्धः
”	५	त्रिनयनः	त्रिनयनम्
”	५	नृनमनः	नृनमनम्
”	३०	शीघनः	शीघनः

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३६६	४	तस्मद्	तस्माद्दो
"	७	प्रत्यस्य	प्रत्ययस्य
"	८	मिषधस्तु	निषेधस्तु
"	१८	व्याञ्जनान्ताद्दो	व्याञ्जनान्ताद्दो
"	२५	सदृहा	सदृसा
"	२८	स्वोनातीति	रवोनातीति
३७१	८	यद्गण	तद्गणन्
"	८	स्थातिवत्	स्थानिवत्
"	१८	द्विवचने	द्विवचने
"	२३	चोरयिता	चोरयिता
"	३०	द्विवचन	द्विवचन
३७२	१५	अमीमृजादित्यादि	अमीमृजदित्यादि
"	२०	द्विवचने	द्विवचने
"	२१	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२१	उद्धवल	उद्धवस्य
"	२५	ऋद्वयस्य	ऋद्वयस्य
"	२६	द्विवचनं	द्विवचनम्
"	३४	द्विवचने	द्विवचने
३७३	३	तथाथादीनां	तथार्थादीनां
"	११	स्थानित्वं	स्थानिवत्वं
"	१५	निषाधानुसारात्	निषेधानुसारात्
"	१७	त्यादौ	त्यादौ
"	२४	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२६	द्विवचनमिति	द्विवचनमिति
"	३०	अरामहस्य	अरामस्य
३७४	१०	अरामान्माच्च	आरामान्ताच्च
"	१७	वामते	वामने
"	२३	सणे द्विवचने	सणे द्विवचने
"	२६	अन्त्यारामस्य	अन्त्यारामस्य
"	३१	आरमा	आरामा
"	३	द्विवचने	द्विवचने
३७५	८	भवति	भवन्ति
"	१५	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	१८	आश्चिकदिति	आश्चिकत
३७६	८	णिनिति	णिरिति

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३७६	१४	मध्येषणम्	अध्येषणम्
"	२३	व्यापार	व्यापार
"	२८	वैयर्थ्यं	वैयर्थ्यं
"	३१	चन्द्रमतमिति	चान्द्रमतमिति
३७७	३	प्राणिणत्	प्राणिनत्
"	१३	प्राणिणादिति	प्राणिनदिति
"	१४	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२८	प्राणिणत्	प्राणिनत्
३७८	२२	स्यादेवेत्यर्थः	स्यादेवेत्यर्थः
"	३	स्पस	स्पग
३७९	६	आङ्ङित्	आङ्ङित्
"	१२	द्विवचनात्	द्विवचनात्
"	२४	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२५	द्विवचने	द्विवचने
३८०	२	स्तुञ्	स्तृञ्
"	४	जीप	जीव
"	२	चेष्टिचोर्वा	चेष्ट्योर्वा
"	७	सन्नमिति	सन्निमित्त
"	८	त्रिविक्रमः	त्रिविक्रमः
"	१३	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२१	परत्वभावादिति	परत्वाभावादिति
३८१	३	"अमीमृजत्" इत्यनन्तरं	"पक्षे गोविन्दवृष्णीन्द्रो अममार्जत्"
"		अवयवत्	इति पाठोगतः
"	१०	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	१०	द्विवचने	द्विवचने
"	१८	द्विवचनम्	द्विवचनम्
"	२०	"	"
"	३१	गोविन्दः	गोविन्दः
३८२	४	तिहते	तिष्ठते
३८३	१३	दित्यर्थः	दित्यर्थः
"	१४	आरामान्त	आरामान्त
"	२४	धातूनामेकार्थत्वाद्वातेः	धातूनामनेकार्थत्वाद्वातोः
३८४	१	व्यकरणम्	व्याकरणम्
"	६	स्माप्	स्माप्
"	१०	स्फाब्	स्फार्

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३८४	८	विस्मापयति	विस्माययति
"	१७	व्यञ्जितम्	व्यञ्जितम्
३८५		स्फावयति	स्फारयति
"	१७	द्विवचनं	द्विवचनं
३८६	११	द्विवचने	द्विवचने
"	१५	"	"
"	२२	विधिरिति	विधिरिति
"	२७	ष्वित्यु	ष्वित्यु
"	२८	बोद्धव्याम्	बोद्धव्यम्
३८७	६	हन्तेस्तोतृसिद्हेऽनिणघोक्षजे	हन्तेस्तोतृसिद्हे
"	१०	भावात्	भावात्
"	१८	इत्यय	इत्यय
"	२०	एवमिति	एवमिति
३८८	१	अथ सन्नन्तः	अथ सनन्ताः
"	५	रुस्वनादीनां	रुस्वादीनां
"	१३	मापदयते	मापदयेत्
"	१८	ग्रहेश्च	ग्रहेश्च
"	१८	न्ताश्च	न्ताश्च
"	२०	त्वाद	त्वाद
"	२४	किन्तु	किन्तु
"	२८	सन्नन्तः	सनन्ताः
"	३२	वदन्तीति	वदन्तीति
"	१२	उपासनेऽयं	उपासनेऽयं
"	"	श्रवणे	श्रवणे
"	१४	रिति	रिति
३८९	८	सन्नन्तस्यापि	सनन्तस्यापि
"	३२	"	"
३९०	२०	कृम्	कृम्
"	२४	भावात्तयो	भावात्तयो
३९१	५	अनन्तरं	"दुच्यतिस्वाप्योर्नरस्य संकर्षणः
"	७	दिदेविषति	दिदेविषति
"	१४	पूर्वमीशसमीपाद्	पूर्वमीशसमीपाद्
"	३०	क्त्वासमी	क्त्वसनौ
"	३१	मनु	ननु
३९४	१८	विभाषया	विभाषया

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
३६४	२२	अपिषिपतीति	एपिषिपतीति
३६५	१	ज्ञापि	ज्ञपि
३६६	१६	नरादर्शनं	नरादर्शनं
३६७	५	सन्यालोप	सन्यप्यालोप
"	१६	स्थानिवदि	स्थानिवद्
"	२५	संसिद्धा	संसिद्धा
३६८	६	प्रवर्तते:	प्रवर्तते
"		सुस्वापयिषति	सुष्वापयिषति
"	२१	सन्नन्तान्न	सनन्तान्न
३६९	४	इति सन्नन्ताः	इति सनन्ताः
"	७	सन्नन्तात्	सनन्तात्
"	८	सन्नन्तः	सनन्तः
"	१०	सन्नन्तात्	सनन्तात्
"	११	जुगुप्सितु	जुगुप्सितु
"	१२	सन्नन्ताः	सनन्ताः
४००	१	यङन्तः	यङन्ताः
"	६	"बोभूयते" इत्यनन्तरं-	अबोभूयिष्ट, अबोभूयि,
"	८	सर्वेश्वरः	सर्वेश्वरः
४०१	१५	यङि	यङि
"	१७	प्रतिषेधो	प्रतिषेधो
"	५	ओपदेशत्व	ओपदेशत्व
४०३	३	पठति	प्रायति
४०४	३१	सोपसर्गात्	सोपसर्गात्
"	३२	सोपसर्गाद्	सोपसर्गात्
४०५	२	नरतो	नरतो
"	२	स्रंसु	श्रंसु
"	३	सनीस्रस्यते	शनीश्रस्यते
"	८	रथदेव	रथदिव
"	११	स्तभ्य	स्तेभ्य
"	२३	गहाये	गर्हाये
४४६	४	दंदयते दादयते	दंदयते दादयते
४०६	७	'चक्ररीति'	'चक्ररीति'
"	७	इडित्यादि	ईडित्यादि
४१०	२४	सन्नन्तादिषु	न न्तादिषु
"	२८	उग्रि	उग्रि

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
४११	८	शेशेति	शेशीति
"	१०	कार्यं	कार्यं
"	१३	चत्वारि	चत्वारि
"	१६	भूतेश्वर	भूतेश्वरे
"	३२	निर्दिष्टं	निर्दिष्टं
४१२	१०	अन्तहरे	अन्तहरे
"	२२	कृति	कृति
४१५	३	सापुवीति	सोपुवीति
४१६	८	धाता	धातो
४२०	५	स्कभ्रातयोऽपि	स्कभ्रातयोऽपि संकर्षणे च श्यादयोऽपि
"	६	नर्णत्वे	नेर्णत्वे
४२१	५	सन्नन्ताद्	सनन्ताद्
"	६	युजादे णे	युजादे णं
४२२	१	अयनामधातु प्रक्रिया	अथ विभुः
"	३१	नत	नतु
४२३	१	आख्यात प्रकरणम्	आख्यात-प्रकरणे विभुः
४२४	१६	त्रिविक्रय	त्रिविक्रम
"	२०	भ्रातु	भ्रातु
"	२०	इत्यदेन	इत्यनेन
४२६	३	मित्यत्र त्वासिद्धः	मित्यत्र त्वसिद्धः
"	१६	राजभ्यामित्यत्र	राजभ्यामित्यत्र
"	२०	शब्दस्य	शब्दस्य
४२७	४	रिपासायाम्	पिपासायाम्
"	६	पत्यस्यादयो	पत्यस्यावित्यादयो
४२८	१४	हरिकामती	हरिकाम्यती
४२९	२७	रीयि	रीति
४३०	१२	प्रथमा	प्रथमा
"	२०	पदार्थस्य	पदार्थस्य
"	३१	मिति	मिति
४३१	५	कयावितो	कपावितो
"	११	मञ्ज्वमी	पञ्चमी
"	१४	क्लिप	क्लिप्
"	२५	रुक्मिणीतत	रुक्मिणीयते
"	२५	पक्मिणीति	रुक्मिणीति
"	२६	पूरये	पूरणे

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
४३२	६	तदीयायि प्रत्ययस्यैव	तदीय-विप्रत्ययस्यैव
४३४	७	पापवृत्ते	पापवृत्ते
"	५	स्तदर्थ्य	स्तादर्थ्य
"	२३	चतुर्थ्य	चतुर्थ्य
४३५	३	एवमुत्तरेष्वपि	एवमुत्तरेष्वपि
"	४	कोटो	कौटो
"	२८	तीत्यथ	तीत्यर्थ
४३६	५	सर्गेश्वरस्य	सर्वेश्वरस्य
"	७	ह्रस्वस्य ह्रसः,	ह्रस्वस्य ह्रसः,
"	१२	सनवन्धि	सम्बन्धि
"	८	पियस्य	प्रियस्य
४३७	४	यककणौ	यवकनौ
"	७	श्चोत्तर्यः	श्चेत्तर्यः
"	८	गालोडिमस्य	गालोडित्स्य
"	१५	यककनौ	यवकनौ
"	३०	पुच्छाउत्तरे	पुच्छादुत्तरे
४३८	२६	मूलमणिगन्धने	मूलवणिग्धने
४३९	२	विष्णु	विष्णु
"	२१	इत्यत्रत्यमाद्य	इत्यत्रसूत्रस्थाद्य
४४१	२५	रामसहित	इरामसहित
४४२	१२	धातोरित्यधिकारेण	धातोरित्यधिकारेण
४४६	८	इन्द्रोयिषति	इन्द्रोयिषति
"	६	वर्जस्थेत	वर्जस्य"इति
"	६	चन्द्रोयिषति	चन्द्रोयिषति
"	२५	कण्डूयादयः	कण्डूयादयः
४४७	२	समाप्त्यर्थ	समाप्त्यर्थ
"	२२	पूजय	पूजायां
"	२३	समाप्त्यर्थ	समाप्त्यर्थ
"	२५	उपेन्द्रातां	उपेन्द्रतां
"	२७	योग्यतायां	योग्यतायां
४४८	२३	उपेन्द्रात्	उपेन्द्रात्
"	२७	लसी	तुली
"	३०	उपेन्द्रात्	उपेन्द्रात्
४४९	२६	उपादप्युत्तरस्य	उपादप्युत्तरस्य
४५१	३	सुविनिर्दुः	सुविनिर्दुः

पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
४५३	२२	समस	समास
"	८	विष्पन्दते	विष्पन्दते विस्पन्दते
"	३२	शोषयोः	शोषणयोः
४५४	१८	न्दित्या	दित्यादिना
४५५	१४	स्थादिकस्त	स्थादिकस्य
परिशिष्टे (धातुसंग्रहे)			
पृ०	प०	अशुद्धः	शुद्धः
१	८	अत्र	अत्
२	३१	यतो	यसु
३	१२	कास	कासृ
"	१२	भास	भासृ
४	२	खण्डते	खण्डने
"	२२	पृ	पृ
"	३१	अन्वेयणे	अन्वेयणे
"	३६	प्रयते	प्रयत्ने
८	३	वेलविन्ती	वेलविन्ती
"	३	व्रणः	व्रणः
"	५	वृजी	वृजी
"	६	वाधृ	वाधृ
"	६	व्रीड	व्रीड
"	७	धातनामन्तः	धातूनामन्तः
"	१०	धातुनामन्तः	धातूनामन्तः
१	१८	सम्बसर	सम्बसर
१०	१०	कपिथ्य	कपिथ्य
११	६	अव	अव
१७	६	तिष्ठद् भू प्रमितिः	तिष्ठद् भू प्रभृतिः
१८	५	ब्राह्मण	ब्राह्मण
२१	२	ब्राह्मणादिः	ब्राह्मणादिः
(अव्ययशब्दसंग्रहे)			
३१	१४	बहु	बहु
"	२७	बहु	बहु
३२	१३	अनन्तरम्	अनन्तरम्
"	५	बल	बल

भागेऽस्मिन् शुद्धिपत्रस्य विस्तरशंकया ब-वकारयोः साकल्येन संशोधनमसञ्जातम् ।
वृन्दावन वास्तव्येन श्रीहरिदासशास्त्रिणा विदुषामुपकाराय शुद्धिपत्रं विनिर्मितम् ।

श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीश्रीहरिनामामृतव्याकरणम्

कृष्णमुपासितुमस्य स्रजमिव नामावलिं तनवै ।
त्वरितं वितरेदेषा तत्साहित्यादिजामोदम् ॥१॥

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

“तत्त्वप्रदर्शिका टीका”

अद्वैतैकस्वरूपञ्च नित्यानन्दात्मधामकम् ।

नमामि तत्परं तत्त्वं कृष्णं चैतन्यविग्रहम् ॥

नमामि चरणाम्भोजं श्रीमद्गुरुदेवजीवपादानाम् ।

यत्कृपाविभवैरयं निमुक्तो वराकोऽप्यमृतविभजने ॥

स्वल्पायुषां कलियुगेऽत्र नृणां शमिच्छन् ।

शब्दानुशासन - महाजलधिं विमथ्य ॥

नामामृतं समददत् य इदं कृपालुः ।

स श्रीलजीवचरणः शरणं ममास्तु ॥

अथ कलियुगपावनस्य स्वयंभगवतः श्रीमत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभोः प्रियपरिकरो, निखिल-शास्त्रोदधि-परिमन्थनोत्थ-भक्तिपीयूष-परिवेशको, विबुधवृन्द-वन्दित-पदारविन्द-द्वन्द्वो, विश्ववैष्णवराजराजिवरेण्यो, भागवतपरमहंसाग्रगण्यः समाश्रितवृन्दारण्यस्तत्र-भवान् श्रीलजीवगोस्वामिचरणो, भजनैकनिष्ठतयाऽनधीत - व्याकरणानां प्रागधीतान्य व्याकरणानाञ्च वैष्णवानां हितकाम्यया नामसंकेतेन व्युत्पत्तिवाञ्छयाच, स्वगुरु-श्रीमद्-रूपगोस्वामिपाद-रचित-लघु-सूत्र-विस्तार-पारिपाठ्येन श्रीहरिनामामृताख्यं शब्दानु-शासनमारभमाणः प्रारिप्सित-ग्रन्थ-निर्विघ्न-परिसमाप्त्यर्थं शिष्टशिष्यवर्गशिक्षायै वस्तु-निर्देशात्मकमङ्गलमादौ निबध्नाति “कृष्ण”मिति । अनेन सर्व एव ग्रन्थोऽयं मङ्गलमय इत्येव ज्ञापयति ।

कृष्णं स्वयम्भगवन्तम् । “कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” इति श्रीमद्भागवतपरिभाषा-वचनप्रामाण्यात् । “यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्यैकमूर्तिकम्” इत्यक्रूरोक्त्या भगवत्-स्वरूपाणां सर्वेषां तदन्तः पातित्वाच्च । आकर्षति निखिलचराचरान् स्वमाधुर्यमहिम्ना स्वरूपानन्देन वेति “कृष्णः” । कृपेर्वर्णे नक्, उणादेर्बाहुल्यात् संज्ञायाञ्च । “कृपिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते” इति महाभारतम् ।

‘भूवाचक’ इत्यत्र भावे क्विप् । भावोधात्वर्यः, सचात्राकपणं; नक् प्रत्ययश्च कर्त्तरि, तेना-
कर्षण पूर्वकानन्ददायि-नराकृति-परब्रह्म कृष्णशब्दार्थः । श्यामलतमालत्विपि यशोदास्त-
नन्धये रूढि रिति नामकौमुदी । तमुपासितुमाराधयितुमित्यर्थः । अस्य श्रीकृष्णस्य तत्-
संबन्धिन इति यावत् । नाम्नामावलिं श्रेणीं स्रजं पुष्पमाल्यमिव तनवै रचयानि । ‘इच्छार्थ-
धातुसत्त्व’ इत्यनेन प्रार्थनायां विधातृलकारः । ‘कृपयासीत् स्वबन्धने’ इति श्रीमद्भागवत-
सिद्धान्तेन भगवतः कृपाशक्तिमन्तरेण यथा दाम्ना तस्य बन्धनमसम्भवं तथा तन्नाम्ना-
मपि । नामिनाम्निरभेदतः श्रीभगवत्कृपां प्रार्थयत इति हृदयम् । “न कुर्यान्निष्फलं कर्म”
इत्यतः फलमाह—एषेति । एषा मया तन्यमाना ग्रन्थनिबद्धनामावलिः, तत् साहित्यादि-
जामोदः—साहित्यं रूढिवृत्त्या काव्यात्मकग्रन्थविशेषः तत् तस्य श्रीकृष्णस्य सम्बन्धि-
साहित्यं श्रीमद्भागवतम्, आदिना श्रीगोपालचम्पू-ललितमाधव-मुक्ताचरितादयस्तेभ्यो
जात आमोद आनन्द-स्तम् ।

पक्षे तत्-तस्य श्रीकृष्णस्य साहित्यं साहचर्यं, परिकरैः सह संसर्गः इति यावत् ।
आदिना आलिङ्गनं नर्मादिकञ्च । तस्माज्जात आमोदः परिमलस्तम् त्वरितं शीघ्रं
यथा-स्यात्तथा वितरेत् दद्यात्; परिशीलकेभ्य इति शेषः । अर्ह-शत्कचोरित्यनेन विधिः ।
शक्तिः सामर्थ्यम् । तेन नामावलिः श्रीकृष्णसाहित्यादिजामोदं दातुं समर्थ एवेत्यर्थः ।

यद् वा एषा श्रीकृष्णनामावलिस्तत् साहित्यादिजामोदं हितेनाऽविद्यामोचनरूप-
मङ्गलेन सह वर्त्तमानेति सहिता भक्तिः, तस्य श्रीकृष्णस्य (कृष्णसम्बन्धिनी) सहिता
तत्सहिता या शुद्धा कृष्णभक्तिस्तामर्हतीति तत्साहित्यं श्रीमद्भागवतम् । ‘मेनिरे भगवद्-
रूपं शास्त्रं भागवतं कलौ’ इति प्राचीनप्रमाणाच्च । “तदर्हतीति” नृसिंह यः । तदादि यस्य
तत्साहित्यादि श्रीमद्भागवतादि-भक्तिरसशास्त्रं भक्तिरसपात्रञ्च । लक्षणया तदनुशीलनं
सेवनञ्च । तस्माज्जातं परानन्दं शीघ्रं वितरेत् । यद्यपि भगवन्नाममात्रस्यैव भागवतानन्द-
वितरणे स्वाभाविक्यसाधारणी शक्तिरस्त्येव तथापि तेषां ग्रथनं तु कण्ठधारणसौकर्यार्थ-
मिति नायं निष्फलप्रयासः ।

पक्षे कृष्णमिति सत्या सत्यभामा, भीम भीमसेन इतिवत् कृष्णं श्रीकृष्णचैतन्य-
देवम् । ‘सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः’ इत्यादिप्रमाणाद् देशकालौचित्य-
भेदेनायं वैशिष्ट्य-स्वीकाराच्च स एवार्थः । कलियुगोपास्य-निर्णयप्रसंगे “कृष्णवर्णं त्विषा-
कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्” इति श्रीमद्भागवतपद्यव्याख्यायां सर्वसम्वादिनी प्रारम्भे-
“श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेवनामानं श्रीभगवन्तं कलियुगेऽस्मिन् वैष्णवजनोपास्यावतारतये”
त्याद्युक्तेः स्वयं ग्रन्थकर्तुरप्ययमेवाभिप्रायः । तमुपासितुं संकीर्त्तनप्राधान्येनाराधयितुं;
“यज्ञैः संकीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस” इत्युक्तेः । अस्य श्रीकृष्णचैतन्यदेवस्य नाम्नां
तत्प्रचारितानां वा नाम्नामावलिस्तत्साहित्यादिजामोदमिति पूर्ववत् । यद्वा तस्य
श्रीभगवतः साहित्यं लीलादिश्रवणकीर्त्तनद्वारेण सह वर्त्तनं तत् संग इति यावत्; तदादि-
येषां स्मरणादीनां तानि तत्साहित्यादीनि तेभ्यो जातमामोदं चिरादनपितोज्वलरसा-
स्वादन - सुखविशेषं शीघ्रं वितरेत् प्रदातुं शक्नुयात् । नाम्नः परमपुरुषार्थदत्त्व-
प्रसिद्धेरिति ।

अधिकारी च सम्बन्धो विषयश्च प्रयोजनम् ।

अवश्यमेव वक्तव्यं शास्त्रादौ तु चतुष्टयम् ॥

इत्युक्तदिगाधिकारि-सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनानीति चतुर्णां ग्रन्थानुबन्धानां मध्ये त्रितयमेवात्र दर्शितम् ।

यथा—श्रीकृष्णः सम्बन्धः, विषयो व्याकरणम्, अत्र ग्रथित नामानुशीलनस्याभिधेयत्वात् । श्रीमद्भागवतादि - शास्त्र - सेवनोपयोगि - व्याकरणं ज्ञानं गौणप्रयोजनम्, ह्लादिनीसारसमवेत-सम्बिदाख्यभक्तिश्चात्र मुख्यं प्रयोजनं ज्ञेयम् । अधिकारी त्वग्रिम-श्लोके निर्णीयते ॥१॥

“बालतोषणी टीका”

वन्दे तं कृष्णचैतन्यं तस्य भक्तगणं तथा । यस्य प्रसादादज्ञोऽपि सद्यः सर्वज्ञतां व्रजेत् । गदाधरं रूपसनातनञ्च श्रीभट्टयुग्मं रघुनाथदासम् । श्रीजीवदेवं परमं कृपालुमानन्द-सिन्धुं शिरसा नमामि । हरिनामामृतं वन्दे विष्णोः शब्दानुशासनम् । निखिलाघहरं कृष्ण-लीलानामयुतं शुभम् । अहञ्च भाष्यकारश्च कुशाग्रीयधियाबुभौ । नैव शब्दाम्बुधेः पारं किमन्ये जडबुद्धयः ॥ इति पाणिनिमुनिना यदुक्तं, तथापि—श्रीलश्रीजीवगोस्वामिचरणा-ब्जाग्रमाश्रितः । बालोप्यहं तितीर्षामि हरिनामामृतार्णवम् ॥

ततः परम-कृपासरित्पतिपरमेश्वरेण निजगुण-नाम-गण-कीर्तन-गरिम-प्रेम-प्रका-शातिस्निग्धीकृत पाषण्ड-दानवघटाघटित-दुर्घटोद्दाम-पावक-ज्वालाज्वलित ब्रह्माण्ड-भाण्डेनैव विखर्वीकृतविशङ्कतरदोर्दण्ड-गर्व-पर्वतनिभ गर्विततराधिकार-कलिप्रचण्ड प्रतापेन श्रीलश्रीकृष्णचैतन्य-चन्द्रेण भगवता ग्रथित-निज-प्रणीत-नीति-व्रजविलास वसति-सान्द्रानन्दरसशास्त्रकासारपरमहंसकः श्रीप्रणवाङ्कुर-विद्युद्दामलसत् पुराणच्छदनानन्त-शाखाकलितश्रीभगवन्मुखोद्गत-परम-परमेष्ठि-प्रणीत-सूत्रे श्रुतिरसालसार-श्रीवृन्दावन भाव-परिचित-सरस-मुकुलास्वादक-कोविदकोकिलः परम-कृपालुमौलिमहामहो-पाध्यायावलिविराजित-चरणपङ्कजः श्रीमान् शुष्कालाप-कलित-कलापावलिब्याकरणानु-शीलनदुस्थमतीनामनेक प्रकार प्रकरण-निर्णय-चिन्तितानामिदानीन्तनजनानां धर्मार्थ-काममोक्षार्थं सदा हरिरसलुब्धमानसानामनधीतव्याकरणानामधीतेतरव्याकरणानाञ्च वैष्णवानां हिताभिलाष-परबशतया श्रीनाम-ग्रहण-पूर्वक-विशिष्ट-व्युत्पत्तिवाञ्छया श्रीकृष्णदेवप्रसादमधिगम्य श्रीमच्छील-सनातन-गोस्वामिनां सूत्रानुसारेण श्रीजीव-गोस्वामिनामा ग्रन्थकारः परम भगवत् रूप मनोहर मधुर हरिनामावलिभिः संकेतीकुर्वन् श्रीहरिनामामृताख्य-वैष्णव-व्याकरणमारभमाणः स्वंप्रयोजनोद्घाटनपूर्वकवस्तु-निर्देशाशीर्वादिरूप-मंगलमाचरत एवं सर्व एव ग्रन्थोऽयं मंगलरूप इति च विज्ञापयति कृष्णमिति । कृष्णं=स्वयंभगवन्तं, उपासितुं=अनुशीलयितुं, अस्य=श्रीकृष्णस्य, नामावलि=नामश्रेणीं सर्वेश्वर दशावतारादिभिरहं तनवै=विस्तारयाणि वस्तु-निर्देशोऽयम् ।

कृष्णस्य स्वयं भगवत्वे प्रमाणं श्रीभागवते यथा । एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु

आहतजल्पितजटितं दृष्ट्वा शब्दानुशासनस्तोमम् ।

हरिनामावलिवलितं व्याकरणं वैष्णवार्थमाचिन्मः ॥२॥

भगवान् स्वयमिति । संकल्पविशेषार्थे इत्यादिना विधातृप्रत्ययः कृष्णोपासनमहं करवाणीतिवत् । कामिव स्रजं=मालामिव । अन्यो यथा कृष्णमुपासितुं स्रजं तनुते तद्वदित्यर्थः । माल्यं मालास्रजावित्यमरः । 'वीथ्यालि रावलिः पङ्क्तिः श्रेणीति चामरः' । प्रयोजनमनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते इति । आशीर्वादमाह । (आशीर्वादनमस्क्रिया वस्तु निर्देशोवापि तन्मुखं इति मंगलाचरणम्) । एषा=मया तन्यमाना नामावलिस्त्वरितं=शीघ्रं यथास्यात्तया तस्य श्रीकृष्णस्य साहित्यादि-मनोहर-मधुर-सुन्दर-भक्ति-परम-तात्पर्य-लीलामय-श्रीमद्भागवत-शास्त्रादिसाहित्यादिपदेन लक्षणया तदनुशीलनं अत्रानुशीलनं धात्वर्थमात्रमुच्यते । तस्माज्जातमामोदं तदनुशीलनपरमानन्दसुख-विशेषं-वितरेत्=दद्यात् स्वानुशीलकेभ्य इति शेषः । व्याकरणशास्त्रपरिज्ञान-जन्य-ज्ञानविशेषं जनयित्वा भागवतग्रन्थानुशीलनेऽधिकारं ददात्विति निर्गलितार्थः । पक्षे परमानन्दप्रदस्वरूपत्वेन तमेव नन्दीश्वरेश्वरात्मजं निजेश्च देवं कृष्णचैतन्यमुपासितुं इत्यादि पूर्ववत् साहित्यं शास्त्रविशेषम् । अत्र च हितेन प्राणिनामविद्यामोचनरूपोप-कारेण सह वर्तमाना सहिता भगवद्भक्तिस्तामर्हतीति गर्गादे नृसिह च इत्यनेन साहित्यंश्रीभागवतं भगवत्स्वरूपत्वात् । यद्वा तत् सहितस्य भगवत् संगस्य भावस्तत्-साहित्यं आदि शब्देन तत् सेवादि यद्वा तत् सहितमर्हतीति तत् साहित्यः श्रीवासनामा तद्भक्तः स आदिर्येषां ते श्रीस्वरूपादयस्तेभ्यो जातं आमोदं श्रीभागवतशास्त्रादि परमार्थोनुशीलनरूपं सुखविशेषम् । केचित्तु सहितस्य भावः साहित्यं शास्त्र मात्रं तच्चापि तच्छब्दोपादानात् श्रीभागवतं स्रजमिवेत्यनेन यथा परम भागवतः श्रीतुलसीमालिकामनिशं निजकण्ठे धारयन्ति तथा एतदनुशीलका वैष्णवा एतद्व्याकरणरूपां हरिनामावलिं अभ्यासरूपेण कण्ठे धारयन्त्विति आक्षिप्यते । कृष्णमुपासितुमिति तुमन्तप्रयोगे नामावलि-विस्तारस्य श्रीकृष्णानुशीलनमेव प्रयोजनम् । तदनुशीलनपूर्वकमनायासेन लभ्यमपि व्याकरणपरिज्ञानजन्यज्ञानञ्च । सम्बन्धस्य द्विनिष्ठतया नामनामिनोरभेदाच्च श्रीकृष्ण एव सम्बन्धश्रीभागवतार्थोनुमोदनजातानन्दरूपमेवाभिधेयम् । एते त्रयोऽस्य ग्रन्थस्य व्यवहाराः । तेन श्रीकृष्णनामग्रहणपूर्वक-व्याकरण-परिज्ञान-जन्य-ज्ञान-विशेषम् जनयित्वा श्रीमद्भागवत-ग्रन्थानुशीलनेऽधिकारंदद्यादिति निर्गलितार्थः ॥१॥

तत्त्व०-ननु भगवद्भजनाय तन्नामग्रहणमस्तु, व्युत्पत्तिलाभाय तु सन्ति बहूनि व्याकरणानि; तैरेवार्थसिद्धेः कथमयमुद्यम इति चेदित्यत आह—आहतेति । शब्दानुशासनस्तोमं शब्दा अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते अनेनात्र वेति शब्दानुशासनं व्याकरणम् । “टनःकरणाधिकरणयो” रिति टनः । तस्य स्तोमः समूहः सुपन्न-कलापादिस्तम् । आहतानि मृषार्थकानि आत्यन्तिकश्रेयोरहितानीत्यर्थः । जल्पितानि वचनानि । आहतानि तानि जल्पितानीत्याहत-जल्पितानि तैर्जटितं युक्तमिति आहत-जल्पित-जटितं दृष्ट्वा विशेषेणालोच्य हरिनामावलि-वलितं—हरेर्नाम्नां सर्वेश्वर-दशावतार-विष्णुजनादीनाम् आवलिः श्रेणी तथा-

व्याकरणे मरुनीवृति जीवनलुब्धाः सदाघ-संविघ्नाः ।

हरिनामामृतमेतत् पिबन्तु शतधावगाहन्ताम् ॥३॥

वलितं युक्तम् । व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते अर्थपर्यवसानाः क्रियन्ते शब्दा अनेनात्र वेति व्याकरणम्, पूर्ववत् टनः । वैष्णवेभ्य इदं वैष्णवार्थम् आचिन्मः संग्रहं कुर्मः । “आयुर्हरति वै पुंसामि”त्यादिना भगवत् सम्बन्धं विना कालहरणस्य वैष्णवानामनौचित्यात् । अतोऽस्य ग्रन्थस्य वैष्णवाः परदैवतत्वेन विष्णोरुपासकाः, सामान्यतो भगवद् विश्वासिन एव वाधिका-
कारिण इत्यपि सूचितम् ॥२॥

बाल०—ननु व्युत्पत्तिरेव साध्या चेत्तर्हि अन्यानि बहूनि व्याकरणानि सन्ति तैरेव वा भविष्यति किमेतद्वह्यमेनेति चेत्तत्राह आहतेति । शब्दानुशासनस्तोमं=अन्यव्याकरण-समूहं, आहत-जल्पित-जटितं दृष्ट्वा वयं हरिनामावलिवलितं व्याकरणं, वैष्णवार्थं=वैष्णवानामनुशीलनार्थं आचिन्मः=कुर्म इत्यर्थः । शब्दा अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते येन तत् शब्दानुशासनं कलापादिव्याकरणं तस्य स्तोमं समूहम् । यद्वा शब्दा विष्णुसम्बन्ध-वर्जित-वर्णात्मका अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते यैस्तानि शब्दमात्रसाध्यसूत्राणि तेषां स्तोमः समूहो यत्र तत् कलापादिकं किंश्चिष्टं तत् आहतं=निरर्थकं शुभादृष्टजनकताशून्य-जल्पितमुच्चारणं तेन जटितं युक्तं ‘संघात प्रकारौघ वारनिकरव्यूहाः समूहश्च यः सन्दोहः समुदायराशि विशरव्राताः कलापोव्रजः । कूटं मण्डल चक्रवालपटल स्तोमागणः पेटकं वृन्दं चक्रकदम्बकं समुदयः पुञ्जोत्करो संहतिरिति हैमः’ । आहतन्तु मृपार्थकमित्यमरः । व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽर्थपर्यवसानाः क्रियन्ते शब्दा अनेनात्र वा टनः करणाधिकरणयो रित्यनेन सिद्धं व्याकरणं शब्दानुशासनं शास्त्रं कथंभूतं तत् । हरेः कृष्णस्य नामावलिभिः सर्वेश्वरदशावतारादिभिः वलितं युक्तं; राजीर्लेखा ‘तति वीथीमालाल्यावलि पङ्क्तयः धोरणी श्रेणीति हैमः’ । वैष्णवार्थमिति ग्रन्थकरणप्रयोजनं निर्दिष्टम् । वैष्णवानां कृष्णानु-शीलनेन कालक्षेपणमुचितं तत्तु अन्य व्याकरणानुशीलनेन न भवतीति ममायमुद्यम इति भावः तेनात्राध्यापनाध्ययनाभ्यां गुरुत्वेऽपि श्रीवैष्णवा एवाधिकारिण न त्वन्ये षाड्दर्शनीया अपि देवतान्तरोपासका विष्णुदीक्षारहितत्वेन हरिवहिर्मुखत्वात् ॥२॥

तत्त्व०—अधीतेतर व्याकरणान् वैष्णवान्ग्रन्थमेतं परिशीलयितुं प्रोत्साहगर्भहितोपदेशेन विधिमुखेन प्रवर्त्तयति—व्याकरण इति । व्याकरणे इतरव्याकरणरूपे मरुनीवृति निर्जल-वालुकामयप्रदेशे ये सदाघसंविघ्नाः सतत सन्तापक्लिष्टाः सन्तताहतजल्पित दुःखोद्-विग्नाश्च सन्तः, जीवनलुब्धाः जलाकांक्षिणः, अमृतलाभेनाक्षय जीवन-लिप्सवश्च एत-द्धरिनामैवामृतं पीयूषं पिबन्तु पानेन तृष्णां निर्वाप्य निर्वृण्यन्तु । शतधा सर्व प्रकारेण यथेच्छमित्यर्थः, अवगाहन्तां मज्जनेन शीतलीभवन्तु ।

यद्वा हरिनामैवामृतं यत्र तदेतद् व्याकरणं पिबन्तु अनुशीलयन्तु, शतधा पुनःपुन विचारयन्तु चेति स्वग्रन्थस्य नाम चोद्दिष्टम् । अन्य व्याकरणानां शुष्कालापमयत्वात् तदभ्यासकाले क्लेशएवोत्पद्यते फलं साहित्यादिवोधोपयोगि-व्याकरणज्ञानमात्रम् ।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।

वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं

विदुः ॥४॥ इति

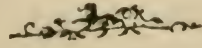
एतस्य तु आपरिशीलनकालादेव महाजनग्रथित-श्रीकृष्णार्पित-नाम-माल्यस्य कण्ठे धारणजं सौरव्यम् । फलं खलु तादृशमेव ज्ञानम् । अधिकन्तु श्रीभगवन्नाम-मयत्वादेतस्य श्रद्धयानुशीलनेन भक्तिशास्त्रानुभवानन्ददायिका शुष्कब्रह्मज्ञानादपि रहस्यतमा सम्बिदाख्या भक्तिश्च परमफलम् । तथैव—“वितरेदेषा तत्साहित्यादिजामोदमिति” श्रीग्रन्थकृदुक्तेः । एवं सति स्वहितेच्छुः कोवेदं सर्वमङ्गलमयं हरिनामामृतं विहाय शुष्क-व्याकरणमरुभूमौ विचरितुमिच्छेत् ? न कोऽपीति च ध्वनितम् । विधि निमन्त्रणामन्त्रणेत्यादिना विधातृ लकारो विधावेव ॥३॥

बाल०—तस्मादधीतेतरव्याकरणैरपि वैष्णवंस्तत्र तत्र व्याकरणे स्वाग्रहं परित्यज्य एतद्व्याकरणमेवानुशीलनीयमित्याह व्याकरणे इति इतर व्याकरणरूपे किम्विशिष्टे मरुनीवृत्ति निर्जल प्रदेशे ये सदाघसंविघ्ना सतताहत जल्पितदुःखोद्विग्ना जीवनलुब्धा जललुब्धाश्च ते एतत् श्रीहरिनामरूपममृतं पीयूषं पिवन्तु परमादरेणानुशीलयन्तु एतस्मिन् शतधा शतप्रकारमवगाहन्तां सदोहापोहादिना अत्यासक्ता भवन्तुच । सामानौ मरुधन्वानाविति नीवृज्जनपदोदेश इति चामरः ये तु मरुदेश जन्मानः सदाघसंविघ्ना दुःखं तु तत्तद्देशवासजन्यं प्राक्तनमेव मन्यन्ते तेऽपि कथञ्चित्जीवनालुब्धा भवन्ति तदा एतत् परम कारुणिकमौलिनोद्दिष्टममृतजलं परमादरेण तृष्णानिरासार्थं पिवन्तु प्राक्तनताप-खण्डनाय एतस्मिन्नवगाहन्तामिति च भावः । तेन ये तु त्रितापोपशमहेतुजननमरणभ्रान्त बीजोत्पाटनोद्धुरमेतदेव भगवत् स्वरूपव्याकरणं प्रोह्य मिथ्याजल्पितयुक्तमन्यदेव व्याकरणमनुशीलयन्ति तेषां हा किमधिकं वक्तव्यमिति । हरिनामामृतमिति भङ्ग्या ग्रन्थनामाऽपि निर्दिष्टं हरिनामरूपममृतं यत्र तत् पिवन्तु रसिकाः सर्वे कृष्णाख्यं परमामृतमिति पाद्यवचनात् । यद्वा हरिनामभिस्तत् कीर्तनादिभिरमृतं मुक्तिरविद्यामोचनं यस्मात् तत् ॥३॥

तत्त्व०—ननु व्याकरणसंज्ञादिषु श्रीभगवन्नाम्नां संकेततया व्यवहारोऽयुक्तः पापावहश्चेति चेत्तां शङ्कां निरस्यन् सङ्केतादिनापि तेषां ग्रहणे पापनाशकत्वमेव प्रतिपादयति श्रीभागवत पद्येन—साङ्केत्यमिति । साङ्केत्यं पुत्रादौ सङ्केतितं, परिहास्यं-परिहासोऽत्र प्रीति-गर्भमन्य परिभववचनं न तु निन्दागर्भं, तत्तूपाहासएवोच्यते । तस्मान्नमव्यञ्जकं यत् किञ्चिद् भगवन्नामोक्तमित्यर्थः । स्तोभं गीतालापादिपूरणार्थं कृतम् । हेलनमत्र “हेलया गिरि रुद्धृत” इति वदयत्नराहित्यमेवोच्यते नत्ववमानात्मकमिति ज्ञेयमिति क्रमसन्दर्भ व्याख्यायां ग्रन्थकृद्भिरेव । एषु येन केन प्रकारेणोच्चारितमित्यर्थः । विकुण्ठाया शुभ्रपत्न्या अपत्यं वैकुण्ठः, स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्यावतारविशेषः । “तयोः स कलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयमिति” श्रीभागवतम् । यद्वा विगता कुण्ठा माया यस्मात् स विकुण्ठो विशुद्ध-सत्त्वं, तन्मूर्तिविशेषो वसुदेव इति यावत्, तत्रभव आविर्भूत इति वैकुण्ठो वासुदेवः

श्रीकृष्ण इत्यर्थः । “सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमान्पावृतः । सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो-ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयत” इति श्रीभागवते श्रीशिवोक्तेः । अत्र खलु वैकुण्ठ नाम्ना तावन्ति भगवन्नामानि लक्ष्यन्ते । तस्य भगवतो नाम्नां हरिहर विरिञ्चि नारायणादीनां ग्रहणमशेषाघहरं सर्वविध पापनाशकं विदुः जानन्ति मुनय इति शेषः ॥४॥

बाल०—ननु व्याकरण परिज्ञान साध्ये श्रीहरिनाम संकेतादिभिर्विघ्नध्वंस पूर्वक परमानन्दहितं भवेदित्यत्र किं प्रमाणमित्यत्राह श्रीभागवत पद्यं सांकेत्यमिति । विशादान्वयोऽत्र । सांकेत्यं स्त्री पुत्रादौ संकेतितं यथा हे स्त्रि विष्णुप्रिये हे पुत्र नारायण इति । पारिहास्यं परिहासेन कृतं यथापश्चाद्युपचारेण श्यालकादौ त्वं हरिस्त्वं हरिरिति । स्तोभं गीतालापपूरणार्थं कृतं । हेलनं सावज्ञं यथा किं विष्णुनेति । वैकुण्ठनामग्रहणं विकुण्ठजातस्य श्रीकृष्णस्य नामोच्चारणं अशेषाघहरं निखिलपापनाशकं विदुर्जानन्ति मुनय इतिशेषः ॥४॥



संज्ञा प्रकरणम्

१. नारायणादुद्भूतोऽयं वर्णक्रमः ॥

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ ए ऐ ओ औ अं अः ।

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ
म य र ल व श ष स ह । एते वर्णा अक्षराणि अलक्ष्य ।

एषामुद्भवस्थानानि,—

अ आ कवर्गं ह विसर्गाणां कण्ठः ।

इ ई चवर्गं य-शानां तालु ।

उ ऊ पवर्गाणामोष्ठः ।

ऋ ॠ टवर्गं र-षाणां मूर्द्धा ।

लृ लृ तवर्गं ल-सानां दन्ताः ।

एदैतोः कण्ठतालु ।

ओदौतोः कण्ठोष्ठम् ।

वकारस्य दन्तोष्ठम् ।

अनुस्वारस्य शिरो नासिका वा इत्यादीनि ।

तत्त्व०—१. अथ ध्वन्यात्मक-वर्णमिमांसा भेदेन द्विविधानां शब्दानां मध्ये शास्त्र मात्रस्य वर्णात्मकत्वात् ग्रन्थारम्भे तावत् क्रमशो वर्णानामाविर्भवनं प्रदर्शयति—नारायणादिति ।

नाराणां ब्रजवासिनां समूहो नारम् । येषामनन्य प्रेमवश्यतया स्वयं भगवानपि नरलीलास्वाद-सुखमग्नः सन् स्वीय परमेशित्वानुसन्धानावसरमपि न प्राप्नोति, ते ब्रज-वासिन एवादृशं नरपदवाच्याः । तत् नारमयनं आश्रयो यस्य स नारायणः, नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण इत्यर्थः । यथाहि श्रीदशमे-भगवदुक्तौ—“तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्-परिग्रहमित्यत्र” गोष्ठोपलक्षणेन गोष्ठवासिनोऽपि ममाश्रया ममपरिपालका इत्यवगम्यते । यतः प्रेमाधीनः स भगवान् ब्रजवासिनामाश्रयमन्तरेण स्नानपानाहार-विहार-शयनादि-कमपि कर्तुमसमर्थः । तथैव आदिपुराणे—सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः । सत्यं वदामि ते पार्थ । गोप्यः किं मे भवन्ति न ॥ इतिमाधुर्यपरा व्याख्या । एवम्भूतो यो नारायणस्तस्मादयं वक्ष्यमाणः अरामादि-हरामान्तो वर्णक्रमः अक्षरानुक्रम उद्भूत उद्गतः । तत्त्वरूपेण भगवत्येव स्थित-नित्यवर्णानां तस्मादेव प्राकट्यात्—“प्रभवै तत् स्थानमित्यपारानम् ।”

श्रीमद्भागवतेऽपि (परस्य भूम्नः) यत् किञ्च लोके भगवन्महस्वदोजः सहस्वद् बलवत् क्षमावत् । श्री ह्रीं विभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम् ॥ इत्यत्र अद्भुतार्णं माश्रयाक्षरं परस्य भूम्नो नारायणस्य परं तत्त्वं विभूतिरिति तस्मादेव लोके प्रकटितमिति

च निरूपितमस्ति । नारायण शब्दस्य सर्वविष्णुतत्त्व-वाच्यत्वेऽपि ब्रह्मवाक्येन श्रीकृष्णएव-
मूल नारायणत्वेन निश्चितः; मत्स्य-वामनादीनामवतारिणः पुरुषावतार त्रयस्यापि तदङ्ग-
त्वात् । यथा श्रीदशमे ब्रह्मस्तुतौ,—

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।

नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥

टीकाचास्य—नारो जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्य × × × × नारस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मात्
× × × × नरादुद्भूता येऽर्थाश्चतुर्विंशति तत्त्वानि तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनाद् यो
नारायण इति श्रीस्वामिपादानाम् । किञ्च नराणां द्वितीय तृतीय पुरुषभेदानां समूहो नारं
तत्समष्टिरूपः प्रथम पुरुषएव (कारणार्णवशायी); तस्याप्ययनं प्रवृत्तिर्यस्मात्सन्नारायण
इतिक्रमसन्दर्भटीकायां ग्रन्थकृद्भिः । वर्णानां क्रमः क्रमशो निर्गमनमिति वर्णक्रमः । षष्ठी-
कृष्ण पुरुषः । ननु कृष्णपुरुषस्योत्तरपदप्राधान्यात् क्रमस्यैव उद्भूत-क्रियया सह प्राधान्ये-
नान्वयः, ततो वर्णानान्तु गौणत्वेनाविर्भावप्रतीतिः स्यादिति चेत्तत्रायं विवेकः—क्रमइति
भावेऽपि, भावः खलु धात्वर्थः क्रिया । एवं सति “कर्तृ-कर्मणोः षष्ठी कृद्योग” इत्यनेन
वर्णानामिति कर्त्तरि षष्ठी, नात्र सम्बन्ध सामान्ये, क्रमेरकर्मकत्वान्नवा कर्मणि सा । ततः
क्रियाश्रयत्वं कर्त्तृत्वमित्यनुशासनाद् आश्रितस्य क्रमस्याश्रयमन्तरेण स्थिति रसम्भवा ।
तस्मात् “कृष्णागमनं सञ्जातमिति” वाक्ये कृष्णव्यतिरिक्ततया गमनस्यानुपपत्तिवदत्रच
वर्णासहकृततया क्रमस्योद्भूतत्वं नोपपद्यते । अतो मुख्यत्वेनैवोद्भूत क्रियया सह वर्णानां
क्रमस्य चोभयोश्चान्वयप्रतीतौ न कोऽपि बाधः । तस्माद् वर्णं कर्त्तृकं यत् क्रमशो निर्गमनं
तन्नारायणात् सञ्जातमित्येवं व्याख्याने हि सर्वं ससामञ्जसमिति दिक् ।

तमेव वर्णक्रमं विवृणोति—अआ इत्यादिना । यद्यप्यत्र स्वर-व्यञ्जनभेदेन सामान्यतो
वर्णानामेकोन पञ्चाशत् प्रकारत्वं दर्शितं तथापि ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-भेदेन स्वराणामुच्चारण-
स्थान वैशिष्ट्येन विसर्गस्य तेनैव भेदेन व्यञ्जनानां समवायेन त्रिषष्टिप्रकारत्वं लभ्यते ।
यथैकादशे टीकायां स्वामिपाद-धृताभियुक्तः श्लोकः—

या सा मित्रावरुण सदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं

वर्णानन्तः प्रकट करणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते ।

तां पश्यन्तीं प्रथम मुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां

वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥

अत्रक्रमसन्दर्भटीका च ग्रन्थकृताम्—या सा पराख्या, मित्रोऽग्निः वरुणः सोमः,
तयोः सदनमाधारचक्रं, तस्मात् प्राणसङ्गेनोच्चरन्ती स्वयमेव सूक्ष्ममुद्भवन्तीति त्रिषष्टिं
वर्णान्प्रसूयते । कैः—अन्तःकरणाभ्यां प्रकटकरणेन च अन्तस्थां प्रथममुदितां सतीं,
पश्यन्त्याख्यां—अन्तः पश्यति नतूच्चारयति यां तां प्रथमां, तथा बुद्धिसंस्थां उच्चारयामीति
विचारयुक्तां मध्यमां, करणविशदां—स्थानप्रयत्ननिर्मलां वैखरीं प्रपद्ये । त्रिषष्टिमिति—
ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतभेदेनाणो नव, प्लुतत्वाभावात् ऋ लृ वर्णाश्चत्वारः, ह्रस्वत्वाभावादेचोऽष्टौ,
उदात्तादिस्वरास्तु तदन्तर्गता एव । विसर्गानुस्वार-जिह्वामूलीयोपाध्मानीयाश्चत्वारः ।

एवंपञ्चविंशतिः, स्पर्शाश्च तावन्तः । एवं पञ्चाशत् । यवलाः सानुनासिका निरनुनासिका-
श्चेति षट्, रेफ एकः । नकारस्य दन्त्य-मूर्द्धन्यत्व भेदेन द्विःपाठात् श ष स ह ण नाः षट्;
एवं त्रिषष्टिरिति ।

जीवजगति तु नरदेहविशेषमद्भुतकौशलेननिर्माय स एव नारायणो वर्णत्मक-शब्द-
ब्रह्मरूपेण तत्तत् स्थानेभ्य आविर्भवति । यथैकादशे उद्धवं प्रतिभगवद्वाक्यम्,—

स एष जीवोविवर प्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।

मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥

जीवयतीति जीवः परमेश्वर इति स्वामिपादैः । स एष इत्यनेनात्मानं प्रति अंगुलिनिर्देशेन
मल्लक्षण इति भगवता हि ज्ञापितम् ।

ननु वर्णक्रमउद्भूत इत्युक्तं, तत्रकः कुत्रोद्भूत इत्याकांक्षायां तद्विशिनष्टि—एषा-
मिति । अ आ इति—एषा—मुद्भवस्थानं नारायणस्य कण्ठः । एते कण्ठ भवत्वात् कण्ठ्या
उच्यन्ते । एवमग्रेऽपि यथायोग्यमूह्यम् । एदैतोरिति—कण्ठश्च तालु च तयोः समाहारः
कण्ठतालु । एरामस्य ऐरामस्य च एकैकस्योद्भवस्थानं नारायणस्य कण्ठतालु इत्यर्थः । एवं
ओदोतोरिति च । वकारस्येति—वरामस्योद्भवस्थानं दन्तौष्ठम् ।

बाल—अथ श्रीगङ्गाश्रोतवत् साध्यानुक्रममवलम्ब्य साधुनानुक्रममनतिशीघ्रज्ञेयत्वेना-
नङ्गीकृत्य च संस्कृत-प्राकृत-पैशाच्यादि षट्पञ्चासद्भाषासु संस्कृतभाषायाः प्रधानत्वात्
तदारभमाणोऽयं गोस्वामिपादः सन्ध्यादि सप्तपादस्वरूपं ग्रन्थमाचष्टे । तत्रादौ सन्धि-
कार्यस्य सर्वप्रकरणव्यापित्वेन तत् प्रथमपरिज्ञानाय संज्ञा-सन्धिप्रकरणं प्रथमम् । तत्र
नारायणादित्यादौ पञ्चम्यादिमात्रज्ञानविषयीभूतत्वात् द्वितीयं सुवन्तम् । तत्र पदलक्षणे
तत्साधन-विष्णुभक्तिलक्षणे च धातु-तिवादिविशेषापेक्षया तृतीयमाख्यातम् । तदुभय-
सम्बन्ध-वैशिष्ट्येन विष्णुभक्त्यर्थजिज्ञासया चतुर्थं कारकम् । तत्र कर्तृ-कर्मणोः षष्ठीत्य-
त्रोट्टङ्कितेन तद्विशेषसाध्यत्वात् कृदन्तं पञ्चमम् । तत्र तत्रैवाध्यापकमुखोद्गतत्वेन कृत्प्रकरणे
तत्सूत्रकथनाच्च समासः षष्ठः । तत्रैवोट्टङ्कितत्वेन विष्णवधिदैवतो वैष्णव इत्यनुसन्धनाच्च
सप्तमस्तद्धितः । एवमेवमनेककारणमनुक्रमस्य तत्तत्प्रकरणे विवेचनीयम् । तावत् शास्त्राणां
शब्दयोनित्वेन शब्दानां वर्णमूलत्वात् प्रथमतो वर्णक्रमस्योत्पत्तिमाह ।

नारायणादिति । अयं अरामादि हरामान्तो वर्णक्रमः नारायणात् प्रपञ्चाप्रपञ्च-
सर्वकारणभूतत्वेऽपि सर्वास्मिन्नाय-तत्कारणवक्तुरुद्भूत उत्पन्न इत्यन्वयः । नारायणादिति
जनने प्रकृतिरित्यनेनापादानपञ्चमी । नारीणां नराणां वा वृन्दं नारं जलं वा तदयन
माश्रयो यस्य तस्मात् । गोपरामादिषु विहारित्वेन सर्वान्तर्यामित्वेन कारणार्णवगर्भोद-
क्षीरोदशायित्वेन च यो विराजमानः श्रीकृष्णस्तस्मादित्यर्थः । उद्भूत इति उत्पूर्वात्
भूसत्तायां भूधातोः गत्यर्थाकर्मकेत्यादिना कर्तरि भूतकाले क्तः । अत्राख्यातवन्मुख्यत्वेना-
कांक्षा पूरकत्वान्न क्रियान्तरापेक्षा । अयमिति इदमोऽयं सावित्यनेन वर्णक्रम विनिर्देशे
इदमो रूपं । वर्णक्रम इति वर्णश्चासौ क्रमश्चेति क्रमस्य विशिष्टतानुत्पत्तेः वर्णेभ्योः वर्णानां

वर्णेषु वा क्रमेति जन्यसम्बन्धविशेषस्वरूपस्य लभ्यत्वेनैव वर्णानां क्रियायं व्यावृत्ति-
वारणाय च वर्णैर्युक्तः क्रम इति मध्यपदलोपी तृतीयाः कृष्णपुरुषः सभ्यः । तुलस्युदक
मनन्ताय दातव्यमिति वत् वर्णानि उद्भूतानि तत् क्रमश्च उद्भूत इत्यर्थः । यदा तु वर्णैः
सहितः क्रम इति तदगम्ये सहशब्दे विष्णुभक्त्यर्थगुप्तत्वात् तत्समस्त एव न सार्वत्रिकः ।
यत्र यत्र समासेन विष्णुभक्त्यर्थः गुप्तः स्यान्नातिव्यक्तश्च स्यात्तत्र तत्र न समास इष्ट इति
वक्ष्यमाणत्वात् । वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे इति नानार्थवर्गः । क्रमः
परिपाटिः । तेन भगवतः श्रीनारायणस्य तदितरेषाञ्च मुखोद्गतत्वेन कण्ठाद्यभिहिता-
रामादीनामुच्चारणभेदसौष्ठवं दर्शितम् । अन्यथा वर्ण इत्येव कृते अत्वानुक्रमत्वेनैव
यथेष्टोच्चारणम् । नारायणादित्यनेन वर्णानां नित्यत्वं तदंशभूतत्वञ्च दर्शितम् । अयमित्यनेन
मुख-बाहू-पादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह । चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथगिति
श्रीभागवतोक्तत्वात् वर्णो द्विजादावित्यादि शासनाच्च कथं विप्रादिक्रमो नोच्यते इति
पूर्वपक्षोऽपि निराकृतः । यस्मान्नारायणादयं वर्णक्रमः प्रादुर्भूतः, स एवास्मदादीनाञ्च
मूलाधारादि षट्चक्रानधितिष्ठन् सूक्ष्मवागाद्यवस्थावता प्रणवरूपेण वर्णक्रमात्मकोऽपि
भवति तद् यथा । आत्मा बुद्ध्या समर्थार्थान् नियुङ्क्ते तद्विवक्षया । मनस्तद्वह्निमाहन्ति
स प्रेरयति मारुतम् । वह्नि-मारुतसंयोगात् क्षोभाद्वाग्निन्द्रियस्य च । सूक्ष्मा वाग् जायते
पूर्वं स एव कथितो ध्वनिः । तत्तत्स्थानेष्वथ यदा वायुश्चलति सेन्द्रियः । पश्यन्ती वर्णरूपा
वाक् तत् उत्पत्तिमर्हति । मध्यमा पदरूपाथो वाक्यरूपाथ वैखरी । इति वाचामवस्थाः
स्युर्मुखमध्ये तदिन्द्रियम् । अर्थ-प्रयत्नयोर्वाक्यात् श्रुतादनुमितान्मतात् । विशिष्टं खं मुखं
राति विखरा सैव वैखरी । जायते प्रादुर्भवति । तथाच भगवद्वाक्यम् । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
व्याहरन्मामनुस्मरन्निति ।

ननु स क इत्याह अ आ इत्यादि । अत्र क-प संयोगे-क्ष इति वक्ष्यमाणत्वेऽपि
क्षरामश्च दर्शितः । एते इति एते अरामादयो वर्णा अक्षराणि अलश्रोच्यन्ते इत्यन्ययः ।

सर्वेषामेव वर्णानां सामान्यतो नारायणाद्युत्पत्तिमुक्त्वा कः कुत उत्पन्न इति
पुनर्विशेषमाह एषामिति ।

अ आ । अ-आ-कवर्ग-ह-विसर्गाणामुद्भवस्थानं नारायणस्य कण्ठो भवतीति हेतोरेते
कण्ठ्या उच्यन्ते । एवमुत्तरत्रापि यथायोग्यमूह्यम् । यथोक्तमन्यैः । हृत्-कण्ठ-जिह्वं
खलु तालु मूर्द्धा दन्तास्तथोष्ठावथ नासिका च । वर्णप्रकोष्ठान्योऽध ऊर्ध्वभेदानीत्याह
चाष्टादुपदेशतोऽन्यत् ॥ तथाच शिक्षाकारा आहुः । अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठं
शिरस्तथा । जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठञ्च तालु चेति । एदैतोः कण्ठताल्वित्यत्र
क्रमो नेष्टः । तेन एरामस्य ऐरामस्य च कण्ठ-तालूद्भवस्थानमित्यर्थः । तदापि
युगपदेवेति बोद्धव्यम् ।

ओदैतोः कण्ठोष्ठमिति । वकारस्य दन्तोष्ठमित्यत्रापि युगपदेवेति बोद्धव्यम् । यद्यपि
दन्तोष्ठमित्युक्तं तथापि अविष्णुवर्गीयस्यास्य व्यवहारात् सर्वत्र दन्त्यत्वेनैव प्रसिद्धिः ॥
कण्ठतालू कण्ठोष्ठं दन्तोष्ठमिति प्राण्यङ्गानामिति समाहारः । समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वञ्चेति ॥
इत्यादिनीत्यस्य उद्भवस्थानानीत्यनेनान्वयः ॥१॥

२. तत्रादौ चतुर्दश सर्वेश्वराः ।

तस्मिन् वर्णक्रमे आदौ चतुर्दश वर्णाः सर्वेश्वर नामानो भवन्ति ।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ ए ऐ ओ औ ।

एते स्वरा अचश्च प्राचीनानाम् । एते स्वतन्त्रोच्चारणाः ।

कादीनामुच्चारणश्चैषामधीनमिति सर्वेश्वराः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।

मात्रालाघवमात्रं पुत्रोत्सव इति परेऽभिमन्यन्ते ।

हरिनामाक्षर लाभाद् वयं त्वमूढकृत् तिरस्कुर्मः ॥

तत्त्व०—२. ननु सत्सु बहुप्रकरणेषु कथं संज्ञैव प्रथमं कथ्यते? तदालोच्यते, व्यवहारार्थं कृतः संकेतः संज्ञेति रीत्या व्यवहारोपयोगार्थं प्रथमन्तावत् संज्ञाया एव प्रयोजनत्वात्तस्याः सर्वपाद व्यापित्वाच्चादौ संज्ञाप्रकरणं प्रपञ्चयति—तत्रादाविति । ईष्टे नियमयतीति ईश्वरः । “स्थाईश” इत्यनेन वरप्रत्ययः । सर्वेषां प्राकृताप्राकृत-जगतामखिल शब्दानाञ्च ईश्वरो नियन्ताश्रयश्चेति सर्वेश्वरः । स्वयं प्रकाश रूपत्वादन्वेषां प्रकाशकत्वाच्च बहुमूर्त्येकमूर्तिकः श्रीकृष्णः स्वरश्च । ततश्च सर्वेश्वरश्च सर्वेश्वरश्च सर्वेश्वरश्चेत्यादि चतुर्दश सर्वेश्वराणामेकशेष इति सर्वेश्वराः ।

एत इति—अरामाद्यौरामान्तानां चतुर्दशवर्णानां प्रत्येकं स्वरः अच् इति च प्राचीनानां संज्ञेत्यर्थः । स्वेनैव राजत इति स्वरः । अतः स्वराज्श्रीकृष्णेन सह तत्सादृश्यम् । स्वतन्त्र-मनन्यनिरपेक्षमुच्चारणं येषां ते स्वतन्त्रोच्चारणाः । कादीनामिति—करामादीनामुच्चारणं चकारादनुस्वार-विसर्गादिः स्थितिश्चैषामधीनमिति हेतोः सर्वेश्वराः । सर्वेश्वर प्रयोजन-इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे इत्यादौ ।

यथा श्रीकृष्ण एव चतुर्दश-मन्वन्तरावतार रूपेणात्मानं प्रकटीकृत्य विश्वकार्यं विशेषान् समादधाति, तथायं स्वरश्च अ आ इत्यादि चतुर्दशमूर्तिः परिगृह्णन् शब्दशास्त्रं कार्यं विशेषान् सम्पादयतीति भावः । मन्वन्तरावतारा यथा,—यज्ञो विष्णुः सत्यसनो हरिर्वैकुण्ठोऽजितो वामनः सार्वभौम ऋषभो विष्वक्सेनो धर्मसेतुः सुधामा योगेश्वरो बृहद्भानुश्चेति लघुभागवतामृतम् ।

बाल०—संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च । अतिदेशोऽधिकारश्चेति सूत्राणि पङ्क्तिविधानि । तेषु प्रथमनिर्दिष्टतया संज्ञाया एव प्राधान्यात् प्रथमं संज्ञासूत्राण्येव कुर्वन् तत्रापि सर्वव्यापकतया आदौ सर्वेश्वरसंज्ञमाह तत्रेति आदिशब्दोऽत्र प्रथमवाचकः ॥ एते स्वतन्त्रोच्चारणा इति एते चतुर्दशवर्णाः स्वतन्त्रोच्चारणा भवन्ति । स्वतन्त्रं निरपेक्षं कादीनामनधीनमुच्चारणं येषां ते स्वतन्त्रोच्चारणाः कादीनां वर्णानामुच्चारणञ्चैषां वर्णानामधीनं भवतीति हेतुः सर्वेश्वरा उच्यन्ते । सर्वेषां स्थावर-जङ्गमादीनामीश्वरः सर्वेश्वरशब्देन सर्वावतारी स्वयम्भगवान् कृष्ण उच्यते इति भगवन्नामता प्रसिद्धिः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयमिति एवमुक्तप्रकारेण सर्वेश्वरादन्यत्रापि दशावतारादिसंज्ञासु च

३. दश दशावताराः ।

तत्रादौ दश वर्णा दशावतारनामानो भवन्ति ।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ । एते समाना अकश्च प्राचीनानाम् ।

शक्तिप्रकाश-तारतम्येन वर्णाकार-नाम-भेदत्वेऽपि कृष्णस्वरूपाभिन्नत्वात् स्वप्रकाश-त्वाच्च विष्णु रूपमात्रं सर्वेश्वरः । अतस्तत्रैव श्रीलरूपगोस्वामिनोक्तम्—× × × परेशत्वात् पूर्णा यद्यपि तेऽखिलाः × × × शक्ते व्यक्तित्वाऽव्यक्ति स्तारतम्यस्य कारणमिति ।

ननु स्वल्पाक्षरमनल्पार्थं विशुद्धं सर्वतोमुखम् विशेष कथनापेक्षं सूत्रमिति सूत्र-लक्षणरीतिमवलम्ब्य हि प्राचीनैर्मुनिभिश्च व्याकरण-प्रणयने मात्रालाघवमङ्गीकृतम्, तस्य तु कथमत्र व्यभिचारः ? तत्र सहेतुकमाक्षिपति—मात्रेति । मात्रा उच्चारण काल विशेषः । यथा,—कालेन यावता पाणिः पर्येति जानु मण्डले । सा मात्रा कविभिः प्रोक्ता ह्रस्व-दीर्घप्लुते मता ॥ इति प्राचीनाः । मात्राया लाघवमात्रमल्पता एव पुत्रोत्सवः पुत्रजन्मजन्य आनन्द इति परे अपरे सूत्रकाराचार्या अभिमन्यन्ते अभिनन्दन्ति । 'मात्रं कात्स्न्येऽवधारण' इत्यमरः । वयन्तु हरिनामाक्षर लाभानन्दतोः अमूढक् तेषां मात्रालाघवजं तादृगभिमननं तिरस्कुर्मः नाद्रियामहे । तादृशतुच्छ-जडानन्दतो हरिनामाक्षर-लाभज-चिदानन्दस्य कोटि-गुणाधिक्यात् ।

तत्त्व०—३. दशेति । प्रपञ्चे अवतरति प्रकटयत्यात्मानमिति अवतारः । दश अवतारा यस्य स दशावतारः श्रीकृष्णः । दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नम इति गीतगोविन्देऽपि । पक्षे दशावतार इति संज्ञायां रूढिः । एवमग्रेऽपि संज्ञासु रूढित्वं बोध्यम् । ततोऽरामादि लृ-रामान्त दशवर्णानां प्रत्येकं दशावतार संज्ञक इत्यर्थः । तत् प्रयोजनं—दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यादौ ।

दशावतारा यथा,—मत्स्यः कूर्मो वराहो नृसिंहो वामनः परशुरामो रामो बलराभो बुद्धः कल्किश्चेति । दशावताराणां स्वरूपतः सर्वेश्वरत्वेऽपि कार्यविशेष-साधनाय गृहीतान्यविग्रहवदेतन्नामकरणम् । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ।

गुणानुरूपं नामकरणं ज्ञेयं, यथा सर्वेश्वरशब्दस्यार्थकृतस्तथा अन्य संज्ञाशब्दस्यापि अर्थो ज्ञेय इत्यर्थः ॥

अत्र शास्त्रे मात्रालाघवे तात्पर्यं नास्तीत्याह मात्रेति । मात्रालाघवमेव मात्राल्पतैव पुत्रोत्सववद्भवतीत्येतद्वचने अपरे पण्डिताः अभिमन्यन्ते सत् कुर्वन्तीत्यर्थः । मात्रं कात्स्न्येऽवधारण इति नानार्थवर्गः । वयं पुनः अमूढक् अदः मात्रालाघवमात्रं पुत्रोत्सव इति तिरस्कुर्मः । अत्र हेतुर्हरेति ॥२॥

बाल०—दश दशा सुगमम् । अत्र सर्वेश्वरेषु दशावतारशब्देन मत्स्य कूर्मादय उच्यन्ते, इति हेतुर्भगवन्नामता ॥३॥

४. तेषां द्वौ द्वावेकात्मकौ ।

तेषां दशावताराणां मध्ये क्रमेण द्वौ द्वौ वर्णौ प्रत्येकं परस्परञ्चैकात्मकौ ज्ञेयौ । यथा अ आ इति द्वौ एकात्मकौ, इ ई इति द्वौ, एवं उ ऊ इत्यादि । अत्र सवर्णसंज्ञा च । प्रत्येकमेकात्मकत्वं स्पष्टमेवेति परस्परार्थमिदं सूत्रम् ।

५. पूर्वो वामनः ।

तेषामेकात्मकानां पूर्व-पूर्वो वर्णो वामननामा । अ इ उ ऋ लृ । एते ह्रस्वा निर्ह्रस्वाश्च ।

६. परस्त्रिविक्रमः ।

तेषामेकात्मकानां परपरो वर्णस्त्रिविक्रमो नामा । आ ई ऊ ऋ लृ । एते दीर्घाश्च ।

तत्त्व०—४. तेषामिति । एकोऽद्वितीय आत्मा-स्वरूप यस्य स एकात्मकः । स्वयं-रूप-श्रीकृष्णेन सह तत्प्रकाश-विलास-रूपयोरिवाभिन्न स्वरूप इत्यर्थः । रासलीला-दावेकस्यैव श्रीकृष्णस्यानेकत्राभिव्यक्तिः प्रकाशः । ब्रह्ममोहनादौ तस्यहि बहुनारायणाभि-व्यक्तिस्तु विलासः । तदेकात्मरूपत्वाद् बलरामादिः स्वरूपो लक्ष्म्यादिः शक्तिश्चापि विलासो ज्ञेयः । प्रत्येकमिति—अराम-अरामौ, आराम-आरामौ च । परस्परविति—अराम-आरामौ, आराम-अरामौ चेत्यादि ज्ञेयम् । तत् प्रयोजनं—दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यादौ । सवर्णं संज्ञेति—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णं मिति प्राञ्चः । तत्रापि एद्वयत्रोद्वययोः प्रत्येकमेव सवर्णत्वं स्वीकुर्वन्ति न तु परस्परम् । तस्माद्दशावताराणामेव परस्परमेकात्मकत्व-कथनेन सर्वेषां सर्वेश्वराणां प्रत्येकमेकात्मकत्वं सूचितं ग्रन्थकृता—प्रत्येकमित्यादिना ।

तत्त्व०—५. पूर्व इति । स्फुटार्थम् । दैत्यराज-वलेर्मखे दक्षिणार्थी वामनावतारः प्रसिद्धः । तस्य ह्रस्वविग्रहत्वात् सादृश्यम् । एत इति—एतत् पञ्चवर्णानां प्रत्येकं ह्रस्वः एकमात्रकः, निर्ह्रस्वश्च द्विमात्राकारवैशिष्ट्येन दीर्घोऽपि भवति । निर्गतो ह्रस्वो यस्मात् स निर्ह्रस्व इति विग्रहः ।

बाल०—तेषां । सुगमम् । एकः अद्वितीय आत्मास्वरूपं यस्य स एकात्मकः एकात्मकशब्देन ब्रह्मावापन्नजीव उच्यते । अथवा हरिहराद्वैतता । तेनैकात्मकशब्दस्य भगवन्नामता । प्रत्येकमिति अतावित्यर्थः । परस्परमिति अदाभावित्यर्थः । एवमन्य-त्रापि ज्ञेयम् ॥४॥

बाल०—पूर्व । पूर्व इति त्रिविक्रमापेक्षया बले रध्वरगतस्य भगवतः प्रथमतो ह्रस्व-विग्रहप्रकटनेनैव वामनत्वं प्रसिद्धमिति भगवन्नामता ॥५॥

७. त्रिमात्रो महापुरुषः ।

त्रिमात्रत्वेनोच्चार्यमाणो वामनस्त्रिविक्रमश्च महापुरुषसंज्ञः स्यात् । एष दूराह्वाने गाने रोदनादौ च प्रसिद्धः । प्लुतसंज्ञश्च । यथोक्तम्,—

एकमात्रो भवेद्भ्रूस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।

त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यङ्गनश्चार्द्धमात्रकम् ॥ इति

आदित्रयस्य कुक्कुटस्तौ क्रमेण प्रसिद्धिः । अत्र महापुरुषे वामनमपि त्रिविक्रममुच्चारयन्ति लिखन्ति च तज्ज्ञाः । आगच्छ भो विष्णुमित्रा ३ आगच्छ । आगतोऽस्मि भो विश्वपा ३ आगतोऽस्मि ।

तत्त्व०—६. परइति । स्फुटार्थम् । पश्चात् वलेः सकाशात् त्रिपादभूमि याचनेन प्रकटितवृहद्वपुस्तया वामन एवत्रिविक्रमः प्रसिद्धः । तस्यदीर्घाकृतित्वात् सादृश्यम् । तत्प्रयोजनं—दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यादौ ।

तत्त्व०—७. त्रिमात्र इति । पुरिशयनात् पूरणाद् वा पुरुषः, महांश्चासौ पुरुषश्चेति महापुरुषः । महापुरुषशब्देन महत्स्रष्टा विराड्देहो महाविष्णुरुच्यते । अंशावताराणां-मंशिनस्तस्य त्रिविक्रमादपि दीर्घावयवत्वं प्रसिद्धम् । विराड्देहत्वमस्य तटस्थ लक्षणं, स्वरूपलक्षणन्तुःविशुद्धसत्त्वोर्जितं द्वात्रिंशलक्षणान्वितं हि रूपम् । श्रीकृष्णसन्दर्भे ग्रन्थकृद्भिः श्रीभागवतपद्येन तदेवनिरूपितम् । यथा,—“अथ तटस्थ-स्वरूपलक्षणाभ्यां तदेवविशिनष्टि-यस्या-वयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः । तद् वै भगवतोरूपं विशुद्धं सत्त्व मूर्जितम् ॥ इति । महापुरुषस्य स्वरूपतो द्वात्रिंशलक्षणं श्रीचरितामृते यथा,—पञ्च सूक्ष्मः पञ्च दीर्घः सप्त रक्तः षडुन्नतः । त्रिह्रस्व-पृथु गम्भीरो द्वात्रिंशलक्षणो महान् ॥ इति । तत्र पञ्चसु त्वक् केशांगुलिपर्व दन्त रोमसु सूक्ष्मः । पञ्चसु—नासा भुज हनु नेत्रजानुषु दीर्घः । सप्तसु-नेत्रान्त-करतल-तालु-अधरौष्ठ-जिह्वा-नखेषु रक्तः । षट्सु—वक्षोनख-नासिका-कटि-मुखेषु उन्नतः । त्रिषु—ग्रीवा जङ्घा-मेहनेषु ह्रस्वता । पुनः स्त्रिषु—कटि-ललाट-वक्षेषु पृथुता । पुनस्त्रिषु—नाभि-स्वर-सत्त्वेषु गम्भीरता इति श्रीचक्रवर्तिपादैर्विवृतम् । प्लुत संज्ञश्चेति—प्राचीनानामिति शेषः । महापुरुष प्रयोजनं—महापुरुषस्य चेत्यादौ ।

बाल०—पर इति । वामनापेक्षया पश्चाद्वलेः सकाशात् त्रिपादभूमियाचनेन भगवतो वृहद्वपुःप्रदर्शनात् त्रिविक्रमत्वम् इत्यस्य भगवन्नामता ॥६॥

बाल०—त्रिमात्र इति । महापुरुषशब्देन सर्वसल्लक्षणान्वित-पुरुष उच्यते स भगवानेव नान्योऽतोऽस्य भगवन्नामता । अत्र शास्त्रान्तरस्य लक्षणमुच्यते । ‘न्यग्रोधपरि-मण्डलो महापुरुषः’ । ‘पञ्चदीर्घः पञ्चसूक्ष्मः सप्तरक्तः षडुन्नतः । त्रिह्रस्वः पृथुगम्भीरो द्वात्रिंशलक्षणो महान्’ ॥ एतैरुपलक्षितो महापुरुषः । आदित्रयस्य ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतरूपस्य कुक्कुटध्वनौ । तज्ज्ञा महापुरुषज्ञाः पण्डिताः ॥७॥

८. अ आ वर्जिताः सर्वेश्वरा ईश्वराः ।

अ आ इति वर्णद्वयवर्जिताः सर्वेश्वरा ईश्वरनामानः । इ ई उ ऊ ऋ
ॠ ए ऐ ओ औ । एते नामिन इचश्च ।

९. दशावतारा ईशाः ।

अ आ वर्जिता दशावतारा ईशनामानः । इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ ।
एते इकश्च ।

१०. अ आ इ ई उ ऊ अनन्ताः । अनश्च ।

११. इ ई उ ऊ चतुःसनाः । इनश्च ।

तत्त्व०—८. अ आ वर्जिता इति । इरामादि औरामान्तानां द्वादशवर्णानां प्रत्येक
मीश्वर संज्ञक इत्यर्थः । तत् प्रयोजनं—र ईश्वरात्सर्वेश्वरेत्यादौ । सर्वेश्वरस्य (कृष्णस्य)
मासाधिदेवतरूपेण यथेश्वर संज्ञा तथैषामपीति ज्ञेयम् । मार्गशीर्षादिक्रमेण द्वादशमासा-
नामधीश्वरा यथा,—केशव-नारायण-माधव-गोविन्द-विष्णु-मधुसूदन-त्रिविक्रम-वामन-
श्रीधर-हृषीकेश-पद्मनाभ-दामोदरा इति श्रीचैतन्य चरितामृतम् ।

तत्त्व०—९. दशावतारा इति । ईष्टे प्रभवतीति ईशः प्रभुः । “ईशोद्धवेत्यादिना कः ।
इरामादि लूरामान्तानामष्टानां प्रत्येकं ईशसंज्ञकः स्यात् । तत् प्रयोजनं—ईशस्यानेकात्मके
वामनश्च वेत्यादौ । प्रकृतेरष्टावरणानामधीश्वरदेतेऽपीशसंज्ञका इत्यर्थः । क्षित्यप्तेजो-
महद्व्योमाहंकार-महत्तत्त्व-प्रकृतीनां क्रमेणाष्टावरणाधीशा यथा,—वराह-मत्स्य-सूर्य-
प्रद्युम्नानिरुद्ध संकर्षण-वासुदेव-परमेश्वरा इति बृहद् भागवतामृतम् ।

तत्त्व०—१०. अ आ इति । न विद्यतेऽन्तो यस्य स अनन्तः श्रीवलदेवादिः । अरामादि
ऊरामान्तानां षण्णां प्रत्येकं वर्णः अनन्त संज्ञकः । तत्प्रयोजनं—औरामान्तामनन्तानाञ्चा-
व्ययानामित्यादौ । कृष्णलोके (गोलोके गोकुले वा) मूलानन्तो वलदेवः, परव्योम्नि
सङ्कर्षणः, कारण-गर्भ-क्षीराब्धिषु सहस्रशीर्षास्त्रयः, पाताले सहस्रफणः शेषाख्यश्चेति
पडनन्ता ज्ञेयाः । सङ्कर्षणान्तर्गतत्वाद् लक्ष्मणस्य पृथक्त्वेन नोक्तिः ।

बाल०—अ आ । सुगमम् । ईश्वरशब्देन मायानियन्ता भगवान् उच्यते इत्यस्य
भगवन्नामता ॥८॥

बाल०—दशा । सुगमम् । ईशशब्देन मायामुग्धजीवनिकायनियामको भगवान्
उच्यते, अतोऽस्य भगवन्नामता ॥९॥

बाल०—अ आ इ ई । सुगमम् । अनन्तशब्देन सहस्रफणः शेषः उच्यते, इत्यस्य
भगवन्नामता ॥१०॥

१२. उ ऊ ऋ ॠ चतुर्भुजाः । उकश्च ।

प्रयोजनाभावात् लृ लृ न गृह्येते ।

१३. ए ऐ ओ औ चतुर्व्यूहाः । सन्ध्यक्षराणि एचश्च ।

एते सर्व एव त्रिविक्रमाः ।

१४. अं इति विष्णु चक्रम् ।

तत्त्व०—११. ई ई इति । चतुर्णां सनानां समाहार इति चतुः सनः । नपुंसके प्राप्ते “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति” महाभाष्य-वचनवलात् पुंस्त्वम् । “सनशब्दात् चतुर्व्वेव चतुःसन इति स्मृतः” इति लघुभागवतामृतोक्तेश्च तेभगवदवतार-विशेषाः । इरामादि ऊरामान्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुःसन संज्ञकः । प्रयोजनं—धातोश्चतुः सनस्येयुवौ इत्यादौ । चतुः सनास्तु सनक-सनन्दन-सनत् कुमार-सनातना विख्याता एव ।

तत्त्व०—१२. उ ऊ इति । उरामादि चतुर्णां प्रत्येकं चतुर्भुजसंज्ञः स्यात् । चत्वारो-भुजा यस्य स चतुर्भुजो नारायणः । शुक्लरक्त-कृष्ण-पीताश्चत्वारो युगावतारा हि चतुर्भुजा उच्यन्ते । सत्य-त्रेता-द्वापर-कलिषु क्रमेण ध्यान-यज्ञ-परिचर्यानामुसंकीर्त्तनरूपं युगधर्म-चतुष्टयं प्रवर्त्तयितुं शुक्लरक्त-कृष्ण-पीतैराविर्भवन्ति चत्वारो युगावतारा इति तत्त्वं,— “शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गत” इत्यादि श्रीगर्गवाक्यैः पर्यालोचनीयम् । एवं सति स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य तथा तस्यैवाविर्भावविशेष श्रीगौरस्य च युगावतार-दोषावतिशेत्तदा समाधानरीतिश्चैषा,—स्वयम्भगवति आविर्भूते सति युगावतारश्च स्वातन्त्र्येण नावतीर्य तस्मिन्नेव मिलति । अथ स्वयम्भगवानपि तदुपयोगि-कार्यदृष्ट्या युगावतारत्वेन कथ्यत इति । चतुर्भुजप्रयोजनं—अचश्चतुर्भुजानुबन्धानाञ्च नुमित्यादौ ।

तत्त्व०—१३. ए ऐ इति । चतुर्णां व्यूहानां देहानां विग्रहाणामिति यावत् समाहार इति पूर्व्ववत् समासे पुंस्त्वम् । “व्यूहस्तु देहसैन्ययो” रिति त्रिकाण्ड शेषः । एरामादि चतुर्णां प्रत्येकं चतुर्व्यूह संज्ञकः । चतुर्व्यूह शब्देन वासुदेव-संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धा उच्यन्ते । सन्धियुक्तानि च तान्यक्षराणि चेति सन्ध्यक्षराणि, मध्यपदलोपि-श्यामरामः । अद्वयमिद्वये ए, उद्वये ओ, एद्वये ऐ, ओद्वये औ इति वक्ष्यमाण सन्धिसूत्र-चतुष्टयेन निष्पन्ना एते । प्रयोजनं—चतुर्व्यूहान्तानामारामान्तपाठोऽशिवे इत्यत्र ।

बाल०—ई इ चत्वारः सना यत्र ते चतुःसनाः । चतुःसनशब्देन सनक-सनातन-सनन्दन-सनत्कुमारा उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥११॥

बाल०—उ ऊ । सुगमम् । चत्वारो भुजा येषां ते चतुर्भुजाः । चतुर्भुज-शब्देन नारायण उच्यते, अतो भगवन्नामता ॥१२॥

बाल०—ए ऐ । सुगमम् । चत्वारो व्यूहा येषां ते चतुर्व्यूहाः । चतुर्व्यूह-शब्देन वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धा उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥१३॥

अकार उच्चारणार्थः । विन्दुस्वरूपो वर्णो विष्णुचक्रनामा । अनुस्वारो विन्दुर्लवश्च ।

१५. अँ इति विष्णु चापः ।

अर्द्धं चन्द्राकृति वर्णो विष्णुचापनामा । अनुनासिकश्च । नासिका-भवोऽयम्, सानुनासिकस्तु मुखनासिकाभवः ।

१६. अः इति विष्णु सर्गः ।

विन्दुद्वयाकारो वर्णो विष्णुसर्गनामा । विसर्गो विसर्जनीयो विसृष्टोऽभि-निष्ठानश्च ।

तत्त्व०—१४. अं इति । चकते प्रतिहन्तीति चक्रम् । विष्णोश्चक्रं विष्णुचक्रं सुदर्श-नाख्यम् । विन्दुस्वरूप वर्णस्य चक्रवद् गोलाकृतित्वात् सादृश्यम् । प्रयोजनं—सोविष्णुचक्रं विष्णुजने इत्यादौ ।

तत्त्व०—१५. अँ इति । अकार उच्चारणार्थः । चापस्य वेणोर्विकारश्चापः । विष्णोश्चापो धनुरिति विष्णुचापः शाङ्गमिति प्रसिद्धम् । अर्द्धं चन्द्रेति—अर्द्धं चन्द्रस्य अर्द्धं चन्द्रः, सद्वाकृतिर्यस्य सोऽर्द्धं चन्द्राकृतिः, सचासौ वर्णश्चेति अर्द्धं चन्द्राकृतिवर्णः, नाद इत्यपरनामा; सोऽपि सविन्दुरिति विशेषणमुन्नेयम् । “नादाद् विन्दुरजायत” इत्यागम-वचनेन तस्य विन्दुगर्भाकृतित्व-सूचनात् । सानुनासिकस्त्विति—अनुनासिकेन सहैति सानुनासिको वर्णः । नादस्य स्वतन्त्रोद्धारणाभावादसौ मुखभवं यद्वर्णमाश्रित्योद्धार्यते स सानुनासिकः, मुख नासिकाभव एवेत्यर्थः । प्रयोजनं—नोऽन्तश्चतयोः शरामो विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वेत्यादौ ।

तत्त्व०—१६. अः इति । विष्णोः सर्गोऽधाम इति विष्णुसर्गः । श्रीमद् भागवते

बाल०—अ इति सुगमम् । विष्णोश्चक्रं विष्णुचक्रम् । विष्णुचक्रशब्देन सुदर्शनाख्य-मस्त्रमुच्यते, इति भगवन्नामता । विन्दुर्लवेति विन्दुर्लवेण्यव्यम्नेति मेदिनी ॥१४॥

बाल०—अँ इति । सुगमम् । अकार उच्चारणार्थः । चन्द्रस्य अर्द्धः अर्द्ध-चन्द्रः । अर्द्धं चन्द्र इवाकृतिराकारो यस्य सोऽर्द्धं चन्द्राकृतिः । अर्द्धं चन्द्रा-कृतिश्चासौ वर्णश्चेति अर्द्धं चन्द्राकृतिवर्णः । इत्यस्य सविन्दुरित्यपि विशेषणमूह्यं चन्द्रविन्दुत्वेनैव प्रसिद्धः । नादाद्वायुरजायत विन्दोराकाश सम्भूतिरित्या-गमाच्च । विष्णोश्चापः विष्णुचापः । चाप-शब्देन धनुरुच्यते, अतो विष्णुचापः शाङ्गमित्यस्य भगवन्नामता ।

नासिकाभवोऽयमिति अयमनुनासिको नासिकाभवः । अनुनासिका-सहितवर्णस्तु मुखनासिकाभवः । वर्णो मुखभवः अनुनासिको नासिकाभव इत्यर्थः । वर्णानां कण्ठतात्वादि-भवत्वेनैव मुखभवत्वं विद्यत एवेति ॥१५॥

बाल०—अः इति । सुगमम् । अकार उच्चारणार्थः । सर्गः सृष्टिः । विष्णोः सर्गो

१७. कादयो विष्णुजनाः ।

ककारादयो हकारान्ता वर्णा विष्णुजन नामानो भवन्ति । विष्णोः सर्वव्यापकतया सर्वेश्वरस्य जनाइव तस्याधीना इत्यर्थः । क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह । क ष संयोगे तु क्ष । एते व्यञ्जनानि हलश्च ।

मङ्गलाचरणे—“यत्र त्रिसर्गोऽमृता” इत्यत्र त्रिसर्गः श्रीगोकुल-मथुरा-द्वारका वैभव प्रकाश इति श्रीग्रन्थकृद्भिः । “धामास्य द्विविधं प्रोक्तं मायुरं द्वावती तथेति” लवुभागवतामृतं मथुरा-गोकुलयोर्मथुरान्तर्गतत्वाद्दाम्नो द्वैविध्यमुक्तम् यद्वा “मायुरश्च द्विधा प्राहुर्गोकुलं पुरमेव चेति” लवुभागवतामृतोक्तेः मथुरा-गोकुलमित्याकार द्वयेन मायुरस्येव विन्दुद्वयाकारेण विष्णुसर्गस्य नित्यस्थितिरिति च ज्ञेयम् ।

यद्यपि सर्गशब्देन सृष्टि रूच्यते तथाप्यत्र नित्य भगवद्दाम्नः सृष्ट्यभावात् “तद्धाम तदनन्तांश-सम्भवमिति” ब्रह्मसंहिता वाक्येन विष्णुसर्गस्य लीलोपयोगितया प्रपञ्चे प्रकाशः सम्भवेदेव । “सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदमिति” तत्रत्य प्रमाणेन कमलाकारत्वाद्दाम द्वयस्य द्विविन्दुसाम्यम् । प्रयोजनं—विष्णुसर्गो जिह्वामूलयः कखयोर्वेत्यादौ ।

तत्त्व०—१७. कादय इति । वेवेष्टि व्याप्नोति विश्वमिति विष्णुः । विषेः किच्चेतिनुः । मुक्तप्रग्रहवृत्त्या विष्णु शब्दोऽत्र कृष्णे पर्यपस्यति । तथाहि—“यथा राधा प्रिया-विष्णोरिति”, विक्लीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोरिति” च पाञ्च-भागवतयोः । तस्य जना विष्णुजनाः कृष्णपरिकरा इत्यर्थः । करामादि-हरामान्तानां वर्णानां प्रत्येकं विष्णुजनसंज्ञकः स्यात् । एवमग्रेऽपि यथायोग्यं बोध्यम् । विष्णोरिति—सर्वव्यापकतया हेतुना विष्णोः सर्वेश्वरस्य जना इव एते विष्णुजनास्तस्य सर्वेश्वर-विष्णोरधीना भवन्ति । सर्वव्यापकत्वाद् विष्णुरेव सर्वेश्वरः । तस्य जना यथा तदधीना भवन्ति तथाचैते कादयो विष्णुजनसंज्ञवर्णास्तस्य सर्वेश्वरसंज्ञ वर्णस्य अधीनास्युरिति सरलार्थः । सर्वेश्वराश्रयंविना विष्णुजनोच्चारणस्या सम्भवात्तदधीनोच्चारणा इति तात्पर्यम् ।

विष्णुजनशब्देन व्रजपुरभेदेन गोपाल-यादवादि कृष्णपरिकरा उच्यन्ते । विष्णुजन-संज्ञासु नाममात्रं साम्यं, संख्या साम्यन्तु न विवक्षितम् । प्रयोजनं—विष्णुजनो विष्णुजने हरौ विनेत्यादौ । विष्णुजना व्रजे यथा—श्रीनन्दोपानन्दादिपितुर्गणाः, श्रीदामसुवलादि सखायः, भागुरि-वेदगर्भ प्रमुख-विप्राः, मधुमङ्गल-पुष्पाङ्गादि विदूषकाः, कडार-गन्धवेद-प्रभृति विटाः, रक्तक-पत्रक प्रभृति चेटाः, पृथुक-पार्श्वगादि-ताम्बूलिकाः, पयोद-वारिद-

विष्णुसर्ग इति विष्णुसर्गशब्दस्यार्थः ब्रह्मलोकोपरि वैकुण्ठ-ध्रुव-लोकयोर्विन्दुद्वयाकारत्वेन विष्णुसर्गस्य प्रसिद्धिरित्यस्य भगवन्नामता ॥१६॥

बाल०—कादयः । सर्वेश्वरस्येत्यनन्तरं कृष्णस्येति बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते, तत्तु लिपिकरप्रमादकृतम् । विष्णुर्यथा सर्वव्यापकतया धर्मेण आब्रह्मस्तन्व पर्यन्ताः स्थावर-

१८. य वर्जितास्तु वलाः । वलश्च ।

१९. ते मान्ताः पञ्च पञ्च विष्णुवर्गाः ।

ते ककारादयो मकारान्ता वर्णाः पञ्च पञ्च विष्णुवर्गा भवन्ति । एते वर्गश्च । क ख ग घ ङ इति कवर्गः । एवं चवर्गः टवर्गः तवर्गः पवर्गश्च । एते कु चु टु तु पु नामानश्च । स्पर्शास्तु सर्वे एव ।

मुख्य-जलसेवकाः, सारङ्ग-वकुलादि-वस्त्रसेवकाः, प्रेमकन्द-महागन्ध-प्रधान-वेश काराः, सुमनः-कुसुमोत्पलासादि-गान्धिकाः, स्वच्छ-सुशीलादि क्षौरकाराः, विमल-कोमलादि-पीठ-वाहकाः, चतुर-चारणादि चराः, तुङ्ग-वावट्टकादि-द्युताः, शोभन-दीपनादि-दीपधारिणः, सुधाकर-सानन्दादि-मार्दङ्गिकाः, विचित्र-मधुरव-प्रमुख-वन्दिनः, चन्द्रहासेन्दुहासादि-नर्तकाः, कलकण्ठ-सुकण्ठादितालधारिणः, रोचिक-सौचिकादि-वस्त्रशिल्पिनः, पुण्यभाग्य प्रभृति-हडिडपाः, रङ्गण-टङ्कनादि-स्वर्णकाराः, पवन-कर्मठादयः कुलालाः, वद्विक-वर्द्ध-मानादि-सूत्रधारिणः, सुचित्र-विचित्र प्रभृति चित्रकरा इत्यादयः । एवं पुरेऽपि यथायोग्य-मनुसन्धेयम् ।

तत्त्व०—१८. य वर्जिता इति । यरामवर्जिता विष्णुजना वलनामानो भवन्ति । वलो वलरामः कालिन्दीभेदनो वल इत्यमरः । विष्णुतत्त्वान्तर्गतत्वेऽपि श्रीवलदेवस्य दासाभिमान-स्वाभाव्याद विष्णुजनान्तः पातोज्ञेयः । “प्रायो मायास्तु मेभर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनीति” कृष्णमुद्दिश्य वलदेवस्य स्वगतोक्तेः प्रयोजनं—यवयोर्हरो वले इत्यादौ ।

तत्त्व०—१९. ते मान्ता इति । ते मान्ता हरिमित्र-हरिगोत्राणि वर्जयित्वा विष्णु-जनाः पञ्चशो विष्णु वर्ग-संज्ञका भवन्ति । विजातीयत्वेऽपि समान धर्मभिः प्राणिभिरप्रा-णिभिरूप लक्षितं वृन्दं वर्ग इत्यमरभरतौ । विष्णोः कृष्णस्य वर्गा वैश्याभीरादि वैजात्येऽपि सत्त्विदानन्द स्वरूप-समानधर्मयुक्ताः परीवारा इति विष्णुवर्गाः । ते च पञ्चधा यथा—ते कृष्णस्य परिवारा येजना व्रजवासिनः । पशुपाला स्त्रिधा वैश्या आभीरा गुर्जरा स्तथा । सर्ववेदविदो विप्रा याजनाद्यधिकारिणः । वहिष्ठाः कारव प्रोक्ता नानाशिल्पोपजीविनः । एभिः पञ्चविधैरेव परिवारा हरे रिह । इति श्रीमद्रूप-पाद कृत-श्रीकृष्णगणोद्देशः ।

पत्रान्तरे—“कत्व-खत्वादिना विजातीयत्वेऽपि उद्भवस्थानसाम्यमस्ति” इत्यमर टीकायां भरतः । एते सर्वे स्पर्श नामानः, तत्तदुद्भवस्थानस्पर्शेणोच्चार्यमाणत्वादित्यर्थः । प्रयोजनं—विष्णुचक्रस्य हरिवेणु विष्णुवर्गे इत्यादौ ।

जङ्गमादयः सर्वे जनास्तस्य विष्णोरधीनाः सन्ति, तथैव सर्वेश्वरस्य सर्वेश्वरसंज्ञवर्णस्य कादयो विष्णुजना वर्णा अधीना भवन्ति । विष्णुजनशब्देन सुनन्दनमुखाः पार्श्वदा उच्यन्ते, इति हेतुर्भगवन्नामता ॥१७॥

बाल०—य व वर्जिताः । सुगमम् । य व वर्जिता विष्णुजना वलनामानो भवन्ति । वलशब्दो वलरामवाची, इति भगवन्नामता ॥१८॥

२०. ज वर्जितास्तु विष्णुगणाः ।

मयश्च । तत्र समानवर्गः सवर्ग उच्यते सवर्णश्च ।

२१. क च ट त पा हरिकमलानि । प्रथमाश्चयश्च ।

२२. ख छ ठ थ फा हरिखड्गाः । द्वितीयाश्छफश्च ।

२३. ग ज ड द वा हरिगदाः । तृतीया जशश्च ।

यथा नन्द-रक्तक-पयोद-भागुरि-विचित्रादयो विष्णुजनाः क्रमशः पञ्च परिवारान्तर्गता स्तथा करामादि पञ्चविंशति विष्णुजनाः पञ्च वर्गान्तर्गता इति सादृश्यम् ।

तत्त्व०—२०. ज वर्जिता इति । तत्रैव—यूथस्यावान्तरा भेदा इत्यादौ नवधाभेद निर्णये—“वर्गस्य गण इत्यपि × × × लघवः क्रमशो बुधै” रित्युक्त्या वर्गाद् गणस्य न्यूनत्वं प्रतिपादितम् । अत्रापि अशमेण न्यूनत्वाद् विष्णुगणाः । प्रयोजनं—विष्णु गणाद्वो वेत्यादौ ।

तत्त्व०—२१. कच इति । हरति सर्वामङ्गलानि प्रेम्णा मनांसि चेति हरिः । हञ् इन् उणादिः । कमम्भोऽलति भूपयतीति कमलम् । हरेः कमलानि हरि कमलानि लीला-कमलानीत्यर्थः । एतेषां पञ्चानां विष्णुजनानां प्रत्येकं हरिकमल संज्ञा स्यात् । प्रयोजनं—यादवमात्रे हरि कमलमित्यादौ ।

तत्त्व०—२२. ख छ इति । खडति खण्डयति छिनत्तीनिखड्गः । हरिखड्गशब्देन भगवतो नन्दक उच्यते ।

तत्त्व०—२३. ग ज इति । गदयति शब्दयतीति गदा । हरिगदा हरेः कौमुदीनामा, व्रजे यष्टि स्वरूपश्च ।

बाल०—ते मान्ताः । सुगमम् । विष्णोर्वर्गाः । विष्णुवर्ग-शब्देन सत्यलोकोपरि वैकुण्ठाद्यधीश्वरादय उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ।

कु चु टु तु पु नामानश्चेति उकारः पञ्चमवर्णग्रहणार्थः । उकारस्य पञ्चमस्वरत्वात् । स्पर्शाः स्पर्शनामानो भवन्तीत्यर्थः । यद्वा सर्वे विष्णुवर्गा एव निश्चितं स्पर्शाः स्वस्वोद्भवस्थानेषु स्पर्शोद्धारणा भवन्ति ॥१६॥

बाल०—ज वर्जिताः । ज वर्जिता विष्णुवर्गा विष्णुगणनामानो भवन्ति । विष्णुगणशब्देन अनन्त-वैकुण्ठनिवासिनः सारूप्यप्राप्ता उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥२०॥

बाल०—क च । सुगमम् । हरेः कमलानि हरिकमलानि । हरिकमलशब्देन हरेः पद्ममुच्यते, अतो भगवन्नामता ॥२१॥

बाल०—ख छ । सुगमम् । हरेः खड्गाः हरिखड्गाः । हरिखड्गशब्देन नन्दक उच्यते, अतो भगवन्नामता ॥२२॥

बाल०—ग ज । सुगमम् । हरेर्गदा हरिगदा । हरिगदाशब्देन कौमोदकी उच्यते, अतो भगवन्नामता ॥२३॥

२४. घ झ ढ ध भा हरिघोषाः । चतुर्था झवश्च ।

२५. ङ ज ण न मा हरिवेणवः ।

पञ्चमानुनासिका जमश्च । एते च मुखनासिकाभवाः ।

२६. त एतद्वर्जिता विष्णुदासाः ।

हरिवेणुवर्जिता विष्णुवर्गा विष्णुदासनामानः । क ख ग घ, च छ ज झ,

ट ठ ड ढ, त थ द ध, प फ ब भ । एते झयश्च ।

२७. य र ल वा हरिमित्राणि ।

अन्तस्था यणश्च । एते सविष्णुचापा निर्विष्णुचापाश्च ।

तत्त्व०—२४. घ झ इति । घोषति शब्दायत इति घोषः शङ्खः । हरेर्घोषः हरिघोषः पाञ्चजन्य नामा दक्षिणावर्तः शङ्खः; व्रजे शृङ्गश्च ।

तत्त्व०—२५. ङ ज इति । वेणन्ति वादित्रं गृह्णन्ति अनेनेति वेणुः, हरिवेणः कृष्णस्य वंशी । साच सम्मोहिनी आकर्षणी आनन्दिनीति त्रिविधा ज्ञेया ।

तत्त्व०—२६. त एतदिति । विष्णोर्दासाः सेवकाः । हरिवेणु वर्जिता इति—हरिवेणु नामानं विष्णुजन पञ्चकं वर्जयित्वेत्यर्थः । विष्णुदास शब्देन प्रागुक्तारक्तक-पत्रक्रादयः सेवका ज्ञेयाः । तेषां विष्णुवर्गान्तःसित्वेऽपि कार्यविशेषार्थं यथा पृथग् विष्णु दास संज्ञाः तथेषां विंशतेश्चापि पृथगेतत् संज्ञेति सादृश्यम् ।

तत्त्व०—२७. य व र ला इति । मेदयन्ति स्निहयन्तीति मित्राणि, हरेर्मित्राणि सखायः हरिमित्राणि—श्रीदामसुवलादयः प्रसिद्धा एव । “कृत्वैकत्र गवां कुलानि परितः कृष्णेन साद्धं मुदा, हस्ताहस्ति-विनोद-नर्म कथनैः खेलन्ति मित्रोत्कराः” । इति स्तवा-वलिः । पुरे तु भीमार्जुनादयः ।

बाल०—घ झ । सुगमम् । घोषी गोपपल्ली, घोष आभीरपल्ली स्यात्त्रिमरः । हरिसम्बन्धी घोषी हरिघोषः नन्दालयप्रभृतिः । किंवा नादेन घोषेण गुहां प्रविष्ट इति श्री भागवतोक्तत्वात् हरेः प्रणवोच्चारणादिश्चेति हरिघोष शब्दस्यार्थोऽतोऽस्य भगवन्नामता ॥२४॥

बाल०—ङ ज । सुगमम् । हरेर्वेणवः हरिवेणवः । हरिवेणुशब्देन हरेर्वंश्यादय उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥२५॥

बाल०—त एतद्वर्जिता । सुगमम् । विष्णोर्दासा विष्णुदासाः । विष्णुदासशब्देन सारङ्ग-पत्रिप्रभृतय उच्यन्तेऽतो भगवन्नामता ॥२६॥

बाल०—य र । सुगमम् । हरेर्मित्रम् हरिमित्रम् । हरिमित्रशब्देन नन्दादिरुच्यते । यन्मित्रं परमानन्दमिति स्मरणात्, अतोऽस्य भगवन्नामता ॥२७॥

२८. श ष स हा हरिगोत्राणि । ऊष्माणः षिटः शलश्च ।

२९. श ष साः शौरयः । शरश्च ।

३०. विष्णुदासहरिगोत्राणि वैष्णवाः ।

एतानि वैष्णव नामानि,—क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ त थ द
प फ ब भ श ष स ह । एते ध्रुटो झलश्च ।

३१. हरिगदा हरिघोष हरिवेणु हरिमित्राणि हश्च गोपालाः ।

एते गोपालनामानः,—ग घ ङ ज झ ञ ड ढ ण द ध न ब भ म
य र ल व ह । एते घोषवन्तो हश्च ।

तत्त्व०—२८. शष इति । गां त्रायत इति गोत्रं पर्वत इति क्षीरस्वामी । गवति शब्दयति पूर्वपुरुषान् यत्तद् गोत्रं कुलमिति भरतः । हरेर्गोत्राणि हरिगोत्राणि गोवर्द्धन-
नन्दीश्वरादयः; पुरे तु अनिरुद्ध-वज्रादयः ।

तत्त्व०—२९. शषसा इति । शूरस्य तन्नाम्नो राज्ञोऽपत्यं गोत्रापत्यानि च पुमांस
इति शौरयः । वसुदेव स्तत्पुत्रा गद-सारणादयश्च ।

तत्त्व०—३०. विष्णुदासेति । विष्णोरिमे वैष्णवाः । विष्णुदासाश्च हरि गोत्राणि
चेति विष्णुदास हरिगोत्राणि, तानि वैष्णवसंज्ञकानि भवन्ति । पाद सम्वाहकत्वेन ख्याता
भंगुर-रक्तकादयो विष्णुदासा स्तथा हरिदासवर्यतया प्रसिद्धा हरिगोत्राणि गोवर्द्धनादयश्च
वैष्णवाः—विष्णुर्भक्तिः (भज्यते सेव्यत इति भक्तिः) भजनीय एवामिति । किञ्च हरि-
गोत्राणि प्रदचुम्नानिरुद्धादयो वैष्णवा विष्णोरपत्यानि गोत्रापत्यानि वापुमांस इति ।
सर्वत्र विष्णु शब्दात् केशवणः ।

तत्त्व०—३१. हरिगदेति । हरिगदाश्च हरिघोषाश्च हरिवेणवश्च हरिमित्राणिचेति
तथा तानि तत्तत् नामानो विष्णुजना गोपालसंज्ञकाः स्युस्तथा हरामश्च गोपालसंज्ञः
स्यात् ।

गाः पालयतीति गोपालः श्रीकृष्णः । व्रजस्थहरेर्यष्टि विषाण-वेणवस्तथा हरिमि-
त्राणि श्रीदामादयः सर्वएव गोपालाः श्रीकृष्णाभिन्न-स्वरूपत्वात् । ब्रह्ममोहन लीलायां
दर्शितमेवैतत् । तथा हश्च गोपालः; हःशिवो गगन-मिति वर्णाभिधाने हश्चब्देन शिवोश्चो-

बाल०—श ष स ह । सुगमम् । हरेर्गोत्रं हरिगोत्रम् । हरिगोत्रशब्देन कन्दर्प-
साम्बादय उच्यन्ते, इति भगवन्नामता ॥२८॥

बाल०—श ष सा । सुगमम् । शौरिशब्देन वसुदेवादय उच्यन्ते, इत्यस्य
भगवन्नामता ॥२९॥

बाल०—विष्णु । वैष्णवशब्देन विष्णवधिदैवताः शुक-प्रह्लादादयः कन्दर्पादयश्च
उच्यन्तेऽत एवामुभयेषां विष्णवधिदैवत्वेन वैष्णवनामता ॥३०॥

३२. यादवा अन्ये ।

गोपालेभ्योऽन्ये विष्णुजना यादवनामानः । क ख च छ ट ठ त थ
प फ श ष स । एते अघोषा खरश्च ।

३३. शौरिर्वर्जितास्तु सात्वताः ।

शौरिर्वर्जितास्तु यादवाः सात्वत नामानः । खयश्च ।

३४. अस्पर्शी प्रयत्नः सर्वेश्वराणां, स्पर्शी विष्णुवर्गाणामीषत्स्पर्शी
हरिमित्राणाम् ।

च्यते । श्रीकृष्णांशरूपत्वात् सोऽपि गोपालः । वैष्णवानां यथा शम्भु रित्युक्त्या शिवस्य
वैष्णवत्व-प्रसिद्धेऽपि गोपालत्वमपि तस्य प्रसिद्धमस्ति । यथा—

श्रीकृष्णस्यप्रसादेन द्विविधोऽभूत् सदाशिवः ।

एकस्तत्र शिवः साक्षादन्यो गोपालविग्रहः ॥

—इति श्रीगौर गणोद्देशे ।

तत्त्व०—३२. यादवा इति । यदो गोत्रापत्यानि पुमांस इति यादवाः । गोपालेभ्यः
अन्य इति—हरिकमलानि, हरिखड्गाः शौरयश्च यादवा इत्यर्थः ।

यद्यपि सामान्याभिधाने नन्दादयो वसुदेवादयश्च सर्व एव यादवास्तथापि गोपालेति
विशेष कथने पुरवासिनो वसुदेवादय एव यादवा इत्येव मन्तव्यम् । यादव-गोपालशब्दयोः
कुरु-पाण्डव-शब्दवत् खण्डाखण्ड-वाचकत्व-स्वीकारात् ।

तत्त्व०—३३. शौरीति । सात्वतस्तन्नामा यदु वंशीय-महाविष्णुभक्तो नृपः,
तस्यगोत्रापत्यानि पुमांस इति सात्वताः । यद्वा सात्वतः साधव एव सात्वताः, स्वार्थे-
केशव णः । शौरिर्वर्जिताः शूर वसुदेवादिभिन्ना ये यादवा स्तेसात्वताः । ब्रजे नन्दोपनन्दा-
दयः, पुरे उग्रसेनाक्रोद्धव-सात्यक्यादयश्च । वसुदेवादेस्तु सात्वतत्वेऽपि प्रयोजनाभावान्नात्र
तद्विवक्षा ।

बाल०—हरिगदा । सुगमम् । अत्र गोपाल शब्देन गोपरूपिणो भगवतः सम्बन्धाद्
गोरक्षकत्वेन एते हरिगदादयो गोपालनामान उच्यन्ते, प्रत्येकं तेषां भगवन्नामता पूर्वत्र
प्रतिपादिता इति भगवन्नामता ॥३१॥

बाल०—यादवा । सुगमम् । यादवशब्देन सामान्ययदुकुलोद्भवा उच्यन्ते, यद्यपि
यादवानां कियद्गोपालानाञ्चैकवंशत्वं, तथापि वृन्दावनस्थत्वेन गोपालाः, मथुरास्थत्वेन
यादवा इति भेदविवक्षितम् ॥३२॥

बाल०—शौरि । शौरिर्वर्जिता यादवाः सात्वतनामानः । सात्वतशब्देन तद्वंशोत्-
पन्ना उच्यन्ते, ते तु परमभक्ता इति । अथवा सत्त्वशब्देन सत्त्वमूर्तिर्भगवानुच्यते, उपास्यतया
स विद्यते येषामिति सात्वन्तः, ततः स्वार्थेऽण् सात्वता वैष्णवा इति ॥३३॥

३५. रादनुस्वाराच्च परं यवाभ्यान्तु पूर्वं विना यरामस्य पुनर-
विष्णुपदादावीषत्स्पर्शितरः ।

३६. उपेन्द्रात् क्वचिद् विष्णुपदादौ च ।

उपेन्द्रसंज्ञा विष्णुपद च वक्ष्यते । त्रिविक्रम-महापुरुष-हरिमित्राणां
विवृतश्चेति ज्ञेयम् । तत्र रादिति क्रमेण दर्शयते । अर्यमा, यंयम्यते,
अय्यते, वायवग्नौ, नारायणाय, नियमः, प्रयुङ्क्ते । अत्र पञ्चम-षष्ठे एवोदा-
हरणे, अन्यानि तु प्रत्युदाहरणानि ।

तत्त्व०—३४. अस्पर्शीति । प्रयत्नं प्रयत्नः स्पृष्टतादि वर्णगुण इति काशिका ।
प्रयत्नस्तावद् द्विविधः, आभ्यन्तरो बाह्यश्च । तत्राद्य श्रुतुर्द्वा, स्पृष्टेपत्स्पृष्ट-विवृत-संवृत-
भेदात् । तानेव विवृतोति अस्पर्शीत्यादिभिः । सर्वेश्वराणां वामनसंज्ञकानां, त्रिविक्रम-
महापुरुषयोरग्रिमसूत्रे विशेषाभिधानात्, प्रयत्नः अस्पर्शी संवृतः, जिह्वाग्रोपाग्र-मध्य-
मूलानि तत्तद्वर्णोंच्चारण स्थानानां सम-पमात्रे तिष्ठन्ति नतु स्पृशन्तीत्यर्थः । विष्णुवर्गाणां
करामादि-मरामान्तानां प्रयत्नः स्पर्शी, जिह्वाग्रादि स्तत्तद् वर्णोंच्चारणस्थानानि स्पृशतीति ।
हरिमित्राणां यरामादि चतुर्णां प्रयत्न ईषत्स्पर्शी जिह्वाग्रादिस्तत्तद्वर्णोंच्चारणस्थानानी-
पत्स्पृशतीत्यर्थः । विवृतस्त्वग्रिमसूत्रे वक्ष्यते । बाह्यप्रयत्नाश्च विरामादचोकादश वैदिकेषु
खलु ज्ञेयाः ।

तत्त्व०—३५. सामान्यतो हरिमित्राणामुक्त्वा तेषु यरामस्योच्चारणवैशिष्ट्यमाचष्टे-
रादिति । अविष्णुपदादौ विष्णुपदादावविदद्यमानस्य यरामस्य प्रयत्न ईषत्स्पर्शितरः,
पूर्वोक्तेषत्स्पर्शितोऽपीपत्स्पर्शी अस्पर्शिकल्प इत्यर्थः । कयम्भूतस्य यरामस्य ? यरामाद्
विष्णुचक्राच्च परो योयराम स्तथाराम-वरामाभ्याश्च पूर्वस्थितो योयराम स्ततंविना
वर्जयित्वाऽन्य-यरामस्येति पदार्थः । यरामानुस्वराभ्यां परस्थस्य, यराम-वरामाभ्यां
पूर्वस्थस्य तु यरामस्य प्रयत्न ईषत्स्पर्शी, तदितरस्येषत्स्पर्शितर इति सरलः ।

तत्त्व०—३६. उपेन्द्रादिति । उपेन्द्रात् परस्य विष्णुपदादौ वर्तमानस्यापि
यरामस्य प्रयत्नः क्वचित् स्पर्शितरोभवेदित्यनुवर्तते । वक्ष्यत इति “प्रादय उपेन्द्रसंज्ञा धातु-

बाल०—अस्पर्शी । सर्वेश्वराणामरामादीनां प्रयत्न उच्चारणं अस्पर्शी अस्पृष्टकरणः ।
एषामुच्चारणस्य करणेन सह स्पर्शो न भवतीत्यर्थः । विष्णुवर्गाणां करामादीनां प्रयत्नः
स्पर्शी स्पृष्टकरणः । एषामुच्चारणकरणस्य करणेन सह स्पर्शो भवतीत्यर्थः । हरिमित्राणां
य-र-ल-वानां प्रयत्न ईषत्स्पर्शी ईषत्-स्पृष्टकरणः । एषामुच्चारणकरणस्य करणेन सह
ईषत्स्पर्शो भवतीत्यर्थः ॥३४॥

बाल०—रात् । यरामादनुस्वाराच्च परं यरामं य-वाभ्यां पूर्वं च यरामं विना
वर्जयित्वा अविष्णुपदादौ वर्तमानस्य अन्यस्य यरामस्य प्रयत्न ईषत्स्पर्शितरो भवति ।
अस्पर्शितुल्यो भवतीत्यर्थः ॥३५॥

३७. वर्णस्वरूपे रामः ।

वर्णस्य स्वरूपमात्रे वाच्ये रामशब्दो देयः । तस्यैक-परिग्रहताख्यातेः । यथा अराम इराम इत्यादि । अतुइत् इत्यादि पाणिनेः, अकार इत्यादि च कलापस्य । यथा च कराम इत्यादि । ककार इत्यादि तु प्राचाम् । ररामस्तु रेफ इति ।

३८. तदादि द्वये द्वयम् ।

यो वर्णो निर्दिश्यते तदादिद्वये वाच्ये द्वयशब्दो देयः । यथा अद्वयं इद्वयम् अस्य लक्ष्मीनारायण-वाचित्वाद् भगवन्नामता, तन्मन्त्रो हि द्वयमन्त्राख्यः पद्मपुराणे । अवर्ण इत्यादि प्राचाम्, अकार इत्यादि च पाणिनेः ।

योगे" इति, विष्णुभक्तिसिद्धं विष्णुपदमिति च । उपसर्ग इति पदमिति च प्राञ्चः । त्रिविक्रमादीनां प्रयत्नो विवृतः—जिह्वाग्रोपाग्र-मध्य-मूलानां तत्तद्वर्णोच्चारणस्थानेभ्यो दूरे अवस्थानमित्यर्थः । क्वचिदिति वचनान्न सर्वत्रेति प्रत्युदाहरणेन स्पष्टीकृतं प्रयुङ्क्त इत्यनेन । अत्रेपत्स्पर्शी एव ज्ञेयः ।

तत्त्व०—३७. वर्णेति । मात्रशब्दोऽत्रावधारणे । एकैकवर्ण-बोधनाय रामशब्द-ग्रहणे स्फुटमव्यभिचारि-हेतुं प्रदर्शयति—तस्यैकेति । तस्य श्रीरघुनन्दनस्य एक परिग्रहताया एकदार-परिग्रहत्वस्य प्रसिद्धः । अतः श्रीरामस्य श्रीसीतैक-निष्ठत्व-वत् तन्नाम्नो वर्णैक निष्ठत्वं सङ्गतमेव ।

तत्त्व०—३८. तदादीति । द्वयशब्दस्य द्वित्व-वाचित्वाद् भगवन्नामत्वाभावमाशङ्क्य तन्निराकरोति—अस्येति । तन्मन्त्रो लक्ष्मी-नारायण-मन्त्रः ।

बाल०—उपेन्द्रात् । विष्णुपदादौ वर्तमानस्यापि उपेन्द्रात् परस्य यरामस्य प्रयत्नः क्वचिदीपत्स्पर्शितरो भवति । त्रिविक्रमः । त्रिविक्रमादीनां प्रयत्नो विवृतश्च, विवृतो विवृतकरणः एषामुच्चारणे करणविस्तारो मुखव्यादानेनोच्चारणमित्यर्थः । किन्तु हरि-गोत्राणां प्रयत्नस्य विवृतत्वं नातिस्पष्टम् । तत्रेति दर्शयते उदाहरणं प्रत्युदाहरणञ्चेति शेषः । क्वचिदिति वचनान्नात्रेपत्स्पर्शितरः प्रयुङ्क्त इति पञ्चम-पष्ठे इति पञ्चम-पष्ठे पदे इत्यर्थः ॥३६॥

बाल०—वर्ण । स्वरूपमात्रे स्वरूप एवेत्यर्थः । ननु शब्दान्तरं कथं न दीयते तत्राह तस्येति तस्य रामस्य रामशब्दाभिधेयस्य श्रीरघुनन्दनस्य एकपरिग्रहताख्यातेः श्रीसीतैकभार्यत्वख्यातेरित्यर्थः । अथ चायं रामशब्दः एकमेव वर्णं परिगृह्णातीति । ररामस्तु रेफ इति प्राचामिति शेषः ॥३७॥

बाल०—तदादि । ननु श्रीकृष्णानुशीलनेनैव वैष्णवानां कालहरणं युक्तमतोऽस्य

३६. आदेशो विरिञ्चिः ।

विरिञ्चिर्ब्रह्मा यथैकं वस्तुपादाय अन्यत् करोति तथा यो विधिः प्रवर्तते स आदेशो विरिञ्चिश्चोच्यते ।

४०. आगमो विष्णुः ।

विष्णुर्यथा मध्यतः स्वयमाविर्भूय पोषकोभवति तथा यो विधिः प्रवर्तते स आगमो विष्णुश्चोच्यते ।

तत्त्व०—३६. आदेश इति । विरिङ्क्ते सूते इति विरिञ्चिः । ब्रह्मा यथैकं वस्तु गृहीत्वान्यत् करोति अन्याकारेण परिणमयति यथा योविधिः प्रवर्तते यत्किञ्चिदवलम्ब्य तदेवान्यत्वेन विदधाति स विरिञ्चिरुच्यते, अस्माभिरिति शेषः । किञ्च “तत्सृष्ट्वा तदेवानु-
प्राविशदिति” श्रुते ब्रह्माणो यथा जगत् सृष्ट्यनन्तरं तदन्तर्भवनमुपलभ्यते, तथास्य विरिञ्चेरपि सूत्ररूपेण यत्किञ्चिदुपदेशानन्तरं स्वयं तदादेश-स्वरूपेण चाविर्भवनं दृश्यते ।
तथा च “कर्तव्यत्वेनोपदेशो विधिरित्यनेन” विधानसूत्रस्य विरिञ्चित्वम्,—“ईदृशो विधिः
विरिञ्चिः” रित्यनेनादेशरूप कार्यस्य च विरिञ्चित्वं प्रतिपादयते स्वयमेव ग्रन्थकृद्भिः । अत्र
आदेशसंज्ञा प्राचाम् ।

तत्त्व०—४०. आगम इति । विष्णु र्यथा सृष्टि-संहारयोर्मध्यतः स्वयमाविर्भूय
पोषकोभवति सृष्टिं पालयतीत्यर्थः । तथा प्रकृति-प्रत्यययोर्मध्ये स्वयमाविर्भूय तयोः पोषको
निर्वाहको योविधिः प्रवर्तते स विष्णु र्ुच्यतेऽस्माभिः । प्राचीनैस्तु आगम इति ।

व्याकरणस्य भगवन्नामभिः सम्बलितं संज्ञादि करणीयमिति भवता प्रतिपादितम्,
तथाप्यस्मिन् कथं द्वयशब्दो गृहीतः, द्वयशब्दस्य तावद्द्वित्वसंख्यावाचित्वेन भगवन्नामता-
भावादिति चेत्तत्रोच्यते अस्येति । अस्य द्वयशब्दस्य । तन्मन्त्रो लक्ष्मी-नारायणमन्त्रो हि
यतः द्वयमन्त्राख्यः द्वयमन्त्रनामा, पद्मपुराणेऽस्तीति दर्शनात् ॥३८॥

बाल०—आदेशः । उपादाय गृहीत्वेत्यर्थः । आदेशो विरिञ्चिश्चोच्यते इति ।
प्राचीनैरादेश उच्यते, अस्माभिर्विरिञ्चिरुच्यते इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । तथाहि यथा
विरिञ्चिरेकं वस्तु गृहीत्वाऽन्तत् करोति; तथा योविधिः प्रवर्तते, स आदेशो विरिञ्चिरुच्यते
इत्यर्थः । ननु विष्णुर्यथा मध्यतः इत्यत्र आगमस्य यथा विष्णुत्वं घटते, तथात्रादेशस्य
विरिञ्चित्वं न घटते, किन्तु सूत्रस्यैवेति चेत् तदैवं व्याख्येयम् । तद् यथा, विरिञ्चिर्ब्रह्मा
यथा एकं वस्तुपादाय गृहीत्वा अन्यदन्याकारं वस्त्वन्तरं करोति, वस्त्वन्तरं गृहीत्वा
स्वयमेव वान्यदन्याकारमात्मानं करोति, तथा यो विधिः प्रवर्तते, स आदेशो विरिञ्चिश्च
कथ्यते । समष्टि-व्यष्टिभेदेन ब्रह्मण एव सर्वरूपित्वाद् इत्यनेन व्याख्यानेन सूत्रस्य
तत्कार्यस्य च विरिञ्चित्वं ज्ञेयम् । यदैकं वस्तु गृहीत्वा वस्त्वन्तरं करोति, तदा सूत्रस्य
विरिञ्चिता । यदा चात्मानं अन्यद्वस्त्वन्तरं करोति, तदा सूत्रकार्यस्यैव विरिञ्चितेति ।
तथाच स्वयमपि ग्रन्थकृता कर्तव्यत्वेनोपदेशो विधिरित्यनेन सूत्रस्य ईदृशो विधिर्विरिञ्चि
रित्यनेन तत्कार्यस्य च विरिञ्चित्वं वक्ष्यते ॥३९॥

४१. लोपो हरः ।

हरो यथा नाशहेतुर्भवति तथा यो विधिः प्रवर्तते स लोपो हरश्चोच्यते ।
तत्र हरो द्विधा भवेत् । तत्रादर्शनमात्रहेतुर्हरः । आत्यन्तिक लयहेतुर्महा-
हरः । लुगित्यन्ये ।

४२. सूत्राणि षड्विधानि ।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियमएव च ।

अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥ इति

प्रतिषेधोऽधिकारश्च इति केचित् पठन्ति च ।

अत्र नामकरणं संज्ञा । यथा—तत्रादौ चतुर्दश सर्वेश्वरा इत्यादि ।
अन्यानि वक्ष्यन्ते ।

तत्त्व०—४१. लोप इति । हरति संसारं नाशयतीति हरः । यथा जगतो नाशस्य
प्रलयस्य हेतुर्हरो रुद्र स्तथा यो विधिर्विधानं वर्णनाशहेतवे प्रवर्तते सोऽपि हरउच्यते ।
लोप इति प्राचीनैः । हरोद्विधाभवेदिति—अत्रायमाशयः,—अष्टमूर्तिर्हरो जीवानां लयं
प्रति अदर्शनं प्रति हेतुर्नैमित्तिकादिप्रलये श्रूयते, नतु तेषां सत्तालयं प्रति । तस्यैव
पञ्चमूर्त्यात्मक-पञ्चभूतेषु भौतिकदेहस्य लयत्वेऽपि जीवात्मनः सत्तास्थितेः । तथा चायं
हरविधिर्वर्णादर्शनं प्रति हेतुर्नतु तत् सत्ता लोपं प्रति; तस्य स्थानिवद्भावमङ्गीकृत्य
कार्योत्पत्तेः । चित्स्वरूप महाहरस्तु जीवानामात्यन्तिकलयं प्रति-अविदचो-पाधिकाहङ्कार
नाशं प्रतिहेतुः, तादृशलये अर्थात् ब्रह्मसायुज्ये जीवानां सत्तापि लुप्यते । तथा चायं
महाहरो वर्णानामात्यन्तिक लोपं प्रति हेतुः, तादृशि महाहरे तेषां सत्तापि नैवस्वीक्रियते;
अर्थात् यतोवर्णा उद्भूता—स्तत्रैव नारायणे लीनाभवन्तीति तत्त्वम् ।

बाल०—आगमः । मध्यत इति ब्रह्म-रुद्रयोः सृष्टि-संहारयोर्वा मध्ये इत्यर्थः । तथा
प्रकृति-प्रत्ययोर्मध्ये आविर्भूय द्वयोः पोषको भूत्वा यो विधिः प्रवर्तते, स विष्णुरुच्यते ॥४०॥

बाल०—लोपः । वृत्तिमाह हर इति । हरो यथा वस्तूनां नाशहेतुर्भवति तथा
वर्णादीनां नाशहेतुरिति शेषं समानं नन्वादेशो विरिञ्चिरित्यत्र ब्रह्मणः समष्टि-व्यष्टिशरीर-
द्वयावच्छेदकत्वेन दृष्टान्तकृतेन सूत्र-तत्कार्ययो-विरिञ्चितोक्ता भवता, सा तत्र संगच्छते;
इदानीन्तु लोपो हर इत्यत्र सूत्रतत्कार्ययोः कथं हरत्वं किन्तु सूत्रस्यैव तत् ? सत्यमुच्यते,
यद्यप्यत्र सूत्रस्यैव हरत्वं घटते, तथापि कार्य-कारणयोरभेदोपचारत्वेन द्वयोस्तज्ज्ञेयम् ।
ननु यद्यप्येवं तथापि दृष्टान्ते समाधानं, न दार्ष्टान्ते । नहि हरो यस्य नाशहेतुर्भवति, तं
नाशयन् स्वयं नश्यति इति चेत् तदैवं समाधेयं नाशस्यादर्शनार्थत्वात् । हरोऽयं नाशयति
तत्राशे सति स्वयमप्यन्तर्द्वंते, न तु तिष्ठतीत्यांशिक-दृष्टान्तमिति । हरसंज्ञयोर्भेदमाह—
तत्रेति, अदर्शनस्य अदर्शनत्वमेव हेतुरदर्शनमात्रहेतुः ॥४१॥

४३. असिद्धरूपं न त्याज्यं प्रतिज्ञेयं कृदन्तिका ।

अत्र व्याकरणे त्वन्यत्रेवासिद्धरूपं मध्ये मध्ये न त्यज्यते, किन्तु सिद्धं

तत्त्व०—४२. सूत्राणीति । सूत्रलक्षणमिति—सूत्रस्य लक्षणं चिह्नमिति यावत् । सूत्रस्य षट् प्रकाराः संज्ञादय इति फलितार्थः । अन्यानि वक्ष्यन्ते इति—अनियमे नियय-कारिणी परिभाषा । कर्तव्यत्वेनोपदेशो विधिः । बहुत्र प्राप्तौ सङ्कोचनं नियमः । अन्य तुल्यत्वविधान-मतिदेशः उत्तर प्रकरणव्याप्यधिकारः । प्रतिषेधो निषेध इति । ग्रन्थान्तरे सूत्रलक्षणं यथा—

स्वल्पाक्षरमनल्पार्थं विशुद्धं सर्वतोमुखम् ।
विशेषकथनापेक्षं सूत्रं सूत्रविदो विदुरिति ॥

श्रीनामग्रहण-सुखाविष्टतया मात्रालाघवमनङ्गीकुर्वता ग्रन्थकृता प्राचीनलक्षणस्य यथाश्रु-तार्थमगृह्णतापि भक्ति व्यञ्जक-श्लिष्टार्थेनतु महाजनमानं रक्षितमेव । सचार्थो यथा—स्वल्पानि-सु मङ्गलानि अल्पानि भगवन्नाम्नांसंख्यानां मध्ये कतिपयान्यक्षराणि नामात्मकवर्णा यस्मिन् तत्स्वल्पाक्षरम् । यद्वा न क्षरति न श्च्योततीति अक्षरम् अच्युतो हरिः । नाम-नामिनोरभेदादत्राक्षरशब्देन तन्नामानि लक्ष्यन्ते । सु शुभानि अल्पानि कतिपयानि अक्षराणि हरिनामानि यत्र तत् स्वल्पाक्षरम् । अनल्पः प्रचुरः अर्थः प्रयोजनं परमार्थश्च यस्मिन् तदनल्पार्थम् । विशुद्धं नाममयत्वात् पवित्रम् । सर्वतोमुखं—सर्वेषाम-भीष्टदाने चोन्मुखम् । पुन विशेषकथनं गुरुपदेशमपेक्षत इति विशेषकथनापेक्षम् । यतः सुरसरित्-प्रवाह-न्यायेन गुरुपरम्परात एव शक्तिः सञ्चर्यते । सूत्रविदः पण्डिता एवम्बिधं सूत्रं विदुर्जानन्तीति ।

तत्त्व०—४३. स्वव्याकरणस्यासाधारणवैशिष्ट्यं सूचयन् प्रतिजानीते—असिद्ध-रूपमिति । प्रायशः प्राचीन-व्याकरणेषु प्रकरण-व्यामिश्रेण विशृङ्खलता दृश्यते । यथा हि सन्धौ प्राच्छन्ति गवेन्द्र इत्यादीनि । तानि खल्वाख्यात-समासकार्यमपेक्षन्ते; सन्धिकार्येणैव निरपेक्षतया न सिध्यन्ति इत्यसिद्धानि । अस्माकन्तु व्याकरणे बालकसुबोधाय यत्रप्रकरणे यत् प्रयोजनं तत्रत्यसूत्रैरेव तत् साध्यते नत्वग्रिम प्रकरण सूत्रैरिति भेदः ।

संज्ञा आदिर्यस्य तत्प्रकरणं संज्ञादि । अत्र आदि पदेनप्रयत्नस्य ग्रहणम् । यदचपि सुवन्तादि सर्वप्रकरणेष्वेव पृथक् संज्ञाकरणं दृश्यते तथाप्येतावदुक्त-संज्ञानां सर्वप्रकरण-

बाल०—संज्ञा चेति । सूत्रलक्षणं सूत्रस्वरूपं सूत्रमिति फलितार्थः । अन्यानीति परिभाषादीनां लक्षणानीत्यर्थः । यद्वा सूत्रलक्षणं सूत्रचिह्नं चिह्नस्य षड्विधत्वेन सूत्राणा-मपि षड्विधत्वमत उक्तं सूत्राणि षड्विधानीति । सूत्रं किन्तावदित्यपेक्षायां सूत्रमुच्यते ।

स्वल्पाक्षरमनल्पार्थं विशुद्धं सर्वतो मुखम् ।
विशेषकथनापेक्षं सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

इति शास्त्रान्तरोक्तम् ॥४२॥

कृत्वैव त्यज्यते, तत्तच्च कृत् पयन्तं ज्ञेयं, न समास-तद्धितयोरित्यर्थः ।
दर्शनीयन्त्वग्रे ।

॥ इति संज्ञादि ॥

व्यापित्वात् सामान्यत्वेन ग्रन्थादावुपन्यासः । इति शब्दः समाप्त्यर्थः; “इति हेतु-प्रकरण-
प्रकर्षादि-समाप्तिषु” इत्यमरः ।

॥ इति श्रीगोपालदासविरचिता अमृतास्वादिनी टीका संज्ञायाम् ॥

बाल०—स्वव्याकरणनिष्ठरचनावैशिष्ट्यं ज्ञापयति असिद्धरूपमिति । अन्यत्रैवेति
अन्यस्मिन् व्याकरणे यथा असिद्धरूपं मध्ये मध्ये त्यज्यते, तथात्र व्याकरणे त्वसिद्धरूपं
मध्ये मध्ये न त्यज्यते, किन्तु सिद्धं कृत्वा एव त्यज्यते ॥४३॥

इति संज्ञादीति उक्तमिति शेषः । एवं सुवन्तपादादौ ये संज्ञादयो वक्ष्यन्ते, तेष्वपि
गुणानुरूपं नामकरणं ज्ञेयमिति । संज्ञादीत्यत्रादिशब्देन परिभाषादीनां ग्रहणम् ॥

॥ इति संज्ञादि ॥



सन्धिप्रकरणम्

सर्वेश्वर सन्धिः

यदिदं सन्धिनिर्माणं वर्णानामारभे मुदा ।

तेन मे कृष्णपादाब्जे मनःसन्धिविधीयताम् ॥

४४. सन्धिरेकपदे नित्यं नित्यं धातूपसर्गयोः ।

अनित्यं सूत्रनिर्देशेऽन्यत्रचानित्यमिष्यते ॥

परिभाषेयम् । सा चानियमे नियमकारिणी ।

✓ अथ सन्धि प्रकरणमारभमाणः श्रीमद् ग्रन्थकारो वर्णानां सन्धिविधिं कलयन् तदुपमया श्रीकृष्णपादाब्जेन सहात्मनो मनः सन्धानं प्रार्थयते—यदिदमिति । यद् येन प्रकारेण वर्णानामिदं वक्ष्यमाणं सन्धिनिर्माणं मुदा हर्षेण आरभे अहमिति शेषः। तेन प्रकारेण हे कृष्ण ! तव पादाब्जे चरणकमले मे मम मनसः सन्धिर्मेलनं विधीयतां क्रियताम् । यद्वा कृष्णपादाब्ज इत्येकपदं; मनः सन्धिविधीयतामिति श्रीगुरुदेवं प्रति प्रार्थना ।

✓ तत्त्व०—४४. परिभाषा सूत्रमाह—सन्धिरिति । एकपदे सुवन्त-तिङन्तरूपे सन्धिनित्यं यथा स्यात्तथा भवति । क्रमेण यथा—गोप्यौ, भवतीत्यदि । कृतद्धितयोरपि नामत्वेन सुवन्तत्वात् तत्र च सन्धिनित्यम् । यथा—भव्यं वैष्णव इत्यादि । धातुश्च उपसर्गश्च धातूपसर्गौ, तयोरुपसर्गः सह सन्धिनित्यं स्यात् । यथा—अधीते, व्याजहारेत्यादि । तथाहि श्रीपति सूत्रम्,—“धातूपसर्गयोरुपसर्गरेवेति ।” तेन “व्याकरण” “व्युत्पत्ति” प्रभृतिषु चोपसर्गयोः सन्धिनित्यं ज्ञेयः । सूत्रनिर्देशे सन्धिरनित्यम् । यथा—“अद्वयमिद्वये एः”, “कृष्णात् टा इनः” इत्यादि । अन्यत्र—विलम्बोच्चारणादौ च सन्धिरनित्यमिति स्वयमेव वक्ष्यते । केचिदत्र “एकपदे” इत्यनेन समासमपि गृहीत्वा तत्रापि सन्धेर्नित्यत्वं मन्यन्ते । एके च—“नित्या समासे वाक्ये त्वित्यादिकं” पृथक् पठित्वा तथैव स्वीकुर्वन्ति । तेषामते समासे हरि आसनमित्यसन्धिपक्षस्यासिद्धत्वं मन्ये । नित्यसमास वर्जं समासान्तरे सन्धेरनित्यत्वमस्मद् ग्रन्थकृतः सम्मतमिति गम्यते । “ईशस्यानेकात्मके वामनश्च वेति” सूत्रे हरि आसनमित्यसन्धि रूपस्य दर्शयिष्यमाणत्वात् । ननु तर्हि भगवदिच्छेत्यादौ चानित्यसमासे सन्धेरनित्यतायां दोषः स्यादिति चेत् ? मैवं, अनित्यसमासेऽपि यथानुशासनमनित्यमिष्यते नतु सर्वत्र यथेच्छं, प्रमाणाभावात् । तस्माद् भगवदिच्छेत्यादौ विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्याद्यनुशासनवलेन नित्यमेव सन्धिः स्यान्नतु विभाषया, तादृशाभिधान विरहादित्यदोषः । अथ काशिका भाषावृत्ति सुपचादिभिश्च बधू ऋतु रित्युदाहरणेन समासे सन्धेर्विकल्पत्व-ज्ञापितत्वात् तैः सहास्माकमैकमत्यं ज्ञेयमितिदिक् ।

वर्णानां सन्धिनिर्माणमारभमाणः श्रीमद्ग्रन्थकारस्तद्दृष्टान्तेन स्वस्य श्रीकृष्णपादाब्जविषयकमनःसन्धिं श्रीकृष्णं प्रार्थयते यदिदमिति पद्येन । आरभे अहमिति शेषः । मुदा हर्षेण तेन वर्णानां सन्धिनिर्माणेन । मनःसन्धिर्मनोमेलनं विधीयतां क्रियताम् ।

P32-176

36 P-491
Sandi.pms

this
only

४५. सर्वप्रकरणव्यापी वर्णमात्रनिमित्तकः ।

वार्षो विकारः सन्धिः स्याद्विषयापेक्षकः क्वचित् ॥

किञ्च—अचो ये हलि संलग्ना स्तेसर्वे परतो मताः ।

हल् च तत्स्यादरामान्तं यत्र नान्याच् नचाङ्घ्रिभित् ॥

Amita
only
4th/10/18

अमृता०—४५. लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्; व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनमिति सन्ध्युपक्रमात् पूर्वं तल्लक्षणमाह—सर्वेति । इदं खलु व्याकरणं सप्त-प्रकरणात्मकम् । तत्रारभ्यमाणं सन्धि प्रकरणं नाम प्रथमं, सुवन्तं द्वितीयं, आख्यातं तृतीयं, कारकं चतुर्थं, कृदन्तं पञ्चमं, समासं षष्ठं, तद्वित्तञ्च सप्तममिति । तदेतत् सर्वप्रकरणं व्याप्तुमपेक्षकत्वेन प्रसरितुं शीलमस्येति सर्वप्रकरणव्यापी । वर्णमात्रं वर्णैव निमित्तं प्राक् परभेदेन द्विविधकारणं यस्य स वर्णमात्रनिमित्तकः । वर्णस्यायं वार्षो वर्णसम्बन्धीत्यर्थः, विकारः स्वरूपादन्यथाभावः सन्धिः स्यात् । सच क्वचित् सुवन्तादौ विष्णुपदादिकं विषयं अपेक्षत इति विषयापेक्षकः ।

सर्वत्र लक्षणकरणे अव्याप्तिरतिव्याप्तिरसम्भवश्चेति दोषत्रयं वर्जनीयम् । अतस्तेषां परिचय आवश्यक इत्यमी उच्यन्ते । तत्र लक्षक देशवृत्तित्वमव्याप्तिः; लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः; लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भव इति । अत्रवार्षो विकारः सन्धिरित्युक्ते गोविन्द-वृष्णीन्द्र-सङ्कर्षणा-दावतिव्याप्तिः स्यादिति तन्निरासाय द्वितीयदलम्—वर्ण मात्र निमित्तक इति । गोविन्दादिस्तु वार्षविकारः सन्नपि प्रत्ययवर्णहेतुकत्वान्न केवल वर्णनिमित्तकः । तथापि “सस्य जोजे” इत्यादि विरिञ्चौ, तथा “सस्य हरो धे” इत्यादि हरविधौ चातिव्याप्तिः प्रसज्येत, अतस्तद् वारणार्थं प्रथमदलम्—सर्वप्रकरणव्यापीति । एतादृशोर्हर-विरिञ्च्योः सतोरपि वार्षविकारत्वे वर्णमात्र निमित्तकत्वे च तत्तत् कार्यस्य तु न सर्वप्रकरण व्यापित्वं, धात्वधिकारादिति तौ व्यावृत्तो । एवं सत्यपि ककुब्, कृष्णभूदित्यादौ हरिगदाया निमित्तत्वाभावादव्याप्तिरापतेदत स्तद् व्युदासाय—विषयापेक्षक क्वचिदिति चतुर्थदल मुपन्यस्तम् । तेन सर्वप्रकरण व्यापित्वे सति, वर्णमात्र निमित्तकत्वे सति, क्वचिद् विषयापेक्षकत्वे च सति वार्षविकारत्वं सन्धेर्निरवद्य लक्षणमिति ।

इदानीं हरि विष्णु इत्यादौ ये इराम उरामादयः सन्ति ते तत्तद् विष्णुजनस्य पूर्वत्र वा परत्र वेति शङ्कां निरस्यन्नाह—किञ्चेति । ये अचः सर्वेश्वरा हलि विष्णुजने संलग्नास्ते सर्वेपरतो विष्णुजनानां परस्मिन् मता ज्ञेयाः । ननु कृष्ण राम इत्यादौ अन्त्यविष्णु जनेषु न कोऽपि सर्वेश्वरो दृश्यते इति चेत्तन्नाह—हल्चेति । यत्र हलि विष्णुजने अन्याच्

हे कृष्ण ! यद् येन प्रकारेण वर्णानां इदं सन्धिनिर्माणं मुदा हर्षेण अहं आरभे, तेन प्रकारेण मे मम मनःसन्धिः मनसः सन्धानं तव पादाब्जे त्वया विधीयताम् इति समुदितार्थः ॥

बाल०—परिभाषामाह सन्धिरिति । नित्यमित्यनित्यमिति च क्रियाविशेषणम् । परिभाषालक्षणमाह अनियम इति । अनियमे नियमं कर्तुं शीलं यस्याः सा परिभाषा ॥४४

ततश्च कृष्ण अग्रे इतिस्थिते, कार्यार्थमक्षरं विश्लेषयेन्मेलयेच्च इति न्यायेन अराम विश्लेषः । कृष्ण् अ अग्रे; ततश्च—

४६. दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रमः ।

दशावतारनामा वर्ण एकात्मके वर्णे परे सति तेन मिलित्वा त्रिविक्रमो भवति । ततश्च आरामस्य पुनर्मेलनं, कृष्णाग्रे । एवं राधा आगता

आरामादि सर्वेश्वरो न दृश्यते इति शेषः । अङ्घ्रि चरणं भिनत्ति स्पृशतीति अङ्घ्रिभित्, विष्णुजन ज्ञापकचिह्नविशेषश्च न दृश्यते तत् हल् व्यञ्जनवर्णः अरामान्तं ज्ञेयम् । अत्र हल् शब्दस्य प्राचीनसूत्रत्वान्नपुंसकत्वम् ।

अरामविश्लेषइति—एतत्तु कार्यार्थमेकदेश विश्लेषणम् सर्वाङ्गविश्लेषो यथा—
कृष्ण=क् ऋ ष् ण् अ इति ।

अमृता०—४६. दशावतार इति । ननु एकात्मके त्रिविक्रम इत्युक्ते येषामेकात्म-
कत्वसम्भवस्तेषामेव त्रिविक्रमो भवति नान्येषां, कथं तद्व्युक्तं—दशावतार इति ?
सत्यमत्र दशावताराग्रहणे त्रिविक्रम विधेर्विशेषत्वेन बलवत्त्वात् सन्ध्यक्षराणां प्रत्येकमेका-
त्मकत्वाद्बहुवचनकत्वे हरे ए इत्यत्रापि त्रिविक्रम-कार्यप्रवृत्तिः स्यात्, ततस्तु 'हराये'
इत्यनिष्टरूपं प्रसज्येत । एकात्मक इति किम् ? —मथुरा ईशः मथुरेशः ।

बाल०—सन्धिलक्षणमाह सर्वेति । सर्वप्रकरणं व्याप्तुं शीलमस्य सर्वप्रकरणव्यापी
वर्णमात्रं वर्ण एव निमित्तमुपादानादिकारणं यत्र स वर्णमात्रनिमित्तकः । वर्णस्यायं वार्णः ।
विकारः स्वरूपादन्यथाभावः । विषयमपेक्षत इति विषयापेक्षकः । सर्वप्रकरणव्यापी
वर्णमात्रनिमित्तकः वर्णसम्बन्धी विकारः सन्धिः स्यादित्यन्वयः स च सन्धिः क्वचित्
सुबन्तादौ विषये विष्णुपदान्तविषयेऽविष्णुपदान्तविषये चापेक्षको भवति । ननु विकारः
सन्धिरित्येवास्तु लक्षणं किमेभिर्विशेषणैः । सत्यम् । यदि भवतोक्तः सन्धिः स्यात्तदा यस्य
कस्यापि सन्धित्वं स्यादतो वार्णं इत्युक्तः । तस्मिन्नपि गोविन्द-वृष्णीन्द्रावतिव्याप्तिरिति
वर्णमात्रनिमित्तक इत्युक्तः । तस्मिन् सत्यपि सन्धेः सर्वप्रकरणव्यापित्वसूचनाय सर्वप्रकरण-
व्यापीत्युक्तः । तस्मिन् सति सर्वत्रेवाग्रे सन्धिः प्राप्नोतीत्यतो विषयापेक्षक इत्यप्युक्तः । एवं
सर्वेषां हेतु-हेतुमद्भावः कल्पनीय इति । ननु कृष्ण हरीत्यादौ येषामादयो विद्यन्ते, ते
परत्र पूर्वत्र वेति न ज्ञायन्ते । एवं के वाऽरामान्तादयस्तेऽपि न ज्ञायन्ते इत्यपेक्षायामाह—
अच इति परतः परत्र मता ज्ञाताः तद्वल् अरामान्तं स्यादिति हलन्तानामिति पाणिनसूत्र-
दर्शनात् हल्शब्दस्य ब्रह्मत्वम् । अङ्घ्रि भिनत्तीति अङ्घ्रिभित् व्यञ्जनवर्णस्य चिह्न-
विशेषः । यत्र हलि अरामादन्याच् न विद्यते, तद्वल् अरामान्तं स्यादित्युपलक्षणमेवं यत्र
हलि अरामादन्याच् न विद्यते, तद्वल् आरामान्तं स्यात्, तथा यत्र हलि उरामादन्याच् न
विद्यते, तद्वत् उरामान्तं स्यादित्यादि दिशा यत्र यत्र हलि यस्माद् यस्मादचोऽन्याच् न
विद्यते, तत्तद्वल् तत्तदजन्तं स्यादिति सर्वत्र कल्पनीयम् ॥४५॥

राधागता, हरि हरि इति हरिहरोति, हरि ईहा हरीहा, विष्णु उदयः
विष्णूदयः, विष्णु ऊढा विष्णूढा, नरभ्रातृ ऋषिः नरभ्रातृषिः, गम्लृ
लृकारः गमलृकारः ।

४७. ऋद्वय-लृद्वययोरेकात्मकत्वं वाच्यम् ।

ऋलृद्वयं ऋद्वयं, लृ ऋ द्वयं लृद्वयमित्यादि ।

ईदृशो विधिर्विरिञ्चिः । कर्तव्यत्वेनोपदेशो विधिरिति ।

ननु कृष्ण अग्रे इत्यादौ सूत्रस्य साफल्येऽपि राधा आगता इत्यादौ पूर्वत एव
त्रिविक्रमसिद्धे स्तस्य निष्फलत्वम्, अतो वामन एकात्मके मिलित्वा इत्येवं सुवचमिति
चेत् ? मैवं, तथासति त्रिविक्रमस्य सन्धिविधानाभावाद् राधा आगता इत्येवमसन्धि रूपस्य
नित्यस्थितिः स्यात् । अन्यथाविधानेन च बाहुल्यदोष आपतेत् । अतएव “पर्जन्यवल्लक्षण-
प्रवृत्तिरिति परिभाषा खल्वत्रैव ग्राह्या । सा च स्पष्टीकृता प्राचीनैः; यथा,—अदीर्घो दीर्घतां
याति पुनर्दीर्घेण दीर्घताम् । पर्जन्यवदिदं शास्त्रं जलेवृष्टिः स्थले यथा ॥ इति । केचित्तु
लृरामस्य दीर्घत्वं न मन्यन्ते, तन्मते गमृकार इत्येव भवति । अत्र दशावतारवर्णस्य
एकात्मक वर्णेन सह मेलनतयैक-त्रिविक्रम रूपो विकारः सन्धिः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ।

अमृता०—४७-४८. सूत्रयुगलं सुगमम् ।

बाल०—दशा । तेनेति तेन सहेत्यर्थः । ननु कृष्णाग्रे हरिहरीतीत्यादावेव दशावतारे
त्रिविक्रमविधानस्य सार्थकं, राधागता बधूदयः रुक्मिणीहेत्यादौ तु निरर्थकं, तेन दशावतार
इत्यत्र वामन एकात्मक इति क्रियताम् । सत्यम् । यद्येवं तर्हि सूत्रे दशावतारस्याग्रहणात्
राधागतेत्यादौ त्रिविक्रमविधानाभावात् राधा आगता इत्यादि स्थितिः स्यात्, परस्पर
मिलनमपि न स्यात् कथनाभावात् । वक्ष्यते च ग्रन्थकृता वामनस्य त्रिविक्रमो नामीत्यत्र
कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्यनेन सिद्धत्वेऽपि सूत्रस्य प्रयोजनं हरीणामित्यादावेव तद्वदिह ।
यद्यपि राधागतादौ स्वल्पं फलं, तथापि कृष्णाग्रे इत्यादौ सम्यक् फलमिति न सूत्रस्य
निरर्थकत्वम् । उक्तञ्चान्यैः—अदीर्घो दीर्घतां याति पुनर्दीर्घेण दीर्घताम् । पर्जन्यवदिदं
शास्त्रं जले वृष्टिः स्थले यथेति । हरीहा हरिचेष्टा विष्णूढा रुक्मिण्यादिः । नरभ्रातृषिरिति
नरभ्राता नारायणः, स तु ऋषिरेव । ततश्च नरभ्राता चासौ ऋषिश्चेति श्यामरामसमासः ।
गमलृकार इत्येतत् पदं क्रमदीश्वरासमतं, तन्मते गमृकार इत्येव भवति ॥४६॥

बाल०—ऋद्वयम् । ऋ-लृद्वयमित्युक्तम् । एवं लृ ऋद्वय लृद्वयमित्यपि भवतीति
ज्ञेयम् । ऋदृति ररामभागद्वययुक्त ऋरामो वेति वक्तव्यम् । होतृ ऋकार इत्यत्र होतृकारो
होतृकारो वा । ऋद्-लृति लृदृति लरामभागद्वययुक्त लृरामो वेति च वक्तव्यम् । होतृ लृकार
इत्यत्र होतृलृकारः । गम्-लृ-ऋकार इत्यत्र गम्लृकार इति ।

ईदृशेति । ईदृशो दशावतार एकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्यनेन दशावतारस्य
स्थाने त्रिविक्रमो विधिर्विरिञ्चिर्भवति । एवमुत्तरत्रापि इद्वयादि परे अद्वयस्य स्थाने

४८. अद्वयमिद्वये ए ।

अ आ इति द्वयं इ ई इति द्वये परे तेन मिलित्वा एरामो भवति ।
यादव इन्द्रः यादवेन्द्रः, गोकुल ईशः गोकुलेशः, मथुरा ईशः मथुरेशः ।

४९. प्रादेषैष्ययोर्वा तथा ।

प्र एषः प्रेषः, प्रएष्यः प्रेष्यः । पक्षे एद्वये ऐ—प्रैषः प्रैष्यः ।

५०. उद्वये ओ ।

अ आ इति द्वयं उ ऊ इति द्वये परे मिलित्वा ओरामो भवति ।
अद्वयमत्र पूर्वत्रोऽनुवर्तते । यदुक्तम्—कार्यिणा हन्यते कार्यो कार्यकार्येण
हन्यते; निमित्तश्च निमित्तेन यच्छेशमनुवर्तत इति । पुरुष उत्तमः
पुरुषोत्तमः, सुपर्ण ऊढः सुपर्णोढः, द्वारका उत्सवः द्वारकोत्सवः ।

अमृता०—४९. प्रादिति । एष एष्ययोः परयोः प्रादुत्तरः अरामस्तथा वा भवति,
अर्थात् पूर्वोक्त एरामो वा भवति । अराम एषैष्ययोरेरामेण मिलित्वा एरामो वा भवतीति
फलितार्थः । पक्षे एद्वये ऐ वक्ष्यतेऽन्तिक एव ।

अमृता०—५०. उद्वय इति । ननु वृत्तौ अआ इतिद्वयमितीदृशी व्याख्या कुतो
लब्धा, सूत्रे तद् दर्शनविरहदिति चेत्तत्राह—अद्वयमिति । तदनुवर्तनमेव द्रव्यति प्राचीन
कारिकया—कार्यिणे त्यादिभिः । कार्यमस्यास्तीति कार्यो, यत् क्रियते तत् कार्यम्, येनविना
यन्नभवति तत्तस्य निमित्तम् । तच्चात्र प्राङ्निमित्त परनिमित्ताभेदेन द्विविधम् । अत्र उद्वयेन
परनिमित्तेन इद्वयं परनिमित्तं हन्यते अर्थाद् वाध्यते । ओराम-कार्येण एराम-कार्यं हन्यते ।
ततोऽद्वयं कार्यं तु नकेनापि वाध्यते तेन तदेवानुवर्तते । अनुवृत्तिरधिकारः । सा च
गङ्गास्रोतः,—सिंहावलोकित-मण्डूकप्लुति-भेदात् त्रिविधा । इह खलु अवाध्यत्वेन पूर्वतो
धारावाहिकतयोत्तरोत्तरमनुवर्तनाद् गङ्गास्रोतो नामाधिकारः । अन्तिमौ तु समास-
तद्वितयोर्दर्शयिष्येते । सुन्दरेपर्णे पक्षे यस्य स सुपर्णो गरुडः, तेनोढः कृष्णः ।

एरामादिरपि विधिविरिञ्चिरिति ज्ञेयम् । विधिलक्षणमाह—कर्तव्यत्वेनेति कर्तव्यत्वरूपेण
य उपदेशः, स विरिञ्चिः । अत्रोपदेशपदं करणघणन्तं कर्मघणन्तश्च गृहीतम्, यदा करण-
घणन्तं, तदा सूत्रस्यैव विरिञ्चित्वं, यदा कर्मघणन्तं, तदा कार्यस्यैवेति । प्रतिपादितसूत्रस्य
तु पाणिनीयैरप्युक्तं, तद् यथा—धातुसूत्रगणोणादि वाक्यलिङ्गानुशासनम् । आगमप्रत्यया
देशा उपदेशाः प्रकीर्तिता इति ॥४७॥

बाल०—अद्वयम् । सुगमम् ॥४८॥

बाल०—प्रात् । एषैष्ययोः परयोः प्रादुत्तरोऽरामस्था वा भवति एषैष्ययोरेरामेण
मिलित्वा एरामो वा भवतीत्यर्थः । प्रादिति सौत्रत्वादरामान्तनिर्देशः ॥४९॥

५१. ओमि च तथा ।

कृष्ण ओम् कृष्णोम् ।

५२. ऋद्वये अर् ।

अ आ इति द्वयं ऋ ऋ इति द्वये परे मिलित्वा अर् भवति । कृष्ण ऋद्धिः कृष्ण् अर् द्विः इति स्थिते जलतुम्बिका न्यायेन पूर्वविष्णुजनस्य परोर्ध्वगमनम्; जलवालुकान्यायेन परसर्वेश्वरस्य पूर्वविष्णुजने प्रवेशः । कृष्णद्धिः ।

अमृता०—५१. ओमिचेति । अआ इति द्वयं ओमि परे तथा पूर्वोक्त ओरामः स्यात् । अमित्यस्य ओरामेण मिलित्वा ओराम एव भवतीत्यर्थः । ओ द्वये औ इति वक्ष्यमाणेन ओरामे प्राप्ते तद्वाधित्वा ओरामविधानम् ।

अमृता०—५२. ऋद्वय इति । जलतुम्बिकेति—जले तुम्बिका अलावुरिव यो न्यायः प्रवर्तते स जलतुम्बिका न्यायः । अन्तः सार-शून्या शुष्कतुम्बिका यथा जलाभ्यन्तरे न्यस्तापि जलोर्ध्वमेवप्लवते तथा पूर्वविष्णुजनः परोर्ध्वमेव गच्छतीत्यर्थः । जले वालुका इव न्यायः इति जलवालुकान्यायः । जलोपरि निक्षिप्तापि वालुका यथा जलाधोदेशं संलगति तथा परस्थित-सर्वेश्वरः पूर्वविष्णु जने प्रविशतीत्यर्थः ।

बाल०—ऊद्वये । सुगमम् । ननु सूत्रेऽद्वयं न दृश्यते, वृत्तौ कथं अ-आ इति द्वयम् उ-ऊ इति द्वयम् इत्युच्यते इति चेत् तत्रैवाह—अद्वयमत्रेति यद्यत्राद्वयमनुवर्तते, तदा इद्वय इति ए इति च कथं नानुवर्तते इत्यत आह यदुक्तमिति । कार्यिणेति । कार्यिणा कार्यी हन्यते बाध्यते, कार्येण कार्यं हन्यते बाध्यते, निमित्ताच्च निमित्तेन हन्यते बाध्यते, यत् शेषं अवशिष्टं केनापि न बाध्यते, तदनुवर्तते इत्यर्थः । कार्यमस्यास्तीति कार्यी । यत्क्रियते तत्कार्यम् । येन विना यन्न भवति तत्तस्य निमित्तम् । तच्चात्र द्विविधं, प्राङ्निमित्तं परनिमित्तञ्च । अबाध्यत्वेनैवोत्तरोत्तरतः पुनर्वर्तनमनुवृत्तिरिति सा च कार्यनुवृत्तिः कार्यानुवृत्तिः निमित्तानुवृत्तिरिति त्रिधा । अत्र उद्वयेन परनिमित्तेन इद्वयं परनिमित्तं बाध्यते, ओरामकार्येण एरामकार्यं बाध्यते । अद्वयकार्यी तु केनापि न बाध्यते, अतस्तदनुवर्तते इति ज्ञेयम् । कार्यिणा कार्यी बाध्यते इति स्थानान्तरे बोद्धव्यम् । स्थानान्तरन्तु उद्वयं व इत्यादौ ज्ञेयम् । सुपर्णोऽह इति सुपर्णो गरुडस्तेनोऽहः सुपर्णोऽहः श्रीकृष्णः ॥५०॥

बाल०—ओमि । अ-आ इति द्वयम् ओमि च परे तथा सन्धिर्भवति । ओमित्यनेन मिलित्वा ओरामो भवतीत्यर्थः ॥५१॥

बाल०—ऋद्वये । ऋद्धिवृद्धिः । जल-तुम्बिकेति जले तुम्बिका इव यो न्यायः प्रवर्तते, स जल-तुम्बिकान्यायः । तेन जल-तुम्बिकान्यायेन तुम्बी अलावुः । तुम्ब्यलावुरुभे समे इत्यमरः । सात्र शुष्कान्तःशून्यैव ज्ञेया । सा यथा जले अन्तस्त्यक्त्वापि ऊर्ध्वमेव गच्छति, तथा पूर्वस्थितो विष्णुजनः परोर्ध्वमेव गच्छतीत्यर्थः । जल-वालुकेति जले वालुका इव यो

५३. लृ द्वये अल् ।

अ आ इति द्वयं लृ लृ इति द्वये परे मिलित्वा अल् भवति ।

यमुना लृकारायते यमुनल्कारायते ।

५४. पुनरद्वयसन्धौ आडादेशः परनिमित्तवद् वक्तव्यः ।

अतिदेशोऽयम् । अन्यतुल्यत्वविधानमतिदेशः । अत्रारामस्य डित्त्वं क्रियायोगे इति वक्ष्यते । आ इहि एहि, कृष्ण एहि कृष्णेहि । आ ऊढा ओढा, कृष्ण ओढा कृष्णोढा । आ ऋद्धिः अर्द्धिः, कृष्ण अर्द्धिः कृष्णाद्धिः । आ लृकारायते अल्कारायते, यमुना अल्कारायते यमुनाल्कारायते ।

५५. ए द्वये ऐ ।

अ आ इति द्वयं ए ऐ इति द्वये परे मिलित्वा ऐ रामो भवति । कृष्ण एकनाथः कृष्णैकनाथः । कृष्ण ऐश्वर्यं कृष्णैश्वर्यम् ।

अमृता०—५३. लृद्वय इति । लृकार इवाचरतीत्यर्थे क्यङिलृकारायते ।

अमृता०—५४. पुनरिति । पुनरद्वयसन्धौ—अद्वयमिद्वये ए प्रभृति सन्धिचतुष्टये विषये, आडादेशः पूर्वविहिताङ् एरामादिरूप आदेशः, इरामादिभिरिति शेषः, यत्परनिमित्तम्—इरामादि, तद्वद् वक्तव्यः । तेन अद्वयमिद्वयेन मिलित्वा यथा एरामो भवति तथा अद्वयं एरामेणापि मिलित्वा एरामएव स्यान्नतु एराम इत्यादिकं ज्ञेयम् । अतिदेशलक्षणमाह—अन्येति । उक्तञ्चान्यैः—प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु । धर्मोऽतिदिश्यते येन सोऽतिदेश इति स्मृतः ॥ इति । अत्रेति—क्रियायोगे आङोडित्त्वं इरामस्याप्रयोगो वक्ष्यते—ईषदथे क्रियायोगे इत्यादिनेत्यर्थः । ननु कथं—“तामुपैहि” इत्यत्र न परनिमित्तवत्त्वम् ? सत्यंसूत्रे आडादेश इति आङ्शब्देन उपसर्ग एवेष्टः, अत्रतूपसर्ग-प्रतिरूपकाव्ययमेवाङ्, ततो न दोषः ।

न्यायः प्रवर्तते, स जल-वालुकान्यायः । तेन जलवालुकान्यायेन वालुका यथा जलोपरि निक्षिप्तापि अन्तरे प्रविशति, तथा परस्थितः सर्वेश्वरः पूर्वविष्णुजने एव प्रविशतीत्यर्थः ॥५२॥

बाल०—लृद्वये । लृकारायत इति लृकार इवाचरतीत्यर्थः ॥५३॥

बाल०—पुनरद्वयसन्धौ विषये आडादेशः अर्थादिरामादिना सहेति शेषः । आङ्आदेश एरामादिः परनिमित्तवद् वक्तव्यः आङ् पूर्वनिमित्तम् । तेन यथा अराम इरामेण सह मिलित्वा एरामो भवति, तथा अराम एरामेणापि सह मिलित्वा एराम एव भवतीत्येवं क्रमेण बोद्धव्यम् । अतिदेशलक्षणमाह अन्येति । अन्यतुल्यत्वस्य विधानम् अन्यतुल्यत्वविधानम् । अत्रेति अत्र अस्य लक्षणस्योदाहरणेषु आरामस्य क्रियायोगे डित्त्वमिति वक्ष्यते इत्यर्थः ॥५४॥

बाल०—एद्वये । सुगमम् ॥५५॥

५६. स्वादीरेरिणोश्च तथा ।

स्व ईरं स्वैरं, स्व ईरी स्वैरी । स्वैरिणी च । नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्ट-
स्यापि ग्रहणमिति न्यायात् ।

५७. ओ द्वये औ ।

अ आ इति द्वयं ओ औ इति द्वये परे मिलित्वा औरामो भवति । कृष्ण
ओदनं कृष्णौदनम्, कृष्ण औन्नत्यं कृष्णौन्नत्यम् ।

५८. प्रादुढोढ्योश्च तथा ।

प्र ऊढः प्रौढः, प्र ऊढिः प्रौढिः । ऊहमिति केचित् पठन्ति । प्रौहः ।
नेह—प्रोढवान्; अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्य न ग्रहणमिति न्यायात् ।

५९. इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे ।

इ ई इति द्वयमेव सर्वेश्वरे परे यरामो भवति नतु मिलित्वा । यइत्यराम
उच्चारणार्थः । एवमन्यत्रापि । हरि अर्चनं हर्यर्चनं, हरिआसनं हर्यासनं,

अमृता०—५६. स्वादिति । ईरेरिणोः परयोः स्वादुत्तरोऽरामः तथा पूर्ववन्
मिलित्वा एराम एव भवतीत्यर्थः । अत्र अद्वयमिद्वये ए इत्येरामे प्राप्ते विशेषविधिरयम् ।
ननु सूत्रे स्त्रीत्वाग्रहणात् कथं स्वैरिणीति सिध्यति ? तत्राह—नाम्न इत्यादि । नाम्नः
शब्दस्य ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य लिङ्गयुक्तस्यापि ग्रहणं भवति । लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति
लिङ्गं, स्त्रीत्व-पुंस्त्व नपुंसकत्व-ज्ञापकचिह्नमित्यर्थः ।

अमृता०—५८. प्रादिति । ऊढोढ्योः परयोः प्रादुत्तरोऽरामस्तथा पूर्ववद् मिलित्वा
औराम एव भवति । अत्र “उद्वये ओ” इत्योरामे प्राप्ते विशेषविधानमिदम् । अर्थवदिति—
प्रकृति-प्रत्यय-समुदायेनैवार्थं प्रकाशकत्व-नियमः; इह तु क्तवन्तस्य ‘ऊढवत्’ शब्दस्यैक-
देशऊढ इत्यंशस्यार्थशून्यत्वात् तस्मिन् परे सूत्रस्य प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः ।

बाल०—स्यात् । ईरेरिणोः परयोः स्वादुत्तरोऽरामस्तथा भवति मिलित्वा ऐरामो
भवतीत्यर्थः । स्वादिति पूर्ववत् । ननु सूत्रे ईरिन्शब्दोऽस्ति तर्हि कथं स्वैरिणी इति भवतु
इति चेत्तत्राह—नाम्न इति लिङ्गेति लिङ्ग्यते ज्ञायते स्त्रीत्वादिकमनेनेति लिङ्गमावादि
तद्विशिष्टस्य तदयुक्तस्य इत्यर्थः ॥५६॥

बाल०—ओद्वये । सुगमम् ॥५७॥

बाल०—प्रात् । ऊढोढ्योः परयोः प्रादुत्तरोऽरामस्तथा भवति मिलित्वा औरामो
भवतीत्यर्थः । प्रादिति पूर्ववत् । अर्थवदिति अत्र ऊढशब्दः सार्थको गृह्यते, अतः
ऊढवच्छब्दकदेशस्य ऊढेत्यस्य अर्थशून्यत्वात्तस्मिन् परे न भवतीत्यर्थः । अत्रार्थ एव
नास्तीति न, किन्तु यत्र पदार्थं गृहीत्वा यत्कार्यं क्रियते, तदतिरिक्तार्थोऽनर्थक इति ॥५८॥

दधि उपेन्द्रस्य दध्युपेन्द्रस्य, रुक्मिणी एषा रुक्मिण्येषा । एतावतैव सिद्धिः । द्वित्वविकल्पेन तु मतान्तराणि वक्ष्यन्ते । तस्मादसिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञा नात्र व्यभिचरति । कथं हरिहरीति ? एकात्मकतामवलम्ब्य त्रिविक्रमविधेर्विशेषत्वेन बलवत्त्वात् । तथाहि,—समस्तव्यापि सामान्यं, एकदेशव्यापी विशेषः । सामान्य विधिरुत्सर्गो विशेषविधिरपवादः । इति स्थिते पूर्व परयोः परविधिर्बलवान्, नित्यानित्ययोर्नित्यः, अन्तरङ्गवहिरङ्गयोरन्तरङ्गः, उत्सर्गापवादयोरपवादः । तेषु चोत्त-

अमृता०—५६. इद्वयमिति । ननु मिलित्वेति एवकारात्तादव्यावृत्तिपूर्वक नियमः । एतावतैवेति—एतदुदाहरणानामनेन हि लक्षणेन सिद्धिर्भवति । असन्धिपक्षस्य द्वित्वपक्षस्य चात्रानुक्ततया पृथक्सूत्रविधानेन वक्ष्यमाणत्वाद् “सिद्धरूपं न त्याज्यमिति” प्रतिज्ञाया नात्र व्यभिचार इत्याशयः । प्रागुक्त—हरिहरीत्यादावस्य सूत्रस्य प्राप्तिशङ्कां निरस्यन् समादधाति—एकात्मकतामित्यादि । तमेव सिद्धान्तं द्रढयति—तथाहीत्यादि न्यायैः । अत्र परनिमित्तस्य सर्वेश्वर मात्रस्य समस्त-व्यापित्वात् सामान्यत्वम्, त्रिविक्रम विधानसूत्रे परनिमित्तस्यैकात्मकस्य एकदेश व्यापित्वाद् विशेषत्वं बोध्यम् । तेषु चेति—तेषु चतुर्षु न्यायेषु उत्तरोत्तरो यथानिर्दिष्टक्रमेण हि परपरो न्यायो बलवानित्यर्थः । तेन च परविधेर्नित्यो बलवान्, नित्यादप्यन्तरङ्गः, तस्मादप्यवादो बलवानिति फलितार्थः । दशावतार इति—दशावतारे सामान्यत्वं यद्याशङ्क्यं तदा तत्र त्रिविक्रम विधानसूत्रे दशावतारस्थाने अद्वयमित्येवमेव क्रियते विधीयते मयेतिशेषः ।

अत्रायमाशयः—अद्वयस्य त्रिविक्रमविधानस्य केनाप्यवाध्यत्वाद् विशेषत्वं सिद्धम् । तेन सहैकत्र यस्मादिरामादीनामपि त्रिविक्रम विधानं कृतं तस्माद् दशावतारस्यापि विशेषत्वं निश्चेतव्यम् । यदि दशावतारस्य सामान्यत्वं स्यात्तदा अद्वयस्य दशावतारान्तर्गतत्वेन त्रिविक्रमविधानमकृत्वा अद्वयमेकात्मके मिलित्वा त्रिविक्रम इत्येवं पृथक्त्वेन हि सूत्रं विधीयेतेत्यर्थः । ननु अद्वयमित्येव कृते ईद्वयोद्वयादीनां कागतिरिति चेत्तत्राह—

बाल०—इद्वयमेव । ननु मिलित्वेति सर्वेश्वरेण सहेति एवशब्दोपादानादिति शेषः । एतावतैव सिद्धिरिति एवमुदाहरणानामनेन लक्षणेनैव सिद्धिरित्यर्थः ।

द्वित्वेति । द्वित्वञ्च विकल्पञ्च तयोः समाहारः द्वित्व-विकल्पं गवाश्चादित्वात् । तेन द्वित्व-विकल्पेन पुनर्मतान्तराणि कार्याणि वक्ष्यन्ते । कथमिति सिद्धान्तमाह एकात्मकतामिति सर्वेश्वरमात्रे परे यरामो भवति इति यरामविधेः सामान्यत्वम् । एकात्मकतामित्यत्र स्वरूपमात्रे तात्प्रत्ययः, एकात्मकस्वरूपमित्यर्थः । उक्तमर्थं द्रढयति तथाहीत्यादिना तेषु चोत्तर इत्यन्तेन । समस्तमनेकदेशं व्याप्तुं शीलमस्येति समस्तव्यापी । एकदेशं व्याप्तुं शीलमस्येति एकदेशव्यापी उत्सर्ग इति उत्सर्गनामेत्यर्थः । एवमपवादेऽपि बलवानिति नित्यादिष्वपि योज्यम् । तेष्विति । ननु तेष्वित्यत्र चतुर्षु अष्टसु वेति किं व्याख्येयमिति

रोत्तर इति । दशावतारे सामान्यत्वश्चेत्तत्राद्वयमित्येव क्रियेत, विष्णूदय
इत्यादावपि परपर सूत्र प्राप्तेः । तदेवमेते चान्ये च न्याया युक्त्या
प्रसिद्ध्या च स्वीकृतत्वात् पूर्वमुत्तरश्च ग्रन्थं व्याप्नुवन्ति ।

६०. उद्वयं वः ।

उ ऊ इति द्वयं सर्वेश्वरे परे वरामो भवति । मधु अरिः मध्वरिः, विष्णु
आश्रितः विष्णवाश्रितः ।

विष्णूदय इति । हरिहरि इतीत्यादिरिद्वयमेव यद्व्यनेन, विष्णुउदय इत्यादिरुद्वयं व
इत्यनेन, एवं ऋद्वयं लृद्वयश्च परपर सूत्र द्वयेन बाध्यत एव । ततस्तेषामिद्वयादीनां
त्रिविक्रमविधानस्य निष्फलत्वापत्तेर्न तत् करणं प्रयोजनमिति हेतोस्तत्र अद्वयमित्येव
क्रियेत । अतस्तदकरणाद् दशावतारस्य विशेषत्वमवगन्तव्यमिति । एकात्मकतामवलम्ब्य
दशावतारस्य विशेषतया बलवत्त्वात् तत् सन्धेर्नित्यत्वम्, अतएव “ईशस्यानेकात्मके
वामनश्च वेति” विभाषाविधाने अनेकात्मकस्य ग्रहणमित्यप्यनुसन्धेयम् । तेनेह—
एकात्मकेतर सर्वेश्वर एव परे इत्यादीनां यरामादयो भवन्तीत्येवं व्याख्याने हि सर्व-
समञ्जसमिति । एवमग्रिमत्रितयेऽपि बोद्धव्यम् ।

अमृता०—६०. उद्वयमिति । सर्वेश्वरे इति पूर्वतोऽनुवर्तते । अत्रापि एकात्मके-

सन्देहो मयं ; यद्यत्र तेषु चाष्टस्विति व्याख्यायते, तदा फलाभावः प्रत्युतपौनरुक्तमेव ।
पूर्व-परयोः परविधिर्वलवानित्यादिना व्याख्यानेनाष्टसु न्यायेषु उत्तरोत्तरन्यायानां
बलवत्त्वसिद्धेरतएव युग्मत्वेन निर्दिष्टेषु तेषु च चतुर्पुन्यायेषु उत्तरोत्तरन्यायो बलवानित्येवं
व्याख्येयं, तेन उत्सर्गापवादयोरपवाद इत्यस्य सर्वेभ्य एव बलवत्त्वं व्यक्तम् । दशावतार
इति त्रिविक्रमता दशावतारस्य भवति, यरामता इद्वयस्य एव भवति । दशावतारे
त्रिविक्रमविधेः सामान्यत्वं यदि वक्तव्यं, तदा तत्र त्रिविक्रमसूत्रे अद्वयमित्येव क्रियेत । ननु
अद्वयमात्रे कथं त्रिविक्रमः प्रवर्ततां हरि हरीतीत्यत्र विष्णूदय इत्यादावपि । तस्य प्रवृत्ते-
रित्याह विष्णूदय इत्यादाविति । यथा हरिहरीतीत्यत्र इद्वयमेव यः सर्वेश्वर इत्यस्य
प्राप्तिः, तथा विष्णूदय इत्यादावपि उद्वयं व इत्यादेः प्राप्तिस्तस्मात् त्रिविक्रमस्य अद्वय एव
प्राप्तिरिति अद्वयमित्येव क्रियेत, तस्मादद्वयं न कृत्वा यद्दशावतार इति कृतम्, ततएव
हेतोर्हरिहरीत्यादौ त्रिविक्रम एव प्रवर्तते इत्यर्थः । दशावतारे सामान्यत्वं चेत्, तदाऽद्वयं
मिलित्वा त्रिविक्रम इत्येवं क्रियेत । यस्मादित्येवंसूत्रं न कृतं, तस्माद्दशावतारे एकात्मक-
त्वाऽपेक्षया सामान्यत्वं नास्त्येव इति ध्वन्यर्थः । तदेवमिति तत्तस्मात् प्राचीनैः स्वीकृतत्वा-
वक्ष्यमाणाश्च न्यायाः स्थित्यनतिक्रमाः केचित् युक्त्या तर्केण स्वीकृताः, केचित् प्रसिद्ध्या
च लोकप्रसिद्ध्या पूर्वमुत्तरश्च ग्रन्थं व्याप्नुवन्ति इति ज्ञेयम् । तर्क-प्रसिद्धयोरेषा-
मनुसारित्वं ज्ञेयम् । यथा पूर्वापरविरोधे च कोऽन्वर्थोऽभिमतो भवेदित्यादीनामूहनं
तर्क इति ॥५६॥

६१. ऋ द्वयं रः ।

ऋ ऋ इति द्वयं सर्वेश्वरे परे ररामो भवति । रामभ्रातृ उदयः
रामभ्रात्रुदयः । रामभ्रातृ ऐश्वर्यं रामभ्रात्रैश्वर्यम् ।

६२. लृ द्वयं लः ।

लृ लृ इति द्वयं सर्वेश्वरे परे लरामो भवति । शक्लृ अर्थः शक्लर्थः ।
श्रीपतेरेव । व्याडि-गालवयोर्मतेन मध्ये एव य-व-र-ला भवन्ति ।
हरियर्चनं, भधुवरिः भुवादि इत्यादि ।

६३. ए अय् ।

एरामः अय् भवति सर्वेश्वरे परे । कृष्णे उत्कर्षः कृष्णयुत्कर्षः ।

६४. ऐ आय् ।

ऐ रामः आय् भवति सर्वेश्वरे परे । यमुनायै अर्घः यमुनायायर्घः, गोप्यै
आसनं गोप्यायासनम् ।

६५. ओ अव् ।

ओरामः अव् भवति सर्वेश्वरे परे । विष्णो इह विष्णविह ।

तरेसर्वेश्वरे परे वरामः स्यादिति वक्तव्यम् । एवग्रिमसूत्रद्वयेऽपि ज्ञेयम् ।

अमृता०—६२. लृद्वयमिति । श्रीपतेरिति—श्रीपतेः पण्डितस्य मते प्रागुक्त प्रकारेण
इद्वयादीनामेव स्थाने यरामादयो भवन्ति । अत्र एव शब्द उपमानवाचकः,
“एवौपम्येऽवधारणे” इति विश्व कोषात् । व्याडि-गालवौ पण्डितविशेषौ, तयोर्मते तु
मध्ये एव यवरला भवन्ति नतु इरामादय इत्यर्थः । ६३, ६४, ६५, ६६ । एअयित्यादि
चतुष्टयं स्पष्टम् ।

बाल०—उद्वयं । सुगमम् । मधुरसुरविशेषः ॥६०॥

बाल०—ऋद्वयं । सुगमम् ॥६१॥

बाल०—लृद्वयं । शक्लृधातोरर्थः शक्तिः, सा तु भगवत एव । श्रीपतेरिति श्रीपतेः
पण्डितस्य मते एवमुक्तप्रकारेण इद्वयादीनां स्थाने सर्वेश्वरे परे यादयः प्रयोगा भवन्ति ।
एव शब्दोऽत्र उपमानवाचकः एवौपम्येऽवधारणे इति विश्वः । व्याडीति । व्याडिगालवौ
पण्डितविशेषौ, तयोर्मतेन मध्ये एव इति न तु इद्वयादय इत्यर्थः ॥६२॥

बाल०—ए अय् । सुगमम् ॥६३॥

बाल०—ऐ आय् । सुगमम् ॥६४॥

बाल०—ओ अव् । सुगमम् ॥६५॥

६६. औ आव् ।

औरामः आव् भवति सर्वेश्वरे परे । कृष्णौ अत्र कृष्णावत्र ।

६७. ए ओभ्यामस्य हरो विष्णु पदान्ते ।

ए ओभ्यां विष्णु पदान्ते स्थिताभ्यां परस्य अरामस्य हरो भवति ।
हरे अत्र हरेऽत्र, विष्णो अत्र विष्णोऽत्र

६८. अयादीनां यवयोर्वा ।

अय् आय् अव् आव् इत्येषां विरिञ्चीनां यवयोर्वा हरो भवति विष्णु-
पदान्ते विषये । कृष्णयुत्कर्षः कृष्णउत्कर्षः; यमुनायायर्घः यमुनायाअर्घः;
गोण्यायासनं गोण्याआसनं; विष्णविह विष्णइह; कृष्णावत्र कृष्णाअत्र ।
यवाविमावीषत्स्पर्शिनावीषत्स्पर्शितरौ च मतौ ।

६९. तेषां न सन्धिनित्यम् ।

तेषां यवलोपिनां नित्यं सन्धिर्न भवति । प्रतिषेधोऽयम् । कृष्णउत्कर्ष
इत्यादि ।

७०. ओरामान्तानामनन्तानाञ्चाव्ययानां सर्वेश्वरे ।

ओरामान्तानामनन्तानाञ्च केवलानामव्ययानां सर्वेश्वरे परे सति पूर्वस्य

अमृता०—६७. एओभ्यामिति । अत्र “एअय्” इत्येयोरामस्य अयादेशे, तथा
“ओअव्” इत्योरामस्य अवादेशे च प्राप्ते नियमोऽयम् । तेन विष्णुपदान्ते एओभ्यामरामे-
तरस्मिन्सर्वेश्वरेपरे हि अयवौ आदेशौज्ञेयौ, अरामे परे तु तस्य हर एव स्यादित्यर्थः ।
अविष्णुपदान्ते एओरामयोरेव अयवौ नित्यमेव सिद्धौ ।

अमृता०—६८. अयादीनामिति । अत्रअय गतौ अवरक्षणे इतिधातुद्वयस्य यवयोर्हरे
प्रसक्ते विरिञ्चीनामित्युक्त्या तदतिव्याप्तिर्निरस्ता ।

अमृता०—६९. सन्धिनियेधमाह—तेषामिति । पूर्वसूत्रस्य वानुवृत्ति-निरासार्थमिति
नित्यपदं न्यस्तम् ।

बाल०—औ आव् । सुगमम् ॥६६॥

बाल०—एओभ्यां । सुगमम् ॥ ए अय् इत्ययादेशे प्राप्ते ओ अव् इत्यवादेशे च
प्राप्ते नियमोऽयम्, तेन अरामादन्यस्मिन् सर्वेश्वरेऽयादिर्भवति । एओभ्यान्तु परस्यारामस्य
हर एव स्यादिति भावः ॥६७॥

बाल०—अय् । सुगमम् ॥६८॥

बाल०—तेषां । वानुवृत्तिशङ्कानिरासार्थं नित्यमिति कृतम् ॥६९॥

च परस्य च सन्धिर्न भवति । नो उपेन्द्रः नो अच्युतः । कथं तद्धिते विप्रत्ययान्तस्य गोशब्दस्याव्ययत्वे गोऽभवदिति ? लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति न्यायेन स्यात् ।

अरामादयः सम्बोधनादौ । अत्र सम्बोधने—अ अनन्त । स्मरणे—आ एवमच्युतलीला । भर्त्सने—इ अच्युतं न भजसि । वाक्पूरणे—ई ईदृशः संसारः । आमन्त्रणे—उ अच्युत । प्रतिषेधे—ऊ उपसन्नं मां

अमृता०—७०. ओरामान्तानामिति । केवलानां विष्णुजनसंयोग-रहितानामिति अनन्ताव्ययानामेव विशेषणं, प्राचीनसम्मतत्वात् । ओरामान्ताव्ययानान्तु केवलत्वं न विवक्षा । अहो अहमित्यादि प्रयोगोद्दिश्यते प्राचीन काव्येषु ।^१ “अकेवलार्थमिदं वचनमिति” पद्मनाभेन चोक्तम् । केवलशब्दं प्रतिपदोक्तपरत्वेन व्याख्याय तस्य ओरामान्ताव्यय-विशेषणत्व-स्वीकारे तु मूलोक्ता “कथं तद्धित” इत्यादि शङ्कैव नोपपद्यत इति विभाव्यम् । पूर्वस्य परस्य चेति असन्धिर्दृष्टान्तद्वयेनैव सुव्यक्तः ।

तद्धिते विप्रत्ययान्तस्येति—अगौगौरभवदित्यर्थे विप्रत्यय स्तद्धितः; केवलप्रत्ययस्य वेर्हरः; अव्ययात् स्वादेर्महाहरः । इत्येतैः सिद्धस्य गोशब्दस्य सन्धि दृष्ट्वा तत्राव्याप्तिशङ्कां निवारयति सिद्धान्तेन—लाक्षणिकेति । प्रतिपदोक्तं स्वाभाविकम् । विप्रत्ययान्त-शब्दस्याव्ययत्वं तद्धितप्रकरणे वक्ष्यते ।

केवलानन्तानामसन्धिमुदाहरति—अरामादय इत्यादिना । अ अनन्तेति हे अनन्तेत्यर्थः । भर्त्सनस्तिरस्कारस्तस्मिन् भो अवैष्णव इ अच्युतं न भजसि ? त्वां धिगित्यर्थः । आमन्त्रगमत्रसम्बोधनम् । प्रतिषेधो निषेध स्तत्र उपसन्नमनुगतं मां उ-

बाल०—ओरा । एओभ्यामस्य हर इत्यादिना प्राप्तेऽयं प्रतिषेधः । ओरामान्तानामव्ययानां अनन्तानाञ्च केवलानामव्ययानामित्यर्थः । ओरामान्तानां विष्णुजनसंयुक्तत्वेन केवलत्वाभावात् । अथवा वृत्त्युक्त-केवलशब्देन सर्वेषामेवाव्ययानां केवलत्वं लक्ष्यते । तस्मादोरामान्ताव्ययानामपि केवलत्वं लाक्षणिकौरामस्तं वर्जयित्वा प्रतिपदोक्तत्वापेक्षयोक्तम् । सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्ये बाधे इति न्यायात् । तेन नञ्पुक्रान्तस्याव्ययस्यापि केवलत्वञ्चेति । अन्यथा गोऽभवदित्यादावप्यतिव्याप्तिः स्यात् । अलक्ष्ये लक्षणगमत्रमतिव्याप्तिः । लक्ष्ये लक्षणगमनं व्याप्तिश्चेति । नो इति निषेधार्थम् । कथमिति ननु अगौगौरभवदित्यर्थे तद्धिते सर्वेविप्रत्ययान्तस्य गोशब्दस्याव्ययत्वे सति गो अभवदित्यत्र गोऽभवदिति कथं सिद्ध्यतु इत्याक्षेपे सिद्धान्तमाह लाक्षणिकेति । लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोरित्यत्र मध्ये इति शेषः । प्रतिपदोक्तं प्रतिस्थानोक्तं स्वभावसिद्धमित्यर्थः । पदं व्यवसिति त्राण-स्थान-लक्षमाङ्घ्रिवस्तुषु इति नानार्थवर्गः ।

१—अहो अहं नमो मह्यं दुदुधृत्य सुमध्यमा । उल्लास्य नयने दीर्घे साकांक्षमहमीक्षितः ॥ इति पाणिनिमुनिकृत-जाम्बवतीविजयकाव्ये श्रीकृष्णस्योक्तिः ।

त्यजसि । आङस्तु सन्धिर्भवत्येव । आ अनन्तं आनन्तम्, अनन्तमर्यादां कृत्वेत्यर्थः ।

ईषदर्थे क्रियायोगे व्याप्ति-मर्यादयोश्च यः ।

एतमातं डितं विद्याद् वाक्य-स्मरणयोरङिदिति ॥

७१. ईदूदेतां द्विवचनस्य मणीवादिवर्जम् ।

द्विवचनस्थानीयानां ई ऊ एरामाणां सम्बन्धे सर्वेश्वरे परे सन्धिर्न भवति । हरी अत्र, विष्णू अत्र, अमू अत्र, गङ्गे अत्र, भजेते अजितं, अमुके अत्र स्तः । चान्द्रास्त्वत्र सन्धिमिच्छन्ति । अमुकेऽत्रस्तः । मणीवादौ तु

त्यजसि मात्यजेत्यर्थः । सर्वेश्वरे इति किम्—पूर्वसति सन्धिर्भवत्येव । तथा—विवेहि अ विधेह्य, रक्ष उ रक्षो । वृत्तौ केवलानामिति किम्—प्रैरयति प्रेरयति, खलु आगतः खल्वगतः, इत्यादयस्तु निर्वाधाः । आङस्त्विति—आङोऽपि केवलानन्ताव्ययत्वात् सन्धिनिषेधे प्राप्ते नियमोऽयम् । ननु आङ् इत्यस्यङित्वे किमानं ? तत्र प्राचीनकारिकां प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति—ईषदर्थे इत्यादि । क्रमेणोदाहरणानि यथा,—आ आलोचितं आलोचितम्, ईषदालोचितमित्यर्थः । आ इहि एहि; आ एकदेशात् ऐकदेशात्; आ अनन्तं आनन्तमिति । निरनुबन्धस्य आरामस्य वाक्ये यथा—आ एवं किलैतत्, स्मरणे—आ एवमच्युतलीलेति ।

अरामादयः सम्बोधनादौ वर्तन्ते, तेषां सन्धिनिषेधेन रूपाणि दृश्यन्ते इति शेषः । अत्र सम्बोधने यथेति शेषः । एवं स्मरण इत्यादावपि । अ अनन्तेति हे अनन्तेत्यर्थः । स्मरणं चिन्तनं तस्मिन् यथा आ एवेति एवमुक्तप्रकारेण अच्युतलीला आ स्मरणीया इत्यर्थः । भर्तृसने तिरस्कारे रूपं यथा—इ अच्युतेति भो अवैष्णव अच्युतं न भजसि इ त्वां धिगित्यर्थः । वाक्-पूरणं वाक्पोषणं तस्मिन्नर्थे रूपं यथा—ई ईदृश इति हे भ्रातरीदृशः संसार ई एतादृशो भवितुमर्हतीत्यर्थः । आमन्त्रणं सम्बोधनं कामाचारकरणमिति यावत् तस्मिन् यथा—उ अच्युतेति अच्युत उ भोः स्वाभिप्रेतश्चेन्मामुद्धर । प्रतिषेधे निषेधे रूपं यथा—उ उपसन्नमिति तवानुगतं मां त्यजसि उ मा त्यज । सर्वेश्वरे परे इति किम् ? एहि अ एह्य । अत्र इ अत्रे । प्र उ प्रो । पूर्वसर्वेश्वरत्वादित्यादौ वृत्तौ केवलानामित्युपादानात् प्रैतीत्यादौ च सन्धिर्भवत्येव ।

आङः । डित् आरामस्य अव्ययस्य सन्धिर्भवत्येव । आङोऽपि केवलानन्ताव्ययत्वात् सन्धिनिषेधो भवितुमर्हति । स तु नाचार्याणां सम्मत इति नियमसूत्रमेतत् कृतम् । सानुबन्ध-निरनुबन्धयोरारामयोर्भेदार्थं सिद्धान्त कारिकामाह ईषदिति । ईषदर्थे इति ईषदर्थे अल्पार्थे आ श्यामः । क्रियायोगे आगच्छति । व्याप्तौ आ वैकुण्ठं व्यासकीर्त्तिः । मर्यादायाम् आ वैकुण्ठं संसारः । वाक्ये आ एवं किलैतत् । स्मरणे आ एवमच्युत-लीलेति ॥७०॥

सन्धिर्भवत्येव । विकल्प इत्येके । मणी इव मणीव, एवं दम्पती इव दम्पतीव, रोदसी इव रोदसीव, जम्पती इव जम्पतीव ।

७२. अदसोऽमीत्यस्य ।

अदः शब्दसम्बन्धिनः अमी इत्यस्य पदस्य सर्वेश्वरे परे सन्धिनं भवति । अमी अच्युतप्रियाः । अमीति किम्,—अमुकेऽत्र स्युः । ओरामान्ताद्या असन्धयः पाणिनीयानां प्रगृह्यसंज्ञाः ।

७३. महापुरुषस्य च ।

अमृता०—७१. ईदूदेतामिति । द्विवचनस्थाने जाता द्विवचनस्थानीयाः, तेषां ई अरामाणां क्रमेण यवअयादेशे लोपे च प्राप्ते निषेधोऽयम् । चन्द्रेण प्रोक्तं चान्द्रं व्याकरण, तदधीयन्ते विदुर्वेति चान्द्रा वैयाकरणा द्विवचनान्तानामपि ईरामादीनां सन्धिमिच्छन्ति । मणीवादौ त्विदि—वामन-जयादित्यपचनाभादि-प्राचीनमत-दर्शनादेवं सिद्धान्तितम् । “मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम ।” इति भारत पद्यस्थे मणीवोष्ट्रस्येति प्रयोगे वशब्दो वाशब्दो वा इवार्थे इति तु कैयटादयः । काशिकायां सएव प्रयोगः सन्धिपक्षत्वेनो दाहृतः । एवंमतद्वयं दृष्ट्वैव “मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य इत्येके इवार्थे वकारोऽयमित्यन्ये” इति भाषावृत्तिकारः । स्वमते तु मणीभार्यापती इत्यादेर्द्विवचन त्वादीरामस्य सन्धिनिषेधे प्राप्ते हि तद्वाधनार्थं (सन्धिप्राप्त्यर्थं) तन्निषेधवचने वर्जनमिति ज्ञेयम् । तथापि इव शब्देपरे एषां सन्धिः स्यान्नत्वन्त्यशब्दे परे । यथा—मणीआनयेत्यादौ चेति विवेच्यम् । मणीवादिगणो यथा,—मणीभार्यापती चैव दम्पती रोदसी तथा । वाससी जम्पती चैवमिव जायापती तथा ।

अमृता०—७२. अदस इति । अमुक इति अदस्रब्दादक प्रत्ययेन सिद्धस्य अमुक शब्दस्य बहुत्वरूपम् । अमीत्यत्र सन्धिस्तु अनु करणत्वात् । अदस इति किम् ?—“अम्यत्र प्रतिभाति मे ।” इह अमोरोगः, अमाकला वा विद्यतेऽस्य इति तद्धितेति प्रत्ययान्तस्य न निषेधः ।

बाल०—ईदू । द्विवचनस्थानीयानां द्विवचनरूपस्थानिसम्बन्धिनां द्विवचनसम्बन्धिनामित्यर्थः । हरि अत्रेत्यादावुदाहरणे इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे इत्यादिना सूत्रेण यरामादिप्राप्तेर्निषेधोऽयम् । अजितं श्रीकृष्णमित्यर्थः । अत्र विषये चान्द्रास्तु सन्धिमिच्छन्त्येव विकल्प इत्येके, क्रमदीश्वरादयः । मणीवादिगणो यथा । मणी भार्यापती चैव दम्पती रोदसी तथा । वाससी जम्पती चैवमिव जायापती तथा ॥७१॥

बाल०—अदस इत्युपादानात् अमरोगे इत्यस्य धातोः कृत्प्रत्ययान्तस्य अम इत्यस्मात् तद्धितेऽणिप्रत्यये कृते यदमीति भवति, तस्य सन्धिर्भवत्येव तथा अमा कला चन्द्रो विद्यतेऽस्य अमीचन्द्र इत्यस्यापि सन्धिः । असन्धय इति असन्धिनामान इत्यर्थः । पाणिनीयानां पण्डितानां मते ओरामान्ताद्या असन्धिनामानः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति ॥७२॥

महापुरुषस्य च सम्बन्धे सर्वेश्वरे परे सन्धिर्न भवति । दूराह्वानादावन्त्य सर्वेश्वरस्य महापुरुषत्वं मतम् । आगच्छ हरेऽ आगच्छ । तिष्ठहरेऽ अत्र तिष्ठ । सर्वेश्वरे परे निषेधा—दत्र तु सन्धिः—गच्छ आश्च्युतदत्त गच्छाश्च्युतदत्त ! आदिमहापुरुषमिदं सम्बोधनम् । तथाहि तत्सूत्राणि ।

७४. दूराह्वानादौ यत्नविशेषे वाक्यस्यान्ते सम्बोधन पदस्य संसारो महापुरुषः । क्रियान्वयावच्छिन्न पद समूहो वाक्यम् ।

७५. अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णाः संसारसंज्ञाः । टिसंज्ञेति प्राञ्चः ।

अमृता०—७३. महेति स्फुटम् । अन्त्यसर्वेश्वरस्य महापुरुषत्वं मतमितिदूराह्वानादि यत्न विशेष इत्यादिना वक्ष्यते । आगच्छेत्यत्र तिष्ठेत्यत्र च क्रमेण—“एअय्” “एओभ्या-मस्य हर” इति द्वयेन सन्धौ प्राप्ते निषेधः । सर्वेश्वरे परे निषेधात् तत् पूर्वत्वे सति सन्धिर्भवत्येवेति भावः । आश्च्युतदत्तेत्यत्र “गुरोरनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य प्राचामिति” वक्ष्यमाणेन महापुरुषत्वमित्याह—आदीति । महापुरुषे वामनमपि त्रिविक्रममुच्चारयन्ति लिखन्ति चेति नियमात् अच्युतदत्तेत्यस्य आद्यरामस्य त्रिविक्रमत्वेनोच्चारणं लेखनञ्च । प्रसङ्गान्महापुरुष सूत्राणि दर्शयन्ते ।

अमृता०—७४. दूरेति । यत्रविशेषे विवृतरूप-प्रयत्ने इत्यर्थः । वाक्यलक्षणमाह—क्रियेत्यादिना । क्रिया सत्तादिलक्षणो धात्वर्थः, तस्याः अन्वयेन सम्बन्धेन अवच्छिन्नो युक्त इति क्रियान्वयावच्छिन्नः क्रियान्वयित इत्यर्थः, पदानां समूहः समुदायो वाक्यं स्यात् । तथा च—“वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त पदोच्चयः इति साहित्यदर्पणम् । एवमेव नैयायिकानामपि लक्षणम् । तत्र योग्यता—शब्दानां परस्पर-सम्बन्धे बाधाभावः । तेन वह्निना सिञ्चतीत्यादेर्वाक्यत्वनिरासः । आकाङ्क्षा—प्रतीति पर्यवसान-विरहः श्रोतृ-जिज्ञासारूपः । तेन गौरश्च पुरुष इत्यादि पदसमूहस्य न वाक्यत्वम् । आसत्तिर्बुद्धे रविच्छेदः तेनाद्युनोच्चारितस्य कृष्णशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन कृपयेति पदेन नान्वयः । एषु सर्वत्र क्रियान्वयित्वासम्भवान्न वाक्यत्वमिति फलितार्थः ।

बाल०—सुगमम् ॥७३॥

बाल०—दूराह्वानादाविति दूराह्वानादौ यत्नविशेष इत्यनेनान्त्यसर्वेश्वरस्य महापुरुषत्वं मतमिति वक्ष्यते । आगच्छ हरेऽ आगच्छ इत्यत्र ‘ए अय्’ इत्यनेन प्राप्ते सन्धिनिषेधः । तिष्ठ हरेऽ अत्र तिष्ठ इत्यत्र तु ‘ए ओभ्यामि’ त्यनेन प्राप्तसन्धिनिषेध इति । सर्वेश्वरे परे निषेधात् सर्वेश्वरपूर्वत्वेऽत्र सन्धिर्भवेदिति भावः । आश्च्युतदत्तेत्यत्र गुरोरनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य प्राचामित्यनेन वक्ष्यमाणेनाच्युतदत्त शब्दस्याद्यरामस्य महापुरुषत्व-मित्याह आदीति महापुरुष वामनमपि त्रिविक्रममुच्चारयन्ति लिखन्ति च तज्ज्ञा अतोऽच्यु-तदत्तस्याद्यरामस्य त्रिविक्रमपाठश्चेति । प्रसङ्गादयथा महापुरुष लक्षणानि दर्शितानि, तथा तेन प्रकारेण हि निश्चितं तत् सूत्राणि महापुरुषलक्षणानीदानीं दर्शयन्ते ॥७४॥

आगच्छ हरेः । तिष्ठहरेः । आदिपदेन गाने रोदने विचारेचेति सारस्वतादयः । सम्बोधनमात्रे चेति काशिका । कृष्णं भजस्व वैष्णवाः । वाक्यस्यान्त एव नत्विह—हरे आगच्छ । कृष्णाः एहीति प्रक्रिया-कौमुद्याभ्रमः ।

सारस्वत प्रक्रियायां भ्रमा ये सन्ति भूरयः ।

लिखितं ते न शक्यन्ते ज्ञेयास्त्वस्यानुसारतः ॥

सर्वेषाममतं यत् स्यात् स भ्रमः परिचीयते ।

बहूनाममतं यत्तत् केषाञ्चिन्मतमिष्यते ॥

अमृता०—७५. अन्त्येति । अन्तेभवः अन्त्यः, सचासौ सर्वेश्वरश्चेति अन्त्य सर्वेश्वरः । स आदिर्येषां ते अन्त्यसर्वेश्वरादयः ; ते च ते वर्णाश्चेति अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णाः संसार-संज्ञकाः स्युः । आदिपदं सारस्वतादिमतेन विवृणोति—आदीति । मतान्तरमाह—सम्बो-धनेति । सम्बोधनपदमात्रे अर्थात् दूराह्वानाद्यभावेऽपि, च शब्दात् दूराह्वानादावपि महापुरुषः स्यादिति काशिका आहुः । गौरवे बहुत्वम् । सम्बोधनमात्रत्वेऽपि वाक्यस्यान्त एव महापुरुषः स्यात्, तदभावेतु भ्रमएवेत्याह—कृष्णाः एहीति । ६।१।१२५। ननु सारस्वत प्रक्रियायामपि “देवदत्ताः एही”त्युदाहरणे वाक्यस्याद्यपदे हि महापुरुष-प्रयोगो दृश्यते, तत्तस्यापि भ्रम एव, कथं तर्हि तां विहाय केवल प्रक्रियाकौमुद्यानामोल्लेख इति चेत्तत्राचष्टे—सारस्वतेति । कस्तावद् भ्रम इत्यपेक्षायामाह—सर्वेषामिति । बहूना-ममते केषाञ्चित् मतंस्वयमापद्यत इत्यर्थः ।

दूरा । स्वाभाविकाद् यत्नादधिको यत्नोऽत्र यत्नविशेषः, दूरात् आह्वानमाक्रोशनं दूराह्वानं तत् आदिर्यस्य स दूराह्वानादिः तस्मिन् दूराह्वानादावर्थविषये यत्नविशेषे सति वाक्यस्यान्ते वर्तमानस्य सम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् ।

वाक्यलक्षणमाह क्रियेति । क्रिया सत्तादिलक्षणो धात्वर्थः । तस्याः क्रियाया अन्वयेन सम्बन्धेन अवच्छिन्नः युक्तः क्रियान्वयावच्छिन्नः । पदानां समूहः पदसमूहः, पदमत्र विष्णुपदम् । समूहशब्दोऽत्रानेकत्ववाची । तथा च क्रियासम्बन्धयुक्तः विष्णुपदसमूहो वाक्यं स्यादिति निर्गलितार्थः । तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता इत्यमरः ॥७४॥

बाल०—अन्त्य इति । अन्ते भवः अन्त्यः । अन्त्यश्चासौ सर्वेश्वरश्चेति अन्त्यसर्वेश्वर अन्त्यसर्वेश्वर आदिर्येषां ते अन्त्यसर्वेश्वरादयः । ते च ते वर्णाश्चेति अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णाः । सम्यक् सारः संसारः श्रीकृष्ण इति संसारपदस्य भगवन्नामता । अन्त्यसर्वेश्वरप्रभृतयो वर्णाः संसारसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः । टि संज्ञाचेति प्राचामिति शेषः । सूत्रे दूराह्वानादावित्यादि पदगृहीतार्थान् सारस्वतादिमतेनैव स्पष्टयति आदीति । सूत्रास्थादिपदेन गाने रोदने विचारे चार्थे विषये वाक्यस्यान्ते वर्तमानसम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुष इति सारस्वतादयः पण्डिता वदन्तीत्यर्थः । मतान्तरमाह सम्बोधनेति सम्बोधनपदमात्रे

७६. है हे प्रयोगेतु हैहयोरेवानन्त्ययोरपि ।

है३ कृष्ण, हे३ कृष्ण, कृष्ण है३, कृष्ण हे३ ।

७७. प्रत्यभिवादवाक्ये संसारः, नतु स्त्रीशूद्रविषये ।

अभिवादये विष्णुमित्रोऽहमित्यनन्तरं गुरुराह—

आयुष्मानेधि विष्णुमित्रा३ । पूर्वोक्त विधीनां स्थानविशेषमाह ।

अमृता०—७६. है हे इति । एवकारात् है हे प्रयोगे तु तयोरेवनिपातयोः संसारस्य महापुरुषत्वं न तु सम्बोधनपदस्य । अनन्त्ययो रिति आद्य-मध्यस्थयोः है हे शब्दयोः । अपि शब्दादन्त्ययोश्च तयोर्महापुरुषत्वं भवेदेवेत्यर्थः ।

अमृता०—७७. प्रत्येति प्रत्यभिवादो नाम यदभिवादमानो गुरुराशिषं प्रयुङ्क्ते । तत्र अस्त्री-शूद्र विषये यदवाक्यं तस्य सम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । अभिवादये विष्णु मित्रोऽहमित्येतत् गुरोरभिवादमानतां दर्शयितुमुपन्यस्तम् । स्त्रियां शूद्रे च विषये न भवति, यथा—अभिवादये गार्ग्यहं, भो आयुष्मतीभव गार्गि ! अभिवादयेदेवदत्तोऽहं, भो आयुष्मान् भव देवदत्त ! असूयकेऽपिकेचित् प्रतिषेधमिच्छन्ति अभिवादवाक्ये यत्संकीर्तितं नाम गोत्रं वा तद् तत्र प्रत्यभिवाद वाक्यान्ते प्रयुज्यते तत्रैव प्लुत इष्यते; तेन नेह—हरिदत्त ! आयुष्मानेधि । पूर्वोक्तेति—पूर्वमुक्ता ये विधयः, दूराह्वानादिषु प्रत्यभिवादवाक्ये च महापुरुष सम्बन्धीयविधयः तेषामित्यर्थः ।

चकारात् दूराह्वानादावपि वर्तमाने तस्मिन् महापुरुषः स्यादिति काशिका आहुरिति गौरवे बहुवचनम् । यद्यपि सम्बोधनमात्रे चेत्युक्तं, तथापि वाक्यस्यान्त एव न तदभाव इत्याह वाक्येति । भ्रम इति वाक्यस्यानन्ते महापुरुषोदाहरणादिति शेषः । सारस्वतेति भूरयः बहवो ये भ्रमाः सन्ति, मया ते लिखितुं न शक्यन्ते; पुनरस्य प्रक्रियाकोमुद्युदाहरणस्यानुसाराद्भुवद्भुजेत्या इत्यर्थः । भ्रमः क इत्यपेक्षायामाह सर्वेषामिति परिचीयते ज्ञायते बहूनामित्यवान्तरानेकानामित्यर्थः ॥७५॥

बाल०—है हे । दूराह्वानादौ यत्नविशेषे गम्ये वाक्यस्यान्ते वर्तमान-सम्बोधन-पदसम्बोधिनो है-हयोः प्रयोगे तु सति सम्बोधनस्यानन्त्ययोरपिकारादन्त्ययोश्च तयोर्यः संसारः, स एव महापुरुषः स्यान्न तु सम्बोधनस्य संसारः ॥७६॥

बाल०—प्रत्य । अभिवादी नमस्कारस्तं प्रत्यभिवादस्य गुर्वदिराशीर्वचनं प्रत्यभिवादस्तथाभूते वाक्ये वर्तमानसम्बोधनपदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । स्त्रीशूद्रौ विषयौ यस्य तस्मिन् प्रत्यभिवादवाक्ये तस्य संसारो महापुरुषो न तु स्यात् । अभिवादये इति नमस्करोमीत्यर्थः । इति इत्यस्याभिवादवाक्यस्यानन्तरमित्यर्थः । स्त्रीशूद्रविषये यथा । आयुष्मती भव गार्गि आयुष्मान् भव भद्रमास । स्वयं ग्रन्थकृद्वृत्तिकाराभिमानी सन् आह पूर्वोक्तेति पूर्वमुक्ता विषयाः सूत्राणि येषां तेषां महापुरुषाणां स्थानविशेषमाह ग्रन्थकृदिति शेषः ॥७७॥

७८. गुरोरनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ।

ऋरामवर्जितस्य गुरोरनन्तस्यापि वर्णस्य यः संसारस्तस्यैकैकस्य सम्बोधने महापुरुषः स्यात् प्राचामाचार्याणां मते नत्वन्येषाम् ।

७९. वामनो लघुः ।

८०. त्रिविक्रमो गुरुः ।

८१. सत्संगात् पूर्वो वामनोऽपि गुरुः ।

८२. मिथः संलग्नो विष्णुजनः सत्संगसंज्ञः, संयोगश्च ।

वी३ष्णुमित्र ? विष्णुमी३त्र ? मतान्तरे विष्णुमित्रा३इत्येव । अनृतः किम् ? कृष्णमी३त्र, कृष्णमित्रा३ ? आगच्छेति सर्वस्यादौ योज्यं, वाक्याधिकारात् ।

अमृता—७८. गुरोरिति । न ऋत् (ऋरामः) अनृत तस्य । अनन्तस्येति आद्यस्य मध्यस्य च; अपिशब्दादन्त्यस्य च गुरुवर्णस्य यः संसारस्तस्य एकैकस्य पर्यायेण सम्बोधने विषये महापुरुषो भवति । प्राचामिति पाणिन्यादीनामाचार्याणामेव मते नत्वाधुनिकानामित्यर्थः ।

अमृता०—७९. प्रसङ्गाल्लघुगुर्वादीनां लक्षणान्याह—वामन इति । सूत्रद्वयं स्पष्टम् ।

आमृता०—८१. सत्सङ्गादिति । यथोक्तं छन्दोमञ्जरीकृता,—सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् । वर्णसंयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा ॥ इति ।

अमृता०—८२. मिथ इति । मिथःसंलग्नः परस्पर संयुक्त इत्यर्थः । मतान्तर इति—आधुनिकानां मते वाक्यस्यान्त एव । प्रत्यभिवादवाक्ये यथा,—अभिवादये विष्णुधर्माहं, चिरं जीव भोवी३ष्णुधर्मन् ! विष्णुधा३र्मन् ! विष्णु धर्मा३न् इति ।

बाल०—गुरोः । न ऋत् अनृत तस्य । वृत्तिमाह ऋरामेति दूराह्वानादावित्यनुवर्तित एव । तेन दूराह्वानादौ यत्नविशेषे वाक्यस्यान्ते वर्त्तमाने सम्बोधने पदे ऋरामवर्जितस्य गुरुरूपस्य अन्त्यस्य अन्तर्भवरहितस्य आद्यस्य मध्यस्यापि शब्दादन्त्यस्य वर्णस्य यः संसारस्तस्य संसारस्यैकैकस्य स्थाने क्रमेण महापुरुषः स्यात् । प्राचां पाणिन्यादीनामाचार्याणां मतेऽयं न त्वन्येषामाधुनिकानामित्यर्थः । आनुसङ्गिकतया लघ्वादीनां लक्षणान्यप्याह वामनेत्यादि ॥७८॥

बाल०—वाम—सुगमम् ॥७९॥

बाल०—त्रिवि—सुगमम् । ॥८०॥

बाल०—सत्स—सुगमम् । ॥८१॥

८३. पृष्टप्रतिवचने हेर्वा ।

अकार्षीर्मांलां विष्णुमित्र ? अकार्षं ही३ । अकार्षं हि ।

८४. आक्षेपगर्भे निगृहीत-परमतस्यानुवादे वाक्यस्य संसारो वा ।

अनित्या हरिभक्तिरित्यात्था३ । पक्षे नतु ।

८५. आम्रेडितस्य संसारो भर्तृसने पर्यायेण ।

अवैष्णवा ३ अवैष्णव ! अवैष्णव अवैष्णवा३ ।

अमृता०—८३. पृष्टेति । पृष्टस्य जिज्ञासितस्य प्रतिवचनं प्रत्युत्तरं, तत्र निरातस्य हिशब्दस्य संसारो महापुरुषो वा भवति । प्रतिवचनं पृष्टस्यैव भवति तथापि पृष्टपदं स्पष्टार्थम् । कृष्णार्थं मालाकरणाय प्रेषितं विष्णुमित्रमाचार्यः पृच्छति—अकार्षीरिति । अथविष्णुमित्रस्तत् प्रत्युत्तरमाह—अकार्षमिति ।

अमृता०—८४. आक्षेपेति । आक्षेप उगालम्भनं गर्भेयस्य स आक्षेपगर्भः, तस्मिन् निगृहीतस्य उपपत्तिभिः खंडितस्य परमतस्य अनुवादे अनुकथने सति वाक्यस्य यः संसार-स्तस्य महापुरुषो वा स्यात् । अनित्या हरिभक्तिरिति केनचित् प्रतिज्ञातं, तत् आचार्यः प्रमाणैस्तन्मतं निरस्य तद्वाक्यस्यैवानुवादेन तमुपालम्भत—अनित्येति । पक्षे न महापुरुषः ।

अमृता०—८५. आम्रेडितस्येति । भर्तृसने गम्यमाने आम्रेडितस्य द्विस्त्रिरुक्तस्य संसारः पर्यायेण महापुरुषः स्यात् । अत्र वाक्यादेरामन्त्रितस्येति विशेषणमुन्नेयम् । समासे-द्विरुक्ति प्रकरणे “वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूया-सम्मति-कोप-कुत्सन-भर्तृसनेषु” इत्यनेन

बाल०—मिथः । मिथः संलग्नः परस्परं संयुक्त इत्यर्थः । संयोगसंज्ञश्चेत्यन्ये । यथोक्तं छन्दोमञ्जरीकृता । सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् । वर्णसंयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा । वाक्यस्यान्ते वर्तमान सम्बोधनपदे महापुरुष इति यदुक्तं, तत् सर्वस्यादावागच्छेति योजनं विना नार्हति इत्याह आगच्छेति । हेतुमाह वाक्येति ॥८२॥

बाल०—पृष्ट । प्रतिवचनं प्रत्युक्तिः । पृष्टस्य प्रतिवचनं पृष्टप्रतिवचनं तत्र वर्तमानस्य हिशब्दस्य संसारो महापुरुषो वा स्यात् । प्रतिवचनं पृष्टस्यैव भवति, तथापि शब्दोपादानं स्पष्टार्थम् । कृष्णार्थमालाकरणे प्रेरित-विष्णु-मित्रं वैष्णवाचार्यो जिज्ञासतेऽ-कार्षीरिति तदनन्तरं स प्रत्युत्तरमाह अकार्षमिति पदमत्र पूर्वतोऽनुकर्षणीयम् ॥८३॥

बाल०—आक्षे । आक्षेपो गर्भे यस्य स आक्षेपगर्भस्तस्मिन्निगृहीतं यत् परस्य मतं तन्निगृहीतपरमतम्, तस्यानुवादे आक्षेपगर्भे निन्दान्तरे सति वाक्यस्य यः संसारः महापुरुषो वा स्यात् । अनुवादः पश्चात् कथनम् । रेऽवैष्णव या हरिभक्तिरनपायिनी साऽनित्या त्वमित्यात्थ ब्रवीसि त्वां धिगित्याक्षेपगर्भत्वम् ॥८४॥

८६. अंगेत्यनेन युक्तस्याख्यातस्य संसारो भर्त्सने साकाङ्क्षता चेत्
हरिं विनाङ्गं प्रीणीही ३ इदानीं दुःखमाप्स्यसि । इदानीमित्यादे
रत्राकाङ्क्षा; एतांविना तु न स्यात् ।
८७. विचारे पूर्ववाक्यस्य संसारः ।
तमालो नु ३ कृष्णो नु ।
८८. प्रतिश्रवणे च संसारः ।

द्विरुक्तिविधानं सामर्थ्यात् । “आम्नेडितं द्विस्त्रिरुक्तं” मित्यमरः । इह “पर्यायेण” पदेन
वेति निर्वर्तितम् ।^१

अमृता०—८६. अङ्ग इति । चेद्यदि तिरस्कारे साकाङ्क्षता स्यात् तर्हि सम्बोधन
सूचकेन अङ्गेति शब्देन युक्तस्य आख्यातस्य क्रिया पदस्य संसारो महापुरुषः स्यात् ।
अत्रोदाहरणे “इदानीं दुःखमाप्स्यसि” इत्येतस्याकाङ्क्षत्वम् । एतां विना तु न स्यादिति—
विवक्षितार्थस्यापरिसमाप्तेरित्यर्थः । यथाहि अङ्गं भजस्व कृष्णम् । अङ्गेत्यनेन युक्तस्येति
किम्—अङ्गं विष्णुदास सत्यं वदसि । भर्त्सन इत्येव, तदभावेतु न—अङ्गं पठेत् भक्ति
लभेथाः ।

अमृता०—८७. विचार इति । सन्दिग्धवस्तुनि प्रमाणेन तत्त्वपरीक्षा विचारः,
तस्मिन् पूर्ववाक्यस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । पूर्वत्यनेनात्र परवाक्यप्रयोग आक्षिप्यते ।

अमृता०—८८. प्रतिश्रवण इति । अभ्युपगमः स्वीकारः । अविशेषात् प्रतिश्रवणस्य
सर्वे एवार्था ग्रहणीया इति त्रिष्वर्थेषूदाहरणत्रयं दर्शयति—हरिमन्त्रमित्यादिभिः ।

बाल०—आम्ने । भर्त्सने गम्यमाने पर्यायेण क्रमेण आम्नेडितस्यद्विस्त्रिरुक्तस्य
संसारो महापुरुषः स्यात् । आम्नेडितं द्विस्त्रिरुक्तमित्यमरः ॥८५॥

बाल०—अङ्ग । आकाङ्क्षया सह वर्तमानां साकाङ्क्षां तस्य भावः साकाङ्क्षता ।
चेद्यदि भर्त्सने साकाङ्क्षता स्यात्, तर्हि सम्बोधनसूचकेन अङ्गेति शब्देन युक्तस्यान्ते
वर्तमानस्याख्यातपदस्य संसारो महापुरुषो भवति । हे अङ्ग हे भ्रातः यतो हरिं विनाङ्गं
प्रीणीहि प्रीतियुक्तो भवसि, अत इदानीमित्यादि योज्यम् । इदानीमित्यादिरिति
प्रथमान्तपाठो लिपिकारप्रमादकृतः । षष्ठ्यन्तः पाठोऽत्र ज्ञेयः । आकाङ्क्षशब्दस्य
धर्मवाचित्वात् । एतां आकाङ्क्षाम् ॥८६॥

बाल०—विचा । सन्दिग्धे वस्तुनि प्रमाणेन तत्त्वपरीक्षाविचारस्तस्मिन् सति
पूर्ववाक्यस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । नु शब्दो वितर्कः । भवत्ययं तमालः कृष्णो
वेत्यर्थः ॥८७॥

१—अत्रामूयादि चतुर्विंशति महापुरुष इष्यते मुनिना, वार्तिकेन तु तद्विकल्प-विधानादस्मद्ग्रन्थकृता
तदुपेक्षितमित्यनुसन्धेयम् ।

प्रतिश्रवणमभ्युपगमः प्रतिज्ञानं श्रवणाभिमुख्यश्च । हरिमन्त्रं देहि,
हरिमन्त्रं ददामी३ । हरिभक्तिर्नित्या भवितुमर्हती३ । विष्णुमित्र भो
किमात्था३ । एवमन्येऽपि ज्ञेयाः । विचार-प्रश्न-पूजासु चतुर्व्यूहस्य वक्ष्यते

८६. पूर्वाद्धस्य त्वरामः स्यादिदुतावुत्तरस्य हि ।

विभक्तावयवात्तस्माच्छकारो द्विर्भवत्युत ॥

हरा३ इच्छत्रमेतत्ते; पटा३ उच्छत्रमित्यपि ।

अमृता०—८६. पूर्वेति । विचार-प्रश्न-पूजासु गम्यमानासु चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरस्य
पूर्वाद्धस्य आराम आदेशः सन् अधिकारमहापुरुषः स्यात् । उत्तरस्य इदुतौ इरामोरामौ
आदेशौ हि निश्चितं स्यातां नतु महापुरुषौ इत्येव हि शब्दार्थः । उत पुनर्विभक्तः अवयवोऽङ्ग
यस्य तस्मादिरामोरामस्वरूपात् छरामो द्विर्भवति । ननु दृष्टान्तद्वये हरे पटोरित्येतयो
श्चतुर्व्यूहयोर्विश्लेषे स्वत एव अइ अउ इत्येवमवयव-विभागो भवत्येव, किं तर्हि किलादेशेनेति
चेत् ? मैवं, एरामस्याङ्गविभागे आइ, अई इत्यपि स्वरूपः सम्भवेत्, तथा ऐरामस्य विभागे
उत्तरस्य एराम-ओरामावेव सम्भवेतां, नतु इउरामौ । तस्मादादेशेनानेन तत्तत्सम्भावना
निरासिता इति ज्ञेयम् । उदाहरति—हरा इति । विचारे—एतच्छत्रं तेऽन्यस्यवेति
विचार्यमाणे एतद्वचनम् । एवं पटा ३ इति । प्रश्नेच्छत्रमेतत्ते इति जीप्सायामुक्तिः । तथैव
पटा ३ इति । पूजात्र प्रशंसावचनम्; तत्र—पटा ३ उच्छत्रमेतत्ते तुभ्यमिति ।

बाल०—प्रति । प्रतिश्रवणेऽर्थे वाक्यस्य संसारो महापुरुषः स्यात् । प्रतिश्रवणं
त्रिधा भिद्यत इत्याह प्रतीति । अभ्युपगमो देयतया स्वीकारः । प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा ।
श्रवणाभिमुख्यं श्रवणेऽभिमुख्यता । क्रमेणोदाहरणत्रयमाह हरिमन्त्रमिति एवमुक्तप्रकारेण
अन्येपि महापुरुषस्य प्रयोगा ज्ञेयाः । विधिवाक्यमाह विचारेति । विचार-प्रश्न पूजासु
गम्यमानासु चतुर्व्यूहस्य महापुरुषत्वं वक्ष्यते । वक्तव्यं पूर्वाद्धस्येत्यनेन इति शेषः ॥८८॥

बाल०—पूर्वा । विचारप्रश्नपूजासु गम्यासु चतुर्व्यूहस्य सन्ध्यक्षरस्य पूर्वाद्धस्या-
पूर्वाद्धस्यारामः सन् स तु महापुरुषः स्यात् । उत्तरस्य पराद्धस्य इदुतौ इ उरामौ निश्चितं
स्याताम् । हिशब्देन नियमात् तौ महापुरुषौ न स्याताम् । तस्मात् इउरामस्वरूपाद्
विभक्तावयवाद् विभागीकृताङ्गात् पर उत पुनश्छकारो द्विर्भवति द्विप्रकारः स्यादित्यर्थः ।
सन्दिग्धे वस्तुनीत्यनेन विचार उक्तः । प्रश्नः जीप्सा । पूजा सत्कारव्यापारणा । चतुर्व्यूहस्य
सन्ध्यक्षरत्वात् सन्धिविश्लेषे कृते एओरामयोरुत्तराद्धस्य इरामोरामौ भवेताम् । ऐ-औ
रामयोः पराद्धस्य तु तौ न भवेतामिति वर्णस्वरूपनिरूपक-तत्प्रत्ययान्तौ इदुताविति
दर्शितम् । उदाहरणे हरा इति हे हरे एतच्छत्रं तव भवति किं न वेत्यर्थः । एवं हे पटो
एतच्छत्रं तव भवति किं न वेति च । अत्र तु हरिशब्दस्य भगवद्वाचित्वात् पटुशब्दस्य
निपुणवाचित्वादादराधिक्येन पूज्यत्वं एतच्छत्रं तव किं न वेत्यनेन तु युगपत् प्रश्न-
विचारत्वमिति ॥८९॥

६०. ओरामस्य बुद्धनिमित्तस्येतौ सन्धिर्वा ।

बुद्धनिमित्तको य ओरामस्तस्य सन्धिर्वा स्यादिति शब्दे परे । बुद्ध-
संज्ञा च वक्ष्यते । विष्णो इति विष्णविति वा । बुद्धनिमित्तस्येति किम्—
गवित्ययमाह । अत्रानुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वादसत्यर्थवत्त्वे
विष्णुभक्तिर्नोपपद्यते । विष्णुभक्तिसंज्ञा च वक्ष्यते ।

६१. ईशस्यानेकात्मके वामनश्च वा ।

अमृता०—६०. ओरामस्येति । बुद्धनिमित्तक इति पीताम्बरसमासे कः । वक्ष्यत
इतिसम्बोधने सुबुद्धसंज्ञ इत्यनेनेति शेषः । व्यावृत्तिमाह—गवित्ययमाहेति । गौरिति वक्तव्ये
केनचित् वाक्शक्ति-वैकल्याद् “गो” इत्युक्तम्, तमन्यो यदानुकरोति तत्रैतत् प्रत्युदाहरणं
ज्ञेयम् । अत्रेति—अनुक्रियते यः सोऽनुकार्यः, प्रथमोक्तशब्दः । येनानुक्रियते सोऽनुकरणः;
पश्चादुक्तः । अयमाशयः,—शाब्दिका खलु अनुकार्यानुकरणयोः शब्दयोः—विवक्षया
भेदमभेदश्च स्वीकुर्वन्ति । तत्रानुकार्यानुकरणयोर्भेदविवक्षायामनुकरणस्य भिन्नशब्दत्वा
दर्थवत्त्वेन नामत्वं, तेन च विष्णुभक्तिः प्रयुज्यत एव । तयोरभेदविवक्षायान्तु अनुकरण-
स्यानुकार्यादभिन्नत्वान्न हि पृथगर्थत्वम् । ततश्च “अघातुविष्णुभक्तिकमर्थवन्नम” इति
नियमानुसारेण न तस्य नामत्वं न वा तत्र विष्णुभक्तिराप्तव्या, किन्तु “नापदं शास्त्रे
प्रयुञ्जीते” ति शास्त्रशासनानुरोधेन साधुत्वं मतम् । तथा च वैयाकरणभूषणसारे—
“अतएव गवित्याह भू सत्तायामितीदृशम् । नप्रातिपदिकं नापि पदं साधु तु तत्स्मृतम् ॥
इति । अत्रानुकार्यानुकरणयोर्भेदे सति “गौरित्ययमाह” इत्येवंसविष्णुभक्तिकं रूपं स्यात् ।
तथाहि न्यासकाराः—“अत्रानुक्रियमाणस्यानुकरणस्य यदिभेदो विवक्ष्यते ततोऽर्थवत्त्वायां
सत्यां स्याद् विभक्तिः । स तु न विवक्ष्यत इतिकृतस्तस्याः प्रसङ्गः । नहीह शब्दशास्त्रे
वस्तुनः सत्त्वं शब्दसंस्कारस्य प्रधानं कारणं, किं हि ? विवक्षा च, सा चेह नास्तीति” ।

अमृता०—६१. ईशस्येति । वृत्त्युदाहरणानि स्पष्टानि । ननु “अन्यत्रचानित्य
मिष्यत” इति परिभाषयैव सन्धेर्विकल्पत्वसिद्धेर्वामिन विधानमेवात्र युक्तं स्यात्, किं
तर्हि असन्धिविधानेनेति चेत्तत्राह—अन्यत्रेति । अत्र तु विधानसामर्थ्यान्मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि

बाल०—ओरा । वृत्तिमाह बुद्धेति । बुद्धेनिमित्तं यस्येति पीताम्बरे कप्रत्ययः ।
वक्ष्यत इति सम्बोधने सुबुद्धसंज्ञा इत्यनेनेति शेषः । बुद्धनिमित्तो रामादन्यत्र तु न स्यादिति
व्यावर्त्तयति बुद्धेति । अयं जनो गो इति वक्तव्यार्थः । अत्रेति गोशब्दोऽनुकार्यो
गोव्यक्तिबोधकः अनुकरणः गोशब्दमात्रबोधकोऽपि स एव किन्त्वत्र तयोरनुकार्यानुकरण-
भूतयोर्गोशब्दयोर्भेदो न विवक्षित इत्यविवक्षितत्वादुन्मत्त-प्रलपितवदनर्थवत्त्वं तस्मिन्नर्थवत्त्वे
सति गवित्यत्र विष्णुभक्तिर्नोपपद्यते नोपपन्ना भवति । अर्थवत्त्वेनैव नामसंज्ञस्य वक्ष्यमाण-
त्वादिति बुद्धनिमित्ताभावात् सन्धिरित्यभिप्रायो वक्ष्यते इति ‘स्वादितिवाद्या विष्णुभक्तयः’
इत्यनेनेति शेषः ॥६०॥

ईशसंज्ञस्य एकात्मकान्य सर्वेश्वरे परे सन्धिर्वा स्यात्; त्रिविक्रमस्य वामनश्च वा । हरि आसनम्, रुक्मिणि एषा रुक्मिणी एषेति । अन्यत्र चानित्यमिष्यत इति मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्न स्यादित्यर्थः । सूत्रेषु तु संहिता संज्ञेषु शीघ्रोच्चारणेऽपि विकल्प्यते ।

८२. ऋद्वयाद्वययोऽर्त्ति ।

विभाषेति विशेषः । ननु । चास्त्वेवं यदि “अन्यत्र चानित्यमिष्यते” इत्यनेन मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धेर्विभाषा स्यात्तदा तेनैव सूत्रेष्वपि विभाषा-सिद्धे किमर्थमनित्यसूत्र निर्देश इति वचनम् ? तदेवाचष्टे—सूत्रेष्वित्यादि । संहिता परसन्निकर्षः, निरतिशयमान-न्तर्यम् अर्द्धमात्राकालमात्रेणाव्यवाय इति प्राचीनाः । साचासौ संज्ञा चेति संहितासंज्ञा, साविद्यते येषां तानि संहिता संज्ञानि; तेषुसूत्रेषु, अर्थाद् यत्र-यत्र परसन्निकर्षत्वात् सन्धिकार्यं प्राप्नोति तत्रतत्रास्मद्ग्रन्थसूत्रेषु मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि सन्धेर्विकल्पत्वमिष्यत इति सूत्रनिर्देशे तदनित्यतोक्तेः सार्थक्यम् । यथा—“कृष्णस्य ए वैष्णवे बहुत्वे” इत्यादीनि । किञ्च—संहितासंज्ञायां संहिताधिकारनिविष्टानि यानि सूत्राणि तानि संहितासूत्राणि, तेष्वपि वैकल्पिकप्रयोगेषु (असन्धिपक्षेषु) शीघ्रोच्चारणेऽपि सन्धिर्नस्यादिति वैशिष्ट्यम् । काशिका-भाषावृत्त्यादि प्राचीन पाणिनीय सूत्रानुक्रमे षष्ठाध्याय प्रथमपादस्यात् ७२ संख्यकसूत्रादारम्य १५८ संख्यकसूत्रं यावत् संहिताधिकारो द्रष्टव्यः । तत्रैव “इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्चे” त्यादि सूत्राण्युक्तानि । तद्विषयक एवायं सिद्धान्तो ज्ञेयः । तेनहरि आसनमित्याद्यसन्धिपक्षे शीघ्रोच्चारणेऽपि सन्धिर्न स्यादिति निष्कर्षः । संहिताधिकारात् तदुपयोगि समयेनैवोच्चारणमवश्यम्भावीति दिक् ।

इह नित्यसमासाविष्णुपदान्ताभ्यामन्यत्रैवायं सन्ध्यभावो वामनश्च ज्ञेयः, निकटे एव तन्निर्दिश्यमानत्वात् । ईशस्येति किम्—यादवेन्द्रः । अनेकात्मक इतिकिम्—रुक्मिणीशः ।

अमृता०—८२. ऋद्वयेति । समासेऽप्ययं निषेधः प्रवर्तत इति माघपद्योदाहरणेन

बाल०—ईश । विवरणोदाहरणे स्पष्टे । वामनविधानं त्रिविक्रमे एव सम्भवतीति त्रिविक्रमस्येत्युक्तं ननु हरि आसनमित्यादौ कथमनेन विभाषाक्रियते अन्यत्र चानित्यमिष्यत इत्यनेन सन्धिविभाषाया अवश्यम्भावित्वादिति चेत् तत्राह,—अन्यत्रेति अन्यत्र चानित्यमिष्यत इति इत्यस्य मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिर्न भवतीत्यर्थः । अन्यत्र चेत्यनेन मध्ये विलम्बोच्चारणे, सति सन्धिर्न स्यात् । अत्र तु सूत्रकरणान्मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि विभाषा इत्यभिप्रायः । ननु यदि अन्यत्र चेत्यत्र मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिविकल्प्यते तर्ह्येकत्र पाठात् अनित्यं सूत्रनिर्देश इत्यत्रापि मध्ये विलम्बोच्चारणे सन्धिविभाष्यते इति चेत् तत्राह सूत्रेषु त्विति सूत्रेषु तु संहितासंज्ञेषु च नेयं व्यवस्था किन्तु सूत्रेत्यत्र मध्ये शीघ्रोच्चारणेऽपि विकल्प्यते । इति पूर्वोक्तस्य विषयविभागः प्रतिपादितः । तत्र सूत्रे यथा कृष्णात् टा इनः । ते आते अन्ते इत्यादिः । संहितायां यथा । या तुष्टराजऋषये वृतादात् पुरवे वरमित्यादिः । अन्यत्र चेति छन्दसि यथासत्त्वं रजस्तम इति अहंकारश्चर्भुज इत्यादिः ॥८१॥

अनयोऽर्त्ति परे सन्धि र्वा स्यात् त्रिविक्रमस्य वामनश्च वा । स्रष्टु
ऋषभः, यादव ऋषभः । हिमऋतावपि ताः स्म भृश-स्विद इति माघः ।
माला ऋषभस्य माल ऋषभस्य इति च । पक्षे यथाप्राप्तं हर्यासन
मित्यादि ।

६३. न नित्य समासे नचाविष्णुपदान्ते निषेधवामनौ ।

हर्यर्थम्, कुमार्यौ ।

६४. उजः सन्ध्यभावः ऊं वश्चेतौ ।

सूचयति—हिमऋताविति । हिमऋतौ शीतऋतौ अपि ता युवतयः भृशस्विदः अतिशय-
घर्मयुक्ताः सत्यः रमयन्ति स्मेति शेषः । भृशस्विदः इति विवदन्तः ।

अमृता०—६३. न नित्येति । नित्यसमासे अविष्णुपदान्ते च विषये पूर्वोक्तौ निषेध-
वामनौ न स्याताम् । नित्यसमासे सन्धि नित्यंभवतीत्यर्थः । नित्यसमासानां स्वपद विग्रहो
नास्तीत्यनेन तल्लक्षणं वक्ष्यते । हर्यर्थमिति—हरये इदमित्यर्थं कथनं नतु विग्रहः । इदं-
वाच्यर्थशब्देन चेति समाससूत्रम् । एवमन्विष्येतित्रापि “इवेन नित्यसमासो विष्णुभक्त्य-
लोपश्चे” —त्यनेन नित्यसमासे सन्धि नित्यमेव भवति । कुमार्याविति—कुमारी च कुमारी
चेत्येकशेषे कुमारी शब्दात् औ, इद्वयमेव यः सर्वेश्वरे इति यरामः ।

अत्र वार्तिकश्चनित्यसमासएव सन्धेर्विभाषां निषिध्यति भाष्यकारस्तु समासमात्रे ।
वामन-जयादित्य-पुरुषोत्तम पद्मनाभादि बहुसम्मतत्वादस्मद्ग्रन्थकारेण तु भाष्यमत
मुपेक्षितमिति द्रष्टव्यम् ।

अमृता०—६४. उज इति । इति शब्दे परे उज् अव्ययस्य सन्ध्यभावः प्रकृति
भावः, उजः स्थाने ऊं आदेशस्तथा पक्षे वरामादेशश्च भवति । वश्चेति “उद्वयं वः” इत्य-
नेन हि प्राप्तो व रामः स्यात् । उजः जराम इत् । उजः अनन्ताव्ययत्वात् “ओरामा-
न्तानामित्यादिना नित्यं निषेधे प्राप्ते विभाषेयं विशेषविधानञ्चेदम् ।

बाल०—ऋद्ध । सुगमम् । ऋषभः श्रेष्ठः । सूत्रे ऋतीति ऋरामे परे न ऋद्वरूपे
शब्दे इति सोदाहरणे न दृढीकृतमत्यतिदाढ्याय मामोदाहरणमुपन्यस्यति हिमेति
हिमऋतावपि ता श्यामाः स्त्रियः भृशःस्विदः अतिशयेन स्वेदयुक्ताः स्म इत्यर्थः ।
पूर्वोक्तसूत्रानुसारेण यथाप्राप्तं हर्यासनमित्याद्यपि स्यादित्याह पक्ष इति ॥६२॥

बाल०—न नि । नित्यसमासे सति निषेध वामनौ न भवतः । अविष्णुपदान्ते च
तौ न भवतः । हर्यर्थमिति हरये इदमित्यर्थं इदंवाच्यर्थशब्देन चेति कुमार्यावित्येकशेषे कृते
कुमारीशब्दाद् औ इद्वयमेव यः सर्वेश्वर इति यरामः । ररामस्य पूर्वोर्ध्वगमनम् उरामस्य
पूर्वविष्णुजने प्रवेशः ॥६३॥

बाल०—उजः । सन्ध्यभावो भवति तस्मिन् परे उजः स्थाने ऊं भवति वश्च ॥६४॥

६५. विष्णु गणाद्वो वा सर्वेश्वरे ।

उ इति ऊं इति विति । किमु उक्तं किम्बुक्तम् । किमु इति किम्बिति
इत्यपि बोद्धव्यम् । विष्णुगणात् किम् ? नञूक्तम् । अद्येव हलीशे

अमृता०—६५. विष्णुगणादिति । सर्वेश्वरे परे विष्णुगणादुत्तरस्य उञ्जः सन्ध्यभावात्
विभाषया वरामश्च भवति । पूर्वसूत्रस्य क्रमेणोदाहरणत्रयं दर्शयति—उ इतीत्यादिभिः
परसूत्रस्योदाहरण द्वयं—किमु उक्तमित्यादि । अत्र न तु त्रिविक्रमः, विधानाभावात्
विष्णुगणादित्यनेन पूर्वसूत्रात् परस्य वलवत्त्वं ज्ञापयति—किमु इतीत्यनेन । इह सत्यपी
शब्दे परे विष्णु गणादुत्तरस्य उञ्जः सन्ध्यभावो वरामश्च भवति नतु ऊं भावः पूर्व निमित्त
वैशिष्ट्यात् । व्यावृत्तिमाह—नञूक्तमिति । वरामस्य विष्णुगणात्वाभावाद् उञ्जो न
सन्धि नं वा वरामः । किन्तु दशावतार इत्यादिना त्रिविक्रम एव । अत्र नञ् साहचर्यत
उञ्जः केवलत्वाभावादोरामान्तानामित्यादिना अनन्तव्ययीय-निषेधस्तु न ।

ननु अद्येव हलीशा इत्यादयस्तु प्रयोगाः प्राचीनशब्दानुशासनेषु सन्धिप्रकरणे
साधिता दृश्यन्ते, तत् कथमिह त्यक्तास्ते ? तत्राह—आख्यात-समासयोर्वक्ष्यन्त इति
तत्र च हेतुं निर्दिशति—दुर्गमत्वादिति । प्रथमतश्छात्राणां सुकोमलमतिरित्या क्लृष्टविष
ग्रहणाशक्तेः ।

यत आख्यात-तद्धित-कार्य-निरपेक्षतया त्वेषां साधनं सुतरामशकम् । तेनासिद्ध
न त्याज्यमिति प्रतिज्ञायाश्च नात्र व्यभिचारः । तत्र अद्येवेति—अद्वयस्य हरलवेऽनवधारणे
इतिसमासकार्येण । हलीशेति—शकन्द्वादयोऽरामहरेण साधव इति समासकार्येण

बाल०—विष्णु । सर्वेश्वरे परे विष्णुगणादुत्तरस्य उञ्जः सन्ध्यभावो भवति वा
वा भवति । प्रथमसूत्रस्य क्रमेणोदाहरणत्रयं दर्शयति उ इतीत्यादि । यद्यपि परत्र सर्वेश्वर
इत्युक्तं, तथापि पूर्वोक्तं शब्दस्य विशेषत्वात् इति परे विष्णुगणादुत्तरस्यापि उञ्जः
पूर्वोक्तविधिरेवेत्यतः पुनरपि पूर्वोक्तोदाहरणान्युपगम्यस्यति किमु इतीत्यादि । किन्तु वि
इतीत्यस्मात् परं किमुम् इतीति लिपिकरप्रमादात् पतितम् । विष्णुगणादन्यस्मात् पर
तु न स्यादित्याह विष्णुगणात् किमिति । पक्षेऽपि 'अरामान्तानामनन्तानाञ्चाव्यया
सर्वेश्वरे' इत्यनेनासन्धिरेव नञ् क्तमिति प्रत्युदाहरणन्तु बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते । लिपिक
प्रमादकृतं नञ् उक्तमित्येव ज्ञेयं सन्धिनिषेधस्याऽपरिहर्यात्वात् किम्वा ऊञ् इति पृथ
नर्देशात् ज्ञेयान्तत्वेन केवलान्वयत्वाभावाच्च नञ् क्तमिति प्रत्युदाहरणमपि संगच्छते
इति शब्दे तु पूर्ववदेवेत्याह नञ् इतीत्यादिः । दुर्गमाः सन्ध्यो वहवः सन्ति, ते
दुर्गमत्वात् प्रथमतश्छात्राणामनधिकाराच्चातोदाहरणमनुचितमित्याह अद्येवेत्याह वक्ष्य
इति । तत्र अद्येवेति अद्वयस्य हर एवेऽनवधारणे इत्यनेन । हलीशेति शकन्द्वादयोऽरामहरेण
साधव इत्यनेन । प्राच्छतीति । उपेन्द्रास्त्रिविक्रम नामधातौ तु वा तदलश्व न तु त्रिविक्र
भवस्येत्यनेन । ऋणार्णमीति ऋण-प्रवसनवत्सरः दशा-कम्बलानां मिलित्वा वृष्णीन्द्र ऋ
इत्यनेन गोऽयमिति गवरामो वा सन्धिरित्यनेन गवेन्द्रो गवेश अवेन साधुरित्यनेन वक्ष्य

प्राच्छति ऋणार्णं गोऽग्रं गवेन्द्र इत्यादयस्त्वाख्यात-समासयोर्वक्ष्यन्ते
दुर्गमत्वात् ।

॥ इति सर्वेश्वर सन्धिः ॥

प्राच्छतीति उपेन्द्रारस्त्रविक्रम इत्याख्यात कार्येण । ऋणार्णमिति—ऋणप्रवसन वत्सर
दशकम्बलानां मिलित्वा वृष्णीन्द्रऋणे इति समासकार्येण । गोऽग्रमिति—गोररामे वा
सन्धि रिति समासकार्येण । गवेन्द्र इति—गवेन्द्रो गवेशे अवेन साधुरिति समासकार्येण
निष्पन्नः ।

॥ इति सर्वेश्वर सन्धि-व्याख्या समाप्ता ॥

इति शेषः । इत्यादय इत्यादि शब्दात् पुनराख्याते संपर्युपेभ्यः सुट् करोती संस्काराद्यर्थेऽपि-
त्यादिना संस्करोतीत्यादयो ज्ञेयाः । समासे तु तबोष्ठयोस्तु वेत्यादिना श्यामोतु श्यामोतु-
रित्यादयो ज्ञेयाः ॥६५॥

॥ सर्वेश्वरसन्धि समापयति इतीति ॥



अथ विष्णुजन सन्धिः प्रकरणम्

८६. विष्णुदासो विष्णुपदान्ते हरिघोषे च हरिगदा ।

विष्णुपदान्ते विषये हरिघोषे च परे सति अविष्णु पदान्ते च विष्णुदास
नामा वर्णः सवर्ग तृतीयः स्यात् । स्थाने सदृशतम इति न्यायेन
वाक् अच्युतस्य वागच्युतस्य । वाक्गोविन्दस्य वाग्गोविन्दस्य । षट्
गोपिकाः षड्गोपिकाः । भगवत् इच्छा भगवदिच्छा । ककुब्बविष्णो
ककुब्बविष्णोः । विष्णुपदादन्यत्र न । चतुर्थ्यां— कंसजित् ए कंसजिते ।
उदाहरणान्तरमग्रे ।

८७. हरिवेणौ हरिवेणुर्वा ।

अमृता०—८६. विष्णुदास इति । हरिघोषस्यग्रहणमविष्णु पदान्तार्थमिति वृत्तौ
विवृणोति—अविष्णुपदान्ते चेति । चकाराद् विष्णुपदान्तेऽपि । ननु सूत्रे विष्णुदासो
हरिगदा भवतीत्येतदुक्तम्, वृत्तौ तु सवर्ग तृतीयः स्यादिति कुतो लब्धमिति चेत्तत्राह—स्थान
इति । उच्चारण स्थाने प्राप्यमाणानामादेशः सदृशतमः अतिशय सदृशो भवतीति
न्यायार्थः । तेन वाक् अच्युतस्येत्यत्र करामस्य सवर्गतृतीयो गराम एव न तु जरामादिः
ककुब्ब शब्दो दिग्वाची । उदाहरणान्तरम्—अविष्णुपदान्तोदाहरणग्रे तिङन्तप्रकरणे
वक्ष्यते । तत्तु दिग्ध इत्यादि बोध्यम् । एवमविष्णुपदान्तोदाहरणं प्रायश आख्यातप्रकरणे
हि ज्ञेयम् ।

अथेति । अथानन्तरं सर्वेश्वरसन्धिनिरूपणान्तरं विष्णुजनसन्धिर्निरूप्यते इत्यर्थः ।

बाल०—विष्णु । विष्णुपदान्ते विषये वर्तमानो विष्णुदासनामा वर्णो हरिगदासंज्ञो
भवन् समानवर्गस्य तृतीयवर्णः स्यात् हरिघोषे च परे सति अविष्णुपदान्ते । चकाराद्
विष्णुपदान्तेऽपि वर्तमानः स तद्वर्गतृतीयः स्यात् । ननु विष्णुदासः हरिगदा भवतीत्युक्तं,
तर्हि कथं विष्णुदासः सवर्गतृतीयः स्यादित्युच्यते इति चेत् तत्र हेतुमाह स्थान इति ।
आदेशो भवन् स्थाने उच्चारणस्थाने सदृशतमोऽतिशयसदृशो भवतीति न्यायार्थः । अतः
करामादिर्गरामादिरेव न तु जरामादिः । एवमन्यत्रापि । क्रमणोदाहरति वागित्यादि ।
ककुब्बशब्दो दिग्वाची । विष्णुपदान्तादन्यत्राऽविष्णुपदान्ते न स्यादित्यर्थः । तत्र चतुर्थ्या
यथा । उदेति उदाहरणान्तरमविष्णुपदान्तोदाहरणमग्रे वक्तव्यमिति शेषः । तत्तु अवङ्
द्वमिति । नन्वत्र सर्वपूदाहरणेषु सर्वेश्वर गोपालयोरेव परनिमित्ततादृश्यते, तर्हि कथं
विष्णुदासो विष्णुपदान्ते सर्वेश्वर-गोपालयोर्हरिगदेति न कृतं एवं कुते हरिघोषस्यापि
हरिगदान्तः—पातात् सर्वमनवद्यं स्यात् । मैवं तदुक्तानुरूपं सूत्रं यदि क्रियते तदा
सुवन्तपादे वाक् वाग् षट् षडित्यादौ परनिमित्ताभावात् यथा विष्णुदासस्य हरिकमलं वा
विरामे इति सूत्रमपेक्षते, तथा विष्णुदासस्य हरिगदा वा विरामे इत्यपेक्षा स्यात् ।
पुनर्हरिघोषे परेऽविष्णुपदान्ते विष्णुदासस्य हरिगदा न स्याच्चेत्यवधेयम् ॥८३॥

विष्णुपदान्ते वर्त्तमानो विष्णुदासो हरिवेणौ परे हरिवेणुर्वा स्यात् ।
सच स्थानिवर्गपञ्चमः । जगत् नाथः जगन्नाथः जगद्नाथः । कृष्णगुप्
जुडुवे कृष्णगुप् जुडुवे कृष्णगुप् जुडुवे ।

६८. यादवमात्रे हरिकमलम् ।

विष्णुदासोयादवे परे तद्वर्गप्रथमं स्यात् । वाक् कृष्णस्य वाक् कृष्णस्य ।
अत्रविष्णुपदान्ते हरिगदा वाधनार्थमिदं सूत्रम् । मात्रग्रहणादविष्णु
पदान्ते च । उदाहरणन्त्वग्रे ।

६९. ततः शशछो वा ।

अमृता०—६७. हरीति । विष्णुदासस्यैव हरिवेणुपरत्वे विशेषविधिरयम् । विकल्प
विधानाद् जगद्नाथ इति हरिवेण्वभावपक्षे पूर्वेणैव हरिगदा । स्थानीचासौ वर्गश्चेति
स्थानिवर्गस्तस्य पञ्चमः । एकोच्चारणस्थान-वर्गस्य पञ्चम इत्यर्थः । यस्यस्थाने यआदेशो
भवति स तत् सदृशः स्यादिति पूर्वन्यायेन । अत्र तरामस्य योहरिवेणुर्विहितः स च
तवर्गस्यैव पञ्चमो नरामोभवतीति निष्कर्षार्थः । जुडुवे इति डुशब्दे धातोरधोक्षजस्यरूपम् ।
विष्णुपदान्त इति किम्—वेद्मि ।

अमृता०—६८. यादवेति । अयमपि प्रथमसूत्रस्यैवापवादः । ननुदाहरणे वाक्
कृष्णस्येत्यत्र करामस्थाने करामविधानेन को लाभ इतिचेत्तत्राह—हरिगदावाधनार्थमिति ।
अकृतेऽस्मिन् सूत्रे प्रथमसूत्रवलेन हरिगदैव प्राप्नुयात्, ततो “वाग् कृष्णस्य” इत्यनिष्ट-
रूपमापद्येतेतिभावः । मात्रग्रहणफलमाह—अविष्णुपदान्ते चेति । ततो यादवेपरे सति
विष्णुपदान्ते अविष्णुपदान्ते च विष्णुदासो हरिकमलं भवतीति सरलार्थः । अविष्णुपदान्तो-
दाहरणमग्रे तिङन्ते—भेत्स्यतीत्यादौ ।

अमृता०—६९. तत इति । पूर्वतो विष्णुदास इत्यनुवृत्तेरिह वाच्यभूतं विष्णु दासं

बाल०—हरि । अत्र व्याकरणात् हरिवेण्वभाव पक्षे विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यनेन
हरिगदा स्यात् । यस्य स्थाने य आदेशो विधीयते स आदेशस्तत्सदृशो भवतीत्याह स चेति ।
स च हरिवेणुर्भवन् स्थानिवर्गपञ्चम एव भवति । स्थानी चासौ वर्गश्चेति स्थानिवर्गस्तस्य
पञ्चम इति विग्रहः । कृष्णगुप् कृष्णरक्षकः जुडुव इति शब्दार्थस्य डूधातोरधोक्षजस्य
एप्रत्ययान्तम् ॥६७॥

बाल०—याद । यद्वर्गविष्णुदास स्तद्वर्ग प्रथमः स्यादित्यन्वयः । अत्रापि स्थाने
सदृशेति योज्यम् । ननु वाक् कृष्णस्येत्यत्र करामस्य स्थाने करामविधानेन किमिति
चेत्तत्राह अत्रेति अत्र विष्णुदास इत्यनेन विष्णुपदान्ते प्राप्तहरिगदाया वाधनार्थमिति
योज्यम् । यादवे इत्यकृत्वा यादवमात्र इति यत् कृतं तत्फलमाह मात्रेति । उदाहरणं
त्वग्रे इति अग्रे आख्यातादौ तत्तु धत्ते धत्से इत्यादि ॥६८॥

विष्णुदासात् परः शरामश्छरामो वा स्यात् । सुवाक् शौरिः, सुवाक्
छौरिर्वा । अप् शायी, अप्छायी वा ।

१००. नश्च्युतेरिति वाच्यम् ।

वाक् श्च्योतति ।

१०१. हो हरिघोषः ।

विष्णुदासात् परो हराम स्तद्वर्गचतुर्थवर्णो वा स्यात् । वाक्हरेः वा
घरेः वाग्घरेः । अच् हलौ अज्झलौ अज्हलौ । षट्हरेः षड्ढरेः
हरेः । तत् हलिनः तद्धलिनः तद्हलिनः । ककुब्हरस्य ककुब्हरस्य
ककुब्हरस्य ।

पञ्चम्यन्त-तस् प्रत्ययेन निर्दिश्य वृत्तौ स्पष्टीकरोति—विष्णुदासात् पर इति । अप् शायी
जलशायी नारायण इत्यर्थः । तत् इतिकिम्—सुगण् शेते ।

अमृता०—१००. नश्च्युतेरिति । पूर्वसूत्रस्यैव प्रत्युदाहरणमिदम् । “छत्वममी
वक्तव्यमिति” वार्तिकसूत्रम् । विष्णुदासात् शरामस्येत्यनुवर्तते । तत्र सर्वेश्वर-हरिवे
हरिमित्र-हरामाणां ‘अम्’ संज्ञा । तच् श्लोकेन तच्छ्लोकेन, तच्च श्मशानं तच्छ्मशानं
अमीति किम्—वाक्श्च्योततीति । अत्रपरनिमित्तस्य चरामस्य ‘अम्’ संज्ञत्वाभावात्
शरामस्य न छरामः । अस्मद्ग्रन्थ-कृद्भिरेकस्यहेतोः अम् प्रतिरूपकसंज्ञामकृत्वा प्रति
सूत्रेणैव तदुद्देश्यं समाहितम् । श्च्योततीति श्च्युतिर्क्षरणे इत्यस्याच्युतसिपि रूप
अपि च सुपद्धे,—शसि तु नित्यमिति वाच्यम् । तद्धिते—“संख्या परिमाणाभ्याश्च व
सायामिति” शस् प्रत्यये तु परे नित्यं छरामः स्यात् । यथा यावत् शः यावच्छः । इति

अमृता०—१०१. हो हरीति । तद्वर्गैतियद्वर्गविष्णुदासात्परोहरामस्तिष्ठति
तद्वर्गस्यैव चतुर्थवर्णो वा स्यात् । पक्षे हरामस्य स्थितिश्च वाग्घरे अज्झलावित्य
हरिघोषे जाते पश्चाद् विष्णुदासो विष्णुपदान्ते इत्यादिना करामादे हरिगदागरामादि
हलिनो बलरामस्येत्यर्थः । विष्णुदासादित्येव; अन्यस्मान्न, भवान् हसति ।

बाल०—ततः पूर्वत्र विष्णुदासस्योक्तत्वात् वृत्तौ तत् इत्यस्यैव च भूतं विष्णुदा
दित्युक्तं सुवाक् सुवचनः । अप्शायी जलशायी ॥६६॥

बाल०—नश्च्यु । विष्णुदासात् परश्च्युतेः शरामश्छरामो न स्यादिति वक्तव्य
श्च्युतधातुः क्षरणार्थः । श्च्योततीत्यत्र सस्य शश्चवर्गयोगे इत्यनेन सरामस्य शरामप्र
प्रतिषेधोऽयम् ॥१००॥

बाल०—हो विष्ण्वति । यद्वर्गं विष्णुदासात् परोऽस्तद्वर्गस्यैव चतुर्थो वर्णो
स्यात् । वाग्घरे इत्यादौ हरिघोषे कृते पश्चात् विष्णुदास इत्यनेन करामादेर्गरामादि
हलिनो बलदेवस्य ॥१०१॥

१०२. द-तौ परवर्णौ ल-च-टवर्गेषु नित्यम् ।

दरामस्तरामश्च ले परे चवर्गे टवर्गे च परे परो यो वर्णः स एव नित्यं स्यात् । तदलक्ष्मीपतेः तल्लक्ष्मीपतेः । तत् चतुर्भुजस्य लक्ष्मचतुर्भुजस्य । कंसजित् छादयति, यादवमात्रे इत्यादि कंसजिच्छादयति । तत् जनार्दनस्य तज्जनार्दनस्य । कंसजित् झङ्कारः कंसजिज्ञ् झङ्कारः । विष्णु दासइतिकंसजिज्ञ्झङ्कारः । तदञ्जरामः तज्जञ्जरामः । वा इति निवृत्तम् । तदञ्जराम इत्यपि पाणिनीयाः । तन्मते पूर्वत्रासिद्धमिति न्यायेन तद्वर्ग तृतीयस्यैव स्थितिरिति । एवंणरामेऽपि । कंसजित् टीकते कंसजिट्टीकते कंसजित् ढौकते कंसजिड्डौकते ।

अमृता०—१०२ दत्ताविति । पूर्वतोऽनुवर्तमानस्य विकल्पस्य बाधनार्थं नित्यपद ग्रहणम् । यादवेति—यादवमात्रे हरिकमलमित्यनेन पूर्वञ्जरामस्य चरामः । विष्ण्विति—विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यनेन पूर्वञ्जरामस्य जरामः । वाइति निवृत्तमिति—नित्यमित्युपादानादिति भावः । तदञ्जराम इत्यपि पाणिनीया इति—अपिकारात् तज्जञ्जरामः तज्जञ्जराम इति च सिध्येत् । पूर्वत्रासिद्धमिति—व्याख्यास्य भाषावृत्तौ,—सपादसप्ताध्यायी—विधौ कर्तव्ये वक्ष्यमाणस्त्रिपादीविधिरसिद्धः स्यात् । त्रिपाद्यां च परपरो विधिरसिद्धः स्यात् पूर्वत्र कर्तव्ये इति । प्रकृते त्रिपाद्याञ्चेति शेषोक्तो न्यायः प्रवर्तते । तथाहि—तन्मते—“झलां जशोऽन्ते” (तृतीयवर्णं विधानं) इत्यस्य पूर्ववर्तित्वात्—“स्तोः श्चुना श्चुः”, “प्टुना प्टुः”, “यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा” (च वर्गं ट वर्गं विधानं, पञ्चमवर्णं विधानञ्च) इत्येतेषां परत्वाच्च सर्वे एतेऽसिद्धाः, प्रागुक्त “झलामिति सूत्रेण तृतीयवर्णं कर्तव्ये । ततः सर्वेषां बाधकतया तस्यैव स्थितिः । यदा तु तृतीयवर्णो न क्रियते तदा—यरोऽनु—नासिक इत्यनेन विभाषया पञ्चमवर्णो भवति । पक्षे ‘स्तो’ रित्यादिना चवर्गत्वादि । एवञ्च तदञ्जरामः तज्जञ्जरामः तज्जञ्जराम इति रूपत्रयं तन्मते सिध्यति । एवं णरामेऽपीति—तदण्णरामः तण्णरामः तड्णराम इति च । टीकते ढौकते इति टीकृ ढौकृ गतौ इत्येतयोरभ्युतप्रथमपुरुषैकवचने रूपम् ।

बाल०—दतौ । छादयतीति छदधातुरपवारणार्थः । यादवेति यादवमात्रे हरिकमलमित्यनेन छरामस्य चराम इति शेषः । झङ्कार इति शब्दविशेषः । विष्ण्विति विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यनेन झरामस्य जराम इति शेषः । वेति सूत्रे नित्यशब्दोपादानात् हरिवेणौ हरिवेणुर्वेत्यनेनानुवर्तमानस्य वा इत्यस्य निवृत्तिः । तदञ्जराम इत्यपि भवतीति पाणिनीया वदन्ति । तन्मत इति पाणिनीयमते जरामस्य चवर्गत्वं पूर्वत्रासिद्धं हरिवेणुत्वन्तु सिद्धमेव, अतो हरिवेणौ हरिवेणुर्वेत्यनेन हरिवेणुर्भवति पक्षेऽपि चवर्गत्वासिद्धत्वात् दरामस्य स्थितिरिति । एवमिति एवमुक्तप्रकारेण पाणिनीयानां मते णरामेऽपि तद्वर्गं तृतीयस्य स्थितिरिति । तत् णरामः तद णरामः उत्पुदाहरणम् । टीकृ ढौकृ गतौ ॥१०२॥

१०३. तश्च शे ।

तरामः शरामे परे चरामः स्यात् । तत्शौरेः तच्छौरेः । पक्षे छत्वं तच्छौरेः ।

१०४. नोऽन्तश्चछयोः शरामो विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा ।

नरामो विष्णुपदान्तश्चछयोः परयोः शरामः स्यात् । सच विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा । भवान् चलति, भवांश्चलति, भवांश्चलति । भगवान् छादयति, भगवांश्छादयति भगवांश्छादयति ।

१०५. टठयोः षरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तष्टठयोः परयोः षरामः स्यात् । सच विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा । भगवान् टोक्ते, भगवांष्टोक्ते, भगवांष्टोक्ते । भगवान् ठक्कुरः भगवांष्टक्कुरः, भगवांष्टक्कुरः ।

१०६. तथयोः सरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तस्तथयो, परयोः सरामः स्यात् । सच विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा । भगवान् तरति, भगवांस्तरति, भगवांस्तरति । भगवान् स्थूत्करोति, भगवांस्थूत्करोति, भगवांस्थूत्करोति ।

अमृता०—१०३. तश्चेति । पक्षे छत्त्वमिति ततः शश्छोवेत्यनेन ।

अमृता०—१०४. नोऽन्तश्चछयोः । विष्णुपदान्तः — विष्णुपदान्ते स्थित इत्यर्थः । विष्णुपदान्तस्यानुवर्त्तमानेऽपि तद्ग्रहणमत्र स्पष्टार्थम् ।

अमृता०—१०५. टठयोरिति सुगमम् ।

अमृता०—१०६. तथयोरिति तरतीति तृ प्लवनतरणयोर्धातोश्च्युत-तिवन्तम् । तरणं नद्यादेः पारगमनम् । श्रीकृष्णो रामघट्टे यमुनामुत्तीर्य गोवर्द्धनसन्निहिते शट्टीकराज्यस्थाने कियन्तं कालमुवास इति श्रीगोपालचम्पूमतम् । विष्णुपदान्तादन्यत्र न-भवन्तौ ।

बाल०—तश्च । पक्षे छत्त्वमिति ततः शश्छो वेत्यनेनेति शेषः ॥१०३॥

बाल०—नोऽन्तः । विष्णुपदान्त इति विष्णुपदान्तस्थित इत्यर्थाल्लभ्यते चरधानु-गत्यर्थः ॥१०४॥

बाल०—टठयोः । टे उदाहरणमुक्त्वा ठे उदाह्रियते । भगवान् ठक्कुर इति ॥१०५॥

बाल०—तथ । तरतीति तृधानुरत्र तरणार्थः । तरणं नद्यादेः पारगमनम् । तत्तु अत्र यमुनाया ज्ञेयम् । यमुनामुत्तीर्य नन्दगोकुलमायत इत्युक्तदिशा ॥१०६॥

१०७. नत्से ।

त्से परे नरामो विष्णुपदान्तो विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा सरामो न स्यात् । भगवान् त्सरुः । कान् कान् इत्यत्र कांस्कानिति वाच्यं वा ।

१०८. प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुः ।

विष्णुपदान्तस्य प्रशानो नरामस्य च छटठतथेषु परेषु परवर्णानुरूपो हरिवेणुर्भवति । प्रशान् चतुर्भुजः प्रशाञ्चतुर्भुजः । प्रशाञ्छादयति प्रशाञ्छादयति । प्रशाण्टीकते प्रशाण्टकुरः, प्रशान्तरति ।

अमृता०—१०७. न त्से इति । पूर्वसूत्रस्य प्रत्युदाहरणमिदम् । शौरिविधान सूत्रे अम्परे छवि (च छ ट ठ तथेषु) इतिपाणिनि-निर्देशात् सरामस्य च अम् संज्ञत्वाभावाच्चात्र नरामस्य सरामः । त्सरुरिति—त्सर छद्मगतौ इत्यस्य उप्रत्यय उणादिः । 'कानाम्नेडिते' इति पाणिनीय-सूत्रम् । आम्नेडिते द्विस्त्रिस्तौ सत्यां कानित्येतस्य नरामस्य विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा सरामः स्यात् । अत्रपूर्वत्र च विधेयवर्णस्य अराम उच्चारणार्थः । कानाति किम्शब्दस्य शसन्तः । अत्र एकः प्रश्ने अपरः कुत्सायाम् ।

अमृता०—१०८. प्रशान् इति । प्रशानो नरामस्य चछादिपरे सति सविष्णुचक्रे सविष्णुचापे च शौरौ प्राप्ते नियमोऽयम् । प्रशानिति—प्रपूर्वात् शमु शान्तौ इत्यस्मात् विवप् । नान्तोद्धवस्य त्रिविक्रमः क्वौ इतित्रिविक्रमः । धातोर्मोनो विष्णुपदान्त इति मस्य नः । केवलस्य प्रत्ययवेर्हर इतिक्वप्लोपः । राधाविष्णुजनाभ्यामिति सोर्हरः । नरामस्या-सिद्धत्वाच्च नामान्तस्य नस्य हरः ।

बाल०—नत्से । नरामो विष्णुपदान्तः त्से परे विष्णुचक्रपूर्वो विष्णुचापपूर्वो वा सरामो न स्यात् । त्सर धातुश्छद्मगत्यर्थः ।

कान् सुगमम् । कानोद्विरुक्ताविति लक्षणेन द्विरुक्तः कानो नकारः सानुस्वारः सानुनासिकश्च सकारो भवतीत्येके । अतस्तन्मते शसन्त किं शब्दस्य वीप्सादौ द्विरुक्तौ सत्यां प्राग् द्विरित्यनेन पूर्वकालो नकारो एव सानुस्वारादिक हलन्तः सकारः स्यात् । द्विरुक्तेरन्यत्र वृक्षान् कान् कानेप्यति प्रामाणानि प्रत्युदाहरणश्च । अस्माकं मते तु वक्तव्यस्य विकल्पत्वात् यस्मिन् पक्षे सानुस्वारः सरामो न स्यात्, तस्मिन् पक्षे एवेदं प्रत्युदाहरणं सम्भवत्येवेत्यतो न तदर्थ-प्रयास इति । नृगः पे सविष्णुचक्रः सविष्णुचापश्च सोवाच्यः । स इत्यराम उच्चारणार्थः समासे सति कार्यन्तराभावात् विष्णुसर्गश्च सः नूः पिनष्टि नूः पिनष्टि । पक्षे उपध्यानीयः नूः पिनष्टि नूः पाहोत्यादिः ॥१०७॥

बाल०—प्रशा । विष्णुपदान्तः पूर्वतोऽनुवर्तत इति वृत्तौ विष्णुपदान्तस्येति सूत्रस्थादिशब्दात् च छ ट ठ तथेप्विति च व्याख्यातम् । प्रपूर्वः शमुशान्तावित्यस्मात् प्राम्यतीति विवप् तत् पश्चात् नान्तोद्धवस्य त्रिविक्रमः कौ कंसारि वैष्णवे चेत्यनेन त्रिविक्रमः । धातोर्मोनो विष्णुपदान्ते मवयोश्चेत्यनेन तु मस्य नः । केवलप्रत्ययवेरिति विवप् लोपः । राधाविष्णुजनाभ्यामित्यनेन सोर्हरः प्रशानिति ॥१०८॥

१०६. ले लराम एव ।

नरामो विष्णुपदान्तो ले परे लरामः स्यात् । भगवान् लीलायते भगवांल्लीलायते । अत्र स्थाने सदृशतम इति न्यायेन सानुनासिक एव लरामः स्यात् । अत्र यवला हि द्विविधा मताः, सानुनासिका निरनुनासिकाश्च ।

११०. डढणेषु णरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तो डढणेषु परेषु णरामः स्यात् । गरुत्मन् डीयसे गरुत्मण्डीयसे । चक्रिन् ढौकसे, चक्रिण्ढौकसे । शार्ङ्गिण्णङ्कुरु शार्ङ्गिण्णङ्कुरु ।

१११. जझञशरामेषु जरामः ।

नरामो विष्णुपदान्तो जझञशरामेषु परेषु जरामः स्यात् । भगवान् जयति, भगवाञ्जयति । भगवान् झषरूपी, भगवाञ्झषरूपी । भगवान् जुडुवे, भगवाञ्जुडुवे । भगवान् शूरः, भगवाञ्शूरः ।

अमृता०—१०६. ले इति । लीलायते—लीलां करोतीत्यर्थे क्यङ् । स्थानेइति—नरामस्यानुनासिकत्वं संज्ञाप्रकरणे चोक्तमेव, ततो नरामस्थाने विहितस्य लरामस्य च नासिकाभवत्वं युज्यते स्थाने सदृशतम इति न्यायेन । दन्त्यवर्णत्वाद् मुखभवत्वञ्च तस्य पुनः सिद्धम् । ततो मुखनासिकाभवत्वात्तस्य सानुनासिकत्वं प्रतिपादितम् । अथ यवलानां सानुनासिकप्रसिद्धिञ्च विवृणोति—अत्रेति । अत्र शब्दशास्त्रे ।

अमृता०—११०. डढेति । गरुत्मन् हेगरुड ! डीयस इति डीङ् विहायसा गतौ अच्युत ते । णं कल्याणम् ।

अमृता०—१११. जभेति । सुगमम् । झषरूपी मत्स्यरूपी मीनावतार इत्यर्थः ।

बाल०—लेल । सुगमम् । अत्रेति स्थाने सदृशतम इति न्यायेन नरामस्य मुखनासिकाभवत्वात् लरामोऽपि भवन् सानुनासिकः अर्थात् सानुनासिकत्वेन च लरामस्य मुखनासिका भवत्वं प्रतिपादितम् । ननु लरामस्य स्वभावत एव सानुनासिकत्वमप्यस्ति, तर्हि न्यायाङ्गीकारेण किमिति चेत्तत्राह यवलाहीति । न्यायाङ्गीकारादत्रकृत लरामस्य सानुनासिकत्वमेव भवति अन्यथा परवर्णानुरूप निरनुनासिकत्वमपि स्यादित्यर्थः ॥१०६॥

बाल०—ड ढ । गरुत्मन्निति हे गरुडेत्यर्थः । डयस इति डीङ् विहायसा गतावित्यस्य रूपम् चक्रिन्निति हे कृष्णेत्यर्थः । णमिति सुखमित्यर्थः । णश्च निवृत्तिवाचकमिति शास्त्रान्तरम् । तेन णं कुर्विति णरामं कुरु सुखं कुरु वेत्यर्थः ॥११०॥

बाल०—ज झ । झषरूपी मत्स्यरूपीत्यर्थः ॥१११॥

११२. शे चान्तो वा ।

नरामो विष्णुपदान्तः शरामे परे चरामान्तो जरामः स्याद् वा । भगवान् शूरः, भगवाञ्चशूरः, भगवाञ्शूरः, छत्वे भगवाञ्छूरः ।

११३. मोविष्णुचक्रं विष्णुजने ।

मशापो विष्णुपदान्तो विष्णुजने परे विष्णुचक्रं स्यात् । कृष्णम् स्मरति, विष्णुचक्रस्य पूर्वेर्द्धिगामित्वं लोकात् कृष्णं स्मरति । विष्णुजनादन्यत्र न,—कृष्णम् इच्छ, कृष्णमिच्छ । कथं किम्बुक्तम्, कृष्णगुम् जुडुवे ? असिद्धरूपं नत्याज्यमिति प्रतिज्ञासिध्यर्थमिदं तत्रैव कर्तुं योग्यमपि यन्नकृतं तस्मात्तत्राकरणान्न विष्णुचक्रमिति ।

११४. विष्णुचक्रस्य हरिवेणुविष्णुवर्गे विष्णुपदान्तस्य तु वा ।

अमृता०—११२. शे चान्त इति । छत्व इति—ततः शश्लोवेत्यनेन छत्वे सतीत्यर्थः ।

अमृता०—११३. मो विष्ण्विति । अन्तरालपाठाद्विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वरत्वं विष्णुजन-त्वश्चास्तीतिवक्ष्यमाणरीत्या तस्य विष्णुजनत्व स्वीकारे यद्यपि परोर्द्ध्वगामित्वं सम्भवेत् किन्तु तस्य सर्वेश्वरत्वस्वीकारे पुनस्तदसम्भव इति विप्रतिषेधे लोक व्यवहारस्त्वनुशासनाद् वलीयानिति न्यायेन तस्योर्द्ध्वगमनं लोकप्रसिद्ध्याप्रतिपादयन्नाह—विष्ण्विति । लोकात् लोक व्यवहारादित्यर्थः । आशङ्कते—कथमित्यादि । किम्बुक्तं कृष्णगुम् जुडुवे इत्यत्र वराम-अरामरूप-विष्णुजनपरत्वेऽपि पूर्वमरामस्य कथं न विष्णुचक्रमिति शङ्काग्रन्थार्थः । सिद्धान्तमाचष्टे—असिद्धेत्यादि । इदं विष्णुचक्रविधायकसूत्रम् । तत्रैव—किम्बुक्तमित्यादि प्रयोगस्थले एवेत्यर्थः । विष्णुपदान्तस्येति किम् ? गम्यते ।

बाल०—शे चा । चरामान्तो जरामः स्याद्वा पक्षे केवलं जरामश्च । छत्व इति । ततः शश्लो वेत्यनेन छत्वे सतीत्यर्थः ॥११२॥

बाल०—मोवि । अन्तराल पाठाद्विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वाश्चास्तीति वक्ष्यमाणरीत्या विष्णुचक्रस्य सर्वेश्वरत्वे स्वीकारे कस्याप्यूर्द्ध्वगमनं न सम्भवति, विष्णुजनत्वे स्वीकारे तु परोर्द्ध्वगमनमेव सम्भवतीति सहेतुक-पूर्वोर्द्ध्वगमनं प्रतिपादयन्नाह विष्ण्विति लोकादिति लौकिकव्यवहारादित्यर्थः । अत्र मो विष्णुरवसाने इति कस्यचिल्लक्षणम् । तत्तु न बहुसम्मतं सर्वेश्वरे परे सति पुनस्तस्य मविधानलक्षणापेक्षत्वात् । द्राविडादिलिपौ विरामे स्वण्डमकारस्यैव स्थितित्वाच्च । आक्षिपति कथमिति । ननु किम्बुक्तं कृष्णगुम् जुडुव इत्यत्र वराम-अरामयोर्विष्णुजनयोः परत्वे पूर्वमरामस्य विष्णुचक्रं कथं न स्यादित्यत्र सिद्धान्तमाह असिद्धेति । इदं मो विष्णुचक्रमिति सूत्रं तत्रैवेति विष्णुगणाद्वोवा सर्वेश्वर इत्यस्मात् पूर्वस्मिन्नेवेत्यर्थः ॥११३॥

विष्णुचक्रस्य परवर्णानुरूपो हरिवेणुः स्यात् विष्णुवर्गे परे, विष्णु पदान्तस्य विकल्पः । अविष्णु पदान्तोदाहरणं वक्ष्यते । कृष्णं कीर्त्तयति, कृष्णङ्कीर्त्तयति वा । कृष्णं भजति, कृष्णम्भजति वा । संसारं तरति, संसारन्तरति, वा । अत्र तथयोः सराम निषेधो वक्तव्यः । विष्णुवर्गे इति किम् ? सम्बत्सरः ।

११५. यवलेषु सविष्णुचाप-पररूपञ्च मन्यन्ते ।

सँव्वत्सरः, यँय्यम्यते, सँल्लुनाति ।

अमृता०—११४. विष्ण्वति । पूर्वत्र विष्णुचक्रस्याविष्णुपदान्तस्येति योज्यं, परत्र विष्णुपदान्तस्येति निर्देशात् । तुशब्दोभिन्नोपक्रमे । तेनाविष्णुपदान्ते हरिवेणुनित्यं भवतीति फलितार्थः । तदुदाहरणञ्च वक्ष्यते गन्ता हन्तेत्यादिषु । विष्णुवर्गे इत्येव; तदन्यत्र न,—संगंस्यते, कृष्णं स्मरति । ननु संसारन्तरतीत्यत्र तथयोः सरामः कथं न प्रवर्त्तते ? न च नरामस्य विष्णुपदान्तत्वाभाव इति वाच्यम्, विष्णुपदान्तस्थित-विष्णु चक्रस्य स्थाने विहितस्य नरामस्यापि विष्णुपदान्तत्वमस्त्येव । मैवं, तत्र सन्धौ जात नरामस्य सरामो नभिप्रेतः लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति परिभाषा बलात् ।

अमृता०—११५. यवेति । यवलेषु परेषु विष्णुचक्रस्य सविष्णुचापं परवर्ण रूपञ्च भवतीति पूर्वाचार्या मन्यन्ते । अत्र वार्थे चशब्दः । विशेषानभिधानाद् विष्णुपदान्तेऽविष्णु-पदान्ते च विभाषा । तेनविष्णुपदान्ते—यँय्यरामः यंयरामः, सँव्वत्सरः सम्बत्सरः, सँल्लुनाति संलुनाति । अविष्णुपदान्ते—यँय्यम्यते यंय्यम्यते, वँव्वम्यते वंवम्यते । यंय्यम्यत इति यमु उपरमे इत्यस्मात् यङ्, द्विवचनं, हरिवेण्वन्तानां जपेत्यादिना नरादुत्तरं विष्णु चक्रम् । संलुनातीति संपूर्वाद् लूङ् छेदन इत्यस्मादच्युत-तिप् । क्रयादेः शपः श्ना, प्वादीनां वामनः शिव इति वामनः ।

बाल०—विष्णु । विवरणं विष्ण्वति विष्णुचक्रस्येत्यस्मात् पूर्वम् विष्णुपदान्तस्येति योज्यं परत्र विष्णुपदान्तस्येत्युक्तत्वात् । विष्णुवर्गे परे इति मध्यपाठाद् उभयात्रान्वेति । विकल्प इत्यस्य च पूर्वस्थित-हरिवेणुना सहान्वयः । सूत्रे तुशब्देन भिन्नोपक्रमाद् अविष्णु-पदान्तस्य विष्णुचक्रस्य नित्यं हरिवेणुर्भवति । अतएवाविष्णुपदान्तोदाहरणानामपेक्षत्वे आह अविष्ण्वति वक्ष्यत इत्यतः पूर्वमग्र इति द्रष्टव्यम् । उदाहरणन्तु तत्र गन्ता मन्तेत्यादि । ननु नाम-धातुप्रत्ययविष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिवद्भावः सर्वत्रैवेति वक्ष्यमाणरीत्या विष्णुपदान्तस्य विष्णुचक्रस्यादेशो यो हरिवेणुस्तस्यापि विष्णुपदान्त-स्थितत्वात् संसारन्तरतीत्यत्र तथयोः सराम इत्यनेन विष्णुचक्रादि पूर्वः सरामः कस्मान्न स्यादित्यस्य प्रकारान्तरेण सिद्धान्तं कर्तुमशक्तः सन् निषेधवक्तव्यमाह अत्रेति विष्णु-चक्रस्येत्यनेनात्र विहिते नरामे सति तथयोः सराम इत्यनेन प्राप्तसरामस्य निषेधो वक्तव्यः ।

११६. द्विः सर्वेश्वरमात्राच्छः ।

अविष्णु पदान्तादपि सर्वेश्वरात् परश्छरामो द्विर्भवति । कृष्णच्छत्रं, कृष्णच्छत्रम् ।

११७. विष्णु पदान्तात् त्रिविक्रमाद् वा ।

विष्णु पदान्तात् त्रिविक्रमात् परश्छरामो द्विर्भवति । यमुनाछाया, यमुनाच्छाया वा ।

११८. आङ्म्यां नित्यम् ।

आङ्माङ्म्यां परश्छरामो नित्यं द्विर्भवति । इरामस्याप्रयोगः । आच्छा-
दयति । माच्छिदत् ।

अमृता०—११६. द्विरिति । सूत्रेमात्रशब्दग्रहणसामर्थ्याद्वृत्तौ चापि पदन्यासेन विष्णुपदान्तादविपदान्ताच्च सर्वेश्वरात् छरामस्य द्वित्वं व्याख्यातम् । कृष्णच्छत्रमिति—
छरामे द्वित्वेसति यादवमात्रे हरिकमलमिति पूर्वं छरामस्य चरामः ।

अमृता०—११७. विष्ण्विति । सूत्रार्थः सुगमः । अविष्णु पदात् त्रिविक्रमात् पूर्वो हि नित्यम् । यमुनाछाया यमुनाकान्तिः । “छाया सूर्य प्रिया कान्तिः प्रतिविम्ब-
मनातप” इत्यमरः ।

अमृता०—११८. आङिति । आङ्-माङो “रव्ययात् स्वादेर्महाहर” इति विष्णु-
पदान्तत्वाद् विकल्पे प्राप्ते तद्वाधनार्थं नित्यपदम् । इरामस्याप्रयोग इति—ईषदर्थे
क्रियायोगे इत्यादिना प्रागुक्तमेव । माच्छिददिति—छिदिर् द्वैधीकरणे, माङ्योगे सर्वापि
वादी भूतेशः; इरनुबन्धान् डोवेति डः ।

अनेन लाक्षणिक-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं सूचितम् । अतः संसारन्तरतीत्यादौ
तथयोः सराम इति न प्रवर्तते । सरामस्तथयोरेव भवति, तथापि तथयोरिति कृतं
स्पष्टार्थम् ॥११४॥

बाल०—यव । यवलेषु परेषु विष्णुचक्रस्य स्थाने सविष्णुचापं परवर्णरूपञ्च
भवतीति मन्यन्ते पूर्वाचार्या इति शेषः ! सविष्णुचाप यवला भवन्तीत्यर्थः । यंयम्यत
इति विष्णुजनाद्येकसर्वेश्वरादित्यनेन यङ् धातोर्द्विर्वचनेमधोक्षजसन्नङ् यङ्ध्वित्यनेन
द्विरुक्तिः । हरिवेण्वन्तानां जप जभ दह दंश भञ्जाञ्चेति नरामाद्विष्णुचक्रम् । सल्लुनातीति
संपूर्वो लूत्र्छेदने इत्यस्मात् तिप् क्र्यादेशपः श्ना इति श्ना, प्वादीनां वामनः शिवे
इति वामनः ॥११५॥

बाल०—द्विः । सूत्रे मात्रशब्दोपादानाद् वृत्तावपिशब्द उपन्यस्तः । तेन विष्णु-
पदान्तादविष्णुपदान्ताच्चेति लभ्यते ॥११६॥

बाल०—विष्णु । अविष्णुपदान्तात्त्रिविक्रमात् पूर्वोऽपि नित्यं स्यात्, मात्रग्रहणात् ।

११९. वामनात् डणनाः सर्वेश्वरे ।

वामनात् परा डणना विष्णु पदान्ताः सर्वेश्वरे परे द्विः स्युः । पर्यङ्-
अनन्तः, पर्यङ्ङनन्तः । सुगण् अनन्तः, सुगण्णनन्तः। कुर्वन् अस्ति,
कुर्वन्नस्ति । वामनादन्यतस्तु न—भगवान् इह भगवानिह । उणादि
तिङन्त सनन्तादयस्तु सूत्र निर्देशवलात् ।

१२०. विष्णुजने विष्णुजनो वा हरौविना ।

वामनात् परो विष्णुजनो विष्णुजने परे द्विर्वा स्यात् । हरौ तु
द्विर्नभवतः । दध्युपेन्द्रस्य दध्युपेन्द्रस्य वा ।

अमृता०—११९. वामनादिति । पर्यङिति—परिपूर्वात् अञ्चु गतौ पूजायाञ्चेत्य-
स्मात् क्विप्, सत्सङ्गान्तस्य हरः, चवर्गस्य कवर्गः । सुगणिति—सुपूर्वस्य गण संख्याने
चौरादिकस्य क्विवन्तः । कुर्वन्निति—डुकृञ्करणे शतृप्रत्ययान्तः । करोत्यरामस्य उः,
अचश्वतुर्भुजानुवन्धानाञ्चेति नुम् सत्सङ्गान्तस्य हरः । ननु तिङन्त उणादीत्यादौ
वामनात् परस्य णरामादेः कथं द्वित्वं नस्यात्तत्र सिद्धान्तमाह—सूत्रनिर्देशवलादिति ।
“अनित्यं सूत्रनिर्देशे” इत्यनेन सूचितमेव प्राक् । तन्निर्देशस्तु उणादेर्वहुलं, भूसनन्ताद्या-
धातव इत्यादौ बोध्यम् ।

अमृता०—१२०. विष्णुजनइति । दध्युपेन्द्रस्येति धरामस्य द्वित्वे पूर्वस्य “विष्णु-
दासो विष्णुपदान्त” इत्यादिना दरामः ।

यमुनाच्छायेति छायात्र कान्तिः । छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिविम्बमनातप इति
नानार्थवर्गः ॥११७॥

बाल०—आङ् । आङ्माडोरपि विष्णुपदान्तत्वाद् विष्णुपदान्तादित्यनेन विकल्पे
प्राप्ते नित्यतार्थमिदम् । डरामस्याप्रयोग इत्यस्मात् परं क्रियायोगे वक्ष्यत इति योज्यम् ।
माच्छिददिति छिदधातुद्विधीकरणार्थः ॥११८॥

बाल०—वाम । विष्णुपदान्तस्था एव डणना द्विः स्युरिति स्वाभिप्राय व्यक्तार्थ
वृत्तौ विष्णुपदान्ता इत्युक्तम् । पर्यञ्चतीति परिपूर्वोऽञ्चुगतौ पूजायाञ्चेत्यस्य क्विवन्तस्य
पर्यङिति स्वन्तं रूपम् । सुगणयतीति सु पूर्वो गण संख्याने इत्यस्य चौरादिकस्य
सुगणित्यपि तथा । कुर्वन्निति डुकृञ् करणे इत्यस्य शत्रन्तस्य रूपम् । वामनेति वामना-
दन्यस्मात् त्रिविक्रमात् परभूता डणना द्विर्नस्युर्वामनोपादानादित्यर्थः । ननु उणादीत्यादिषु
वामनो विद्यत एव, तर्हि कथं डणना द्विर्न स्युरित्यत्र समादधाति उणादीति उणादितिङन्त
सनन्तादयः प्रयोगाः पुनर्द्विवचनयुक्ता न स्युरित्यर्थः । अन्यस्तस्तु न इत्यस्मात् नञात्रानु-
सङ्गनीयम् । द्वित्वाभावे साधकहेतुमाह सूत्रेति । अनित्यं सूत्रनिर्देशे इत्यनेन सूत्रनिर्देश-
वलादिति द्रष्टव्यम् ॥११९॥

बाल०—विष्णु । सुगमम् । हरौत्विति हराम-रमामाविति ज्ञेयम् ॥१२०॥

१२१. हरिमित्राद् विष्णुगणो, विष्णुगणाद्धरिमित्रं शौरितः
सात्वतः, सात्वताच्छौरि द्विर्वा सर्वेश्वरे इति वाच्यम् ।

यमुनल्कारायते, दध्युपेन्द्रस्य, भगवांश्छादयति, सुवाक्शशौरिः ।
अत्रछोऽपि न मन्यते । पक्षेपूर्ववत् ।

१२२. ररामात् सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विना ।

ररामात् परो विष्णुजनो विष्णुजने परे द्विर्वा स्यात्, सर्वेश्वरे परे तु
हरिगोत्रं विना । कार्ष्ण्यं, काण्यं वा । हर्यासनं वा ।

१२३. हाच्चसर्वेश्वरतः परादिति वक्तव्यम् ।

अमृता०—१२१. हरीति । छोऽपि नमन्यन्त इति—प्राचीनानां मते अम्परत्वा-
भावात् । शरामस्य अम् संज्ञत्वाभावास्तु दर्शित एव प्राक् । पक्षे पूर्ववत्—यथावत्
स्थितिरित्यर्थः । यमुनल्कारायते इत्यादि ।

अमृता०—१२२. ररामादिति । विष्णुजनो विष्णुजने इत्यनुवर्तते । विष्णुजने परे
ररामादुत्तरस्य विष्णुजनस्य द्विर्वा स्यात् । सर्वेश्वरे परे तु हरिगोत्रनामानं विष्णुजनं
वर्जयित्वा अन्य विष्णुजनानां द्विर्वा स्यादिति सरलार्थः । कार्ष्ण्यमिति—“वर्णाद्दृढादेश्च
नृसिंह य इमनिश्चेति” कृष्णशब्दाद् नृसिंह यः । आदिसर्वेश्वरस्येति वृष्णीन्द्रः । एवं
दर्शयते अर्क इत्यादि च ।

अमृता०—१२३. हाच्चेति । कार्य-परनिमित्ते अनुवर्तते । ब्रह्मेति—वृहि वृद्धौ
इत्यस्मादुणादि मनिप् । ह्युते इति—ह्युपह्ये इत्यस्य अच्युत ते । अत्र हरामस्य

बाल०—हरि । सर्वेश्वरे परे हरिमित्रात् परो विष्णुगणो द्विर्वा स्यात्, विष्णुगणात्
परं हरिमित्रं द्विर्वा स्यात्, शौरितः परः सात्वतो द्विर्वा स्यात्, सात्वतात् परः शौरिर्द्विर्वा
स्यादिति वक्तव्यम् । अत्र छोपि न मन्यत इति ततः शशछो वेत्यनेनेति शेषः । पक्षे
पूर्ववदिति यमुना लृकारायते यमुनल्कारायते इत्यादिः ॥१२१॥

बाल०—ररा । ररामात् परो विष्णुजनो विष्णुजने परे द्विर्वा स्यात् सर्वेश्वरे परे
तु ररामात् परो विष्णुजनो द्विर्भवन् हरिगोत्रं विना स्यादिति भावः । अतएव सर्वेश्वरे
हर्यासनमिति विकल्पेन दर्शितम् । विष्णुजने कार्ष्ण्यमिति च किन्त्वदं हरिगोत्रस्यो-
दाहरणम् । वर्णाद् दृढादेश्च नृसिंह य इमनिश्च इत्यनेनात्र कृष्णशब्दात् नृसिंह यः ।
आदिसर्वेश्वरस्य वृष्णीन्द्रो नृसिंह इति वृष्णीन्द्रः ॥१२२॥

बाल०—हाच्च । सर्वेश्वरतः परात् परभूतात् हात् हरामाच्चोत्तरो विष्णुजनो द्विर्वा
स्यात् सर्वेश्वरे विष्णुजने चेति वाच्यम् । वृही उद्यम इत्यस्मान् मनिप् ब्रह्मेति । ह्युत

सर्वेश्वरतः परात्हादुत्तरो विष्णुजनो द्विर्वा स्यात् ब्रह्मा, ब्रह्मा वा नेह-ह्युते । सर्वेश्वरे त्वित्यादि किम्? परामर्शो वार्षभानव्याः अर्हति ।

१२४. हस्तु विष्णुजने च न ।

अर्हते । विष्णुजन इत्यादौ द्वित्वप्रकरणे सर्वत्र शाकल्यस्येति अद्वित्व-
पक्षानुल्लेखस्तस्यां प्रमादः ।

१२५. विष्णुजनाद् विष्णुदासस्यादर्शनं सवर्गेविष्णुदासे ।

विष्णुजनात् परस्य विष्णुदासस्यादर्शनं वा स्यात् सवर्गे विष्णुदासे परे ।

सर्वेश्वरतः परत्वाभावात् तदुत्तरस्य न द्वित्वम् । पूर्वसूत्रस्य प्रत्युदाहरणान्याह—सर्वेश्वरे-
त्त्वित्यादि । इह वाक्येनैकेन हि हरिगोत्रत्रयस्य प्रयोगोदर्शितः । वार्षभानव्या इति
वृषभानोरपत्यं स्त्रीः वार्षभानवी श्रीराधा, तस्याः ।

अमृता०—१२४. हस्त्विति । ररामात् परो हरामस्तु विष्णुजने परेऽपि द्विर्न स्यात् ।
सर्वेश्वरे परे द्विर्न स्यादिति पूर्वसूत्रे “हरिगोत्रविने”त्यनेनैवोक्तम् । अर्हतीति—अर्ह
पूजायाम् । विष्णुजन इति द्वित्वप्रकरणे—“सर्वत्र शाकल्यस्येति पाणिनीय सूत्रम् । तत्र
द्वित्वं नेत्यनुवर्तते । शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन सर्वत्र द्वित्वं न स्यादित्यर्थः । तत्र यद्यपि
निषेधोऽनुवर्तते तथापि विकल्प एवाभिप्रायः । यथा—“विधिरपि योगद्वयेनोच्यते
प्रतिषेधोऽपि । अत्र सामर्थ्याद् विकल्पो भविष्यति, अन्यथा विधेरनवकाशः स्यादिति”
काशिकाव्याख्यायां न्यासकारः । काशिका भाषावृत्त्यादौ—अर्कः ब्रह्मा प्रभृत्यद्वित्व-
पक्षोल्लेखो दृश्यते, प्रक्रियाकौमुद्यां तदनुल्लेखात् तस्याः प्रमादोऽनवधानता ।

अमृता०—१२५. विष्णुजनादिति । मण्डूकप्लुत्या वेत्यनुवर्तते । ननु ‘शेचान्तोवेति’
सूत्रात्परमेवेदं विकल्पलक्षणं कथं न कृतमिति शङ्काभासं परिहरति—अस्येत्यादिना । नित्य-

इति ह्युधातुरपनयनार्थः । अत्र हरामस्य सर्वेश्वरतः परत्वाभावस्तेन तत्परो विष्णुजनो
द्विर्न स्यात् इत्यवधेयम् । सर्वेश्वरेत्त्वित्यादि किं किमर्थं सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं द्विर्न स्यात् ।
एकेन वाक्येन उदाहरणत्रयमाह परामर्शेत्यादि । वार्षभानव्या राधायाः परामर्शोऽर्हति
योग्यो भवतीत्यर्थः ॥१२३॥

बाल०—हस्तु । ररामात् परो हरामस्तु विष्णुजने च परे द्विर्न स्यात् । सर्वेश्वरे
द्विर्न स्यादिति पूर्वैवोक्तम् । अर्हते इति अर्ह पूजायाम् । मतान्तरं दूषयति विष्ण्वति
विष्णुजने विष्णुजनो वा ह-रौ विनेत्यादौ द्वित्वप्रकरणे सर्वत्र शाकल्यस्य द्वित्वं स्यादिति या
वक्तिः तथा सर्वत्रशाकल्यस्येति पदद्वये नाद्वित्वपक्षानुल्लेखोऽद्वित्वस्योल्लेखाभावः कृत इति
तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां प्रमादे यतस्तन्मतेऽपि यथायोग्यमद्वित्वपक्षोल्लेखोऽस्ति । प्रमादोऽन-
वधानतेत्यमरः ॥१२४॥

भगवाञ्छूरः भगवाञ्छूरो वा । अस्य पूर्वत्राकरणं विकल्पेनावश्यक-
त्वाभावात् ।

१२६. अव्यक्तानुकरणशब्दानामद्भागस्य हर इतौ हरिगदा
निषेधश्च ।

पटत्इति, पटिति, घटत्इति, घटिति ।

२२७. नैकसर्वेश्वरत्वे ।

स्रत् इति स्रदिति ।

१२८. न द्विस्त्रिरुक्तावन्त्यस्यतुवा ।

विधायकसूत्रैरेव कार्यसिद्धेर्विकल्पविधीनां पश्चादुक्तिस्तु न दोषायेतिभावः । दर्शितञ्चेदं
प्राक्—“एतावतैव सिद्धिः, द्वित्व-विकल्पेन तु मतान्तराणि वक्ष्यन्त” इत्यादिना ।

अमृता०—१२६. अव्यक्तेति । अव्यक्ताश्च तेऽनुकरणाश्च अव्यक्तानुकरणाः तेच
शब्दाश्चेति अव्यक्तानुकरणशब्दास्तेषां शेषस्थस्य ‘अत्’ इत्यंशस्य हरोभवति इति शब्दे
परे । विष्णुदास इत्यनेन प्राप्तहरिगदायाश्च निषेधो भवति । अनुकरणशब्दास्तावद्-
द्विविधाः, व्यक्ता अव्यक्ताश्च । व्यक्ता वाचा प्रकाश योग्याः, अव्यक्तास्तु वाचा न
प्रकाशार्हाः । तेच द्रव्याणां भङ्ग-पतनादिशब्दानुकरणाज्ञेयाः । इतौ किम् ?—पटदत्र ।
कथं—“घटदितिगम्भीरैरम्बुदैर्नैदितमिति ?” दरामान्तमेतदनुकरणं ज्ञेयम् ।

अमृता०—१२७. नैकेति । एकसर्वेश्वरत्वे सति अव्यक्तानुकरणशब्दानामितौ परे
अद्भागस्य हरो हरिगदानिषेधश्च न भवति । अत्र स्रदित्येक सर्वेश्वरत्वान्न अद्भागस्य
हरो न वा हरिगदानिषेधः ।

बाल०—विष्णु । ननु शे चान्तो वेति लक्षणात् परमिदं सूत्रं कस्मान्न कृतम् ।
तस्मात् परत्रास्मिन् कृते सति भगवाञ्छूर इत्युदाहरणमपि तत्रैव दातुं शक्यं स्यादिति
चेत्तत्राह अस्याेति इदं सूत्रमुदाहरणञ्च तत्र यदि न कृतं, तर्हि का क्षतिरस्य विकल्पेनावश्य-
कत्वाभावात् ॥१२५॥

बाल०—अव्य । अनुक्रियते यैस्तेऽनुकरणा यद्रूपास्तन्मात्रबोधकाः । शब्दते
प्रकाश्यते यैस्ते शब्दाः । आकाशस्य गुणः शब्दो वर्ण-ध्वन्यात्मकद्विधेत्यनेनाकाशस्य
प्रकाशत्वात् तेऽत्र वर्णात्मका एव गृह्यन्ते । अव्यक्ताश्च ते अनुकरणाश्चेति अव्यक्तानुकरणाः
अव्यक्तानुकरणाश्च ते शब्दाश्चेति अव्यक्तानुकरणशब्दाः । तेषामिति शब्दे परे अद्भागस्य
हर भवति विष्णुपदान्तत्वात् प्राप्तहरिगदाया निषेधश्च ॥१२६॥

बाल०—नैक । एकसर्वेश्वरत्वे सति अव्यक्तानुकरणशब्दानामितौ परे अद्भागस्य
हरो न भवति हरिगदा निषेधश्च । यथा स्रदिति एवं चडिति च ॥१२७॥

पटत् पटदिति पटत्पटेति । कथं वडभी वलभी पर्यङ्कः पत्यङ्कः, रघुः लघुः, कपिरिका कपिलिका इत्यादि ? डलयो रलयोश्च प्राय एकत्व-श्रवणात् ।

१२६. सरामेटनाभ्यां तुग्वेति वक्तव्यम् ।

षट् साधवः षट् साधवः, भगवान् साधुः भगवान् साधुः ।

अमृता०—१२६, नद्विरिति । द्विस्त्रिरुक्तौ सत्यामव्यक्तानुकरणशब्दानामिति शब्दे परे अद्भागस्य हरो हरिगदानिषेधश्च न भवति । अन्त्यस्य तरामस्य तु हरो वा स्यात् । पटत् पटेतीत्यत्र अन्त्यतरामस्य हरे सति अद्वयमिद्वये इत्यनेन एरामः । निषेधपक्षे—पटत् पटदिति । द्वौ नकारौ प्रकृतार्थं बोधयत इतिन्यायेन—हरिगदानिषेधो नस्यादिति हरिगदा स्यादेवेत्यर्थः । अत्र “आभीक्ष्ण्य वीप्सयोरिति द्विरुक्तिर्वक्ष्यते ।

अमृता०—१२६. सराम इति । सरामे परे सति टराम-नरामाभ्यामुत्तरे तुक् वा भवति । उकावितौ, तरामः शिष्यते । ननु षट्साधव इत्यत्र—“पात्परस्य टवर्गयुक्तस्येति तरामस्य टरामः कथं न स्यात् ? तदुच्यते,—इहविष्णुपदान्तस्थिताभ्यामेव टनाभ्यां तुग् वा स्यादित्यवगन्तव्यम् । तेन तत्र “नतुविष्णुपदान्तादटवर्गादिति” निषेधान्न हि टराम प्राप्तिः । भगवान्साधुरित्यत्रापि—“तथयोः सरामः” इति न प्रवर्तते, तुगागमस्यासिद्धत्वात्, “नत्से” इति प्रतिषेधाच्च । इह न सात्वतपरे सरामे इति वक्तव्यम्,—भगवान् स्याता ।

बाल०—नद्विः । द्विस्त्रिरुक्तौ सत्यामव्यक्तानुकरणशब्दानामितौ परे अद्भागस्य हरो न भवति अन्त्यस्य तरामस्य तु हरो वा भवति । पटत् पटेति वेत्यत्र तरामे हरे सति अद्वय इत्यनेन अरामः । ननु वडभीत्यादिः कथं डराममध्यो लराममध्यश्च तथा रराममध्यो लराममध्यश्च वेति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह डलयोरिति । एकत्र श्रवणादिति एकत्वेन एकरूपत्वेन श्रवणं एकत्वश्रवणं तस्मात् । प्रायो बाहुल्यं यथा स्यात्तथा डलयोः रलयोश्च एकत्र श्रवणाद्धेतोः डरामस्य लरामो ररामस्य च लरामः सिद्ध एवेति भावः । कपिलि-केत्यादीत्यत्रादिशब्दोपादानं रोहिनी-लोहिणीत्यादीनां संग्रहार्थम् ॥१२८॥

बाल०—सरामे परे सति टनाभ्यामुत्तरे तुग्वा भवतीति वाच्यम् । ननु षट् साधव इत्यत्र पात्परस्य टवर्ग युक्तस्य च तवर्गस्येति वक्षमाणेन तरामस्य टरामः कथं न स्यात् ? सत्यं यद्यत्र वक्षमाणेन त इति टः स्यात् तदा टरामद्वयरूपं विष्णुजने विष्णुजनो वेत्यनेन द्वित्वे कृतेपि सिद्धं स्यात् । तस्मादत्र सूत्रकरणात् तरामस्यैव स्थितिरिति । नन्वेतदस्तु भगवान् साधुरित्यत्र तथयोः सराम इत्यनेन नरामस्य विष्णेचक्रपूर्वो विष्णेचापो पूर्वो वा सरामः कस्मान्न स्यात् । उच्यते किदागमस्य पूर्वसम्बन्धित्वात् नरामस्य विष्णुपदान्त-स्थितत्वाभावस्तेन विष्णुचक्रादिपूर्वः सरामो न स्यात् किंवा नत्से इति प्रतिषेधेन ॥१२८॥

१३०. शौरौ णडाभ्यां टकौ वेति वक्तव्यम् ।

सुगण् शङ्करः सुगण्ट् शङ्करः । प्राङ् स्वभूः प्राङ्क् स्वभूः ।

॥ इतिविष्णुजनसन्धिः ॥

अमृता०—१३०. शौराविति । शौरौ परे सति णराम-डरामाभ्यामुत्तरे यथाक्रमं टराम-करामौ वा भवतः । गणयतीति गण् प्रमयः, सुन्दरो गण् यस्य स सुगण् शङ्करः । प्राञ्चतीति प्राङ् । स्वेनैव भूयत इति स्वभूर्विष्णुः । सर्वत्र क्विप् । एवंगण्ट् षण्डः सुगण्ट् सर्वः । तथा प्राङ्क् षष्ठः, प्राङ्क् शेते, प्राङ्क् छेते इत्यपि । किञ्चात्र “चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादे” रिति वार्त्तिकसूत्रात् हरिकमलानां हरिखड्गाश्च वा स्युः । सुगण्ट् शङ्करः, प्राङ्क् स्वभूः । पक्षे हरिकमलन्तु दर्शितमेव मूले ।

॥ इति विष्णुजन-सन्धि व्याख्या समाप्ता ॥

बाल०—शौरौ । शौरौ परे नडाभ्यामुत्तरे यथाक्रमं टकौ वा भवत इति वचनीयम् । सुगणयतीति सुगणिति प्राञ्चतीति प्राङिति च क्विवन्तस्य रूपम् । स्वेनैव भूयते इति भावे क्विप् स्वभूर्विष्णुः ॥१३०॥

॥ विष्णुजनसन्धि समापयति इतीति ॥

॥ इत्येवं विष्णुजनसन्धिर्दर्शितः ॥



अथ विष्णुसर्गसन्धिः

१३१. विष्णुसर्गो जिह्वामूलीयः कखयोर्वा ।

विष्णुसर्गः कखयोः परयो जिह्वामूलीयो वा स्यात् । स च वज्राकृति-
लेखो हि जिह्वामूलभवो वर्णविशेषः । अस्य विष्णुजनवत् परोद्धर्वगमनं
लोकात् । एवमुपधमानीयस्य च । कः कृष्णः क—कृष्णः । कृष्णः खेलति
कृष्ण—खेलति ।

१३२. पफयोरुपधमानीयः ।

विष्णुसर्गः पफयोः परयोरुपधमानीयो वा स्यात् । स च गजकुम्भाकृति-
लेखो हि ओष्ठभवो वर्णविशेषः । कृष्णः परमः, कृष्ण—परमः । कृष्णः
फलं, कृष्ण—फलम् ।

अमृता०—१३१. विष्णुसर्ग इति । जिह्वामूलीयस्य लेखनप्रणालीमुत्पत्तिस्थानञ्च
निरूपयति—सचेत्यादिना । वज्रस्याकृतिरिव लेखो यस्य स वज्राकृतिलेखः । केचित्तु
डमरु-रूपत्वमस्य मन्यन्ते । फलञ्चोभयत्र सममेव । विष्णुसर्गभवत्वादस्यापि विष्णुसर्ग-
वत् सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वञ्च सम्भवतीति विष्णुजनत्व-स्वीकारेण तद्वत् परवर्णोद्धर्वगमन-
मस्य प्रतिपादयति—अस्येति । एवमुपधमानीयस्य च परोद्धर्वगमनं लोकादिति ज्ञेयम् ।

अमृता०—१३२. पफयोरिति । उप समीपे धमायतेऽनेनेति उपधमान ओष्ठ स्तत्र भव
उपधमानीयः । गजस्य कुम्भयोर्मस्तकस्य कुम्भाकार-पिण्डयोरिवाकृतिर्यस्य स गज-
कुम्भाकृतिः, स चासौ लेखश्चेति तथा; लौकिकलेखन-व्यवहार-विशेष इत्यर्थः ।

अथेति अथानन्तरं विष्णुसर्गसन्धिर्दर्श्यते

बाल०—विष्णु । लेखनप्रकारमुच्चारणप्रकारञ्च निरूपयति—स चेति । वज्रस्या-
कृतिरिव लेखो लिखनं यस्येति विग्रहः । जिह्वामूलीय इत्यस्य जिह्वामूलभव इति
वाक्यप्रदर्शनम् । विष्णुसर्गभवत्वेन जिह्वामूलीयस्यापि विष्णुसर्गवत् सर्वेश्वरत्वं विष्णु-
जनत्वञ्च सम्भवतीति विष्णुजनत्वमनेन परोद्धर्वगमनं प्रतिपादयति—अस्येति । अस्य
जिह्वामूलीयस्य लोकादिति लौकिकव्यवहारादित्यर्थः । अतिदिशति एवमिति । एवं
प्रकारेण उपधमानीयस्य च परोद्धर्वगमनं ज्ञेयम् ॥१३१॥

बाल०—प-फ । उप समीपे धमायतेऽनेनेत्युपधमान ओष्ठः । तस्मिन् भव उपधमानीय
इति । पूर्ववदस्यापि लेखनप्रकारमुच्चारणप्रकारञ्चाह स चेति स इति उपधमानीयः । गजेति
गजो हस्ती तस्य कुम्भयोः शिरसः कुम्भाकारपिण्डयोराकृतिरिव लेखो लिखनं यस्येति
विग्रहः । कुम्भौ तु पिण्डौ शिरस इत्यमरः । औष्ट्य इति भवार्थ-नृसिंहयान्तम् ॥१३२॥

१३३. न शौरिपरेषु तेषु ।

शौरिपरेषु तेषु कख-पफेषुपरेषु विष्णुसर्गस्य स्थाने जिह्वामूलीयादिर्न स्यात् । कृष्णः क्षीरस्यति, कृष्णः प्साति । अत्र समासकार्ये षसौ च वक्ष्यते । यथा—निष्कृष्णः रक्षस्पाश इत्यादि ।

१३४. चछयोः शरामः ।

विष्णुसर्गः चछयोः परयोः शरामः स्यात् । कृष्णः चरति, कृष्णश्चरति । कृष्णः छादयति, कृष्णश्छादयति ।

१३५. टठयोः षरामः ।

विष्णुसर्गः टठयोः परयोः षरामः स्यात् । कृष्णः टीकते, कृष्णष्टीकते । कःठरामः, कष्ठरामः ।

१३६. तथयोः सरामः ।

अमृता०—१३३. नशोरीति । शौरिः परो येभ्यस्तेषु कखपफेषु परेषु जिह्वामूलीयादिर्न स्यात् । आदिना उपध्मानीयस्य ग्रहणम् । क्षीरस्यतीति—लालसया क्षीरमिच्छतीति वाक्ये क्यन्नन्तो निपातः । प्सातीति—प्साधातुर्भक्षणे अदादिः । अत्रेति—जिह्वामूलीयो-पध्मानीयाभावपक्षे विष्णुसर्ग एवेत्यर्थः । षसौ च वक्ष्यते इति—निर्दुर्वहिः प्रादुराविश्वतुरामित्यनेन निष्कृष्ण इतिपत्वम् । तथा ईश्वरारामाभ्यां पाशकल्पकेष्विति रक्षस्पाश इत्यत्र सत्वम् । निष्कृष्ण इति—निष्क्रान्तः कृष्णादिति विग्रहे निरादयः पञ्चम्या इत्यनेन मध्य पदाप्रयोगी कृष्णपुरुषः । रक्षस्पाश इति—‘गह्वर्पाश’ इत्यनेन पाश प्रत्ययस्तद्धितः ।

अमृता०—१३४. चछयोरिति सूत्र युग्मं सुगमम् ।

अमृता०—१३६. तथयोरिति । थूत्करोतीति—थूदिति अव्यक्तानुकरणमव्ययम् ।

बाल०—न शौ । शौरिः परो येभ्यस्तेषु क-ख-प-फेषु विष्णुसर्गस्य स्थाने जिह्वामूलीयादिर्न स्यादिति यथासम्भवत्वात् कखयो-जिह्वामूलीयो न स्यात् पफयोरुपध्मानीयो न स्यादित्यर्थः । क्षीरस्यतीति लालसायां क्षीरशब्दस्य क्षीरस्येति क्यन्नन्तनिपातात् तिप् क्षीरं लालसयेच्छतीत्यर्थः । प्सा भक्षणेऽदादिरित्यस्य प्सातीति । अत्रेति क-ख-प-फेषु विष्णुसर्गस्य विष्णुसर्गे वा समासकार्ये षसौ च वक्ष्यते इति ‘विष्णुसर्गस्य स ईश्वरात्तु षः क-ख-प-फेषु स च स्थानिवदि’त्यनेनेति शेषः । निष्कृष्ण इति निष्क्रान्तः कृष्णादिति ‘निरादयः पञ्चम्या’ इत्यनेन मध्यपदाप्रयोगी कृष्णपुरुषः । रक्षस्पाश इति निन्द्य-रक्ष इति गह्वर्पाश इति पाशप्रत्ययस्तद्धितः ॥१३३॥

बाल०—च छ । सुगमम् ॥१३४॥

बाल०—ट ठ । सुगमम् ॥१३५॥

विष्णुसर्गः तथयोः परयोः सरामः स्यात् । कृष्णः तरति कृष्णस्तरति ।
कृष्णः थूत्करोति कृष्णस्थूत्करोति ।

१३७. न त्से ।

कः त्सरुः ।

१३८. शौरिषु शौरिर्वा ।

विष्णुसर्गः शौरिषु परेषु परो यो वर्णः स एव वा स्यात् । कृष्णः शरणं
कृष्णशरणं वा । हरेः षण्डः हरेष्षण्डो वा । हरेः सुरभिः हरेस्
सुरभिर्वा ।

१३९. सात्वत-परत्वे लोप्यश्च ।

सात्वतः परो येभ्यस्तेषु शौरिषु परेषु विष्णुसर्गः पक्षे लोप्यश्च स्यात् ।
हरेः स्थलं हरेस्थलं हरेस्थलं वा ।

१४०. आदराम-गोपालयोरुनित्यम् ।

अरामात् परो विष्णुसर्ग उरामः स्यात् अराम-गोपालयोः परयोः ।

अमृता०—१३७. नत्से इति । त्से परे विष्णुसर्गः सरामो न स्यात् । अत्र च 'अम्'
परत्वाभावान्न विष्णुसर्गस्य सराम इति भावः । त्सरुः खड्गादिमुष्टिः स्यादित्यमरः ।

अमृता०—१३८. शौरिष्विति । शरणं रक्षकः । षण्डो वृषभः । षण्डो गोपति-
रिदृचर इत्यमरः । सुरभिः स्त्रीगौः । सुरभिर्गवि च स्त्रियामिति चामरः ।

अमृता०—१३९. सात्वतेति । लोप्यो लोपयोग्यो भवतीत्यर्थः । चकारात् शौरि-
विष्णुसर्गयोश्च स्थितिः प्रागुक्तेन । हरे स्थलं द्वारका मथुरा गोकुलञ्च ।

अमृता०—१४०. आदिति । अशब्दस्य पञ्चम्यारूपम् आत् । कृष्णोऽत्रेति—विष्णु
सर्गस्योरामे कृते 'उद्वयेओ' इत्यनेन ओरामः । तत 'एओभ्यामस्य हर' इत्यरामहरः ।

बाल०—तथ । सुगमम् । थूत्करोतीत्यत्र थूदिति कर्मपदमव्यक्तानु-
करणमव्ययम् ॥१३६॥

बाल०—नत्से । त्सेपरे विष्णुसर्गः सरामो न स्यात् । त्सरुः खड्गादि मुष्टि
स्यात् ॥१३७॥

बाल०—शौरि । शौरिषु परेषु विष्णुसर्गः परवर्णानुरूपः शौरि र्वा स्यादित्यर्थप्रति-
पादकः परो यो वर्णः स एव स्यादिति । शरणमिति रक्षितेत्यर्थः । शरणं गृहरक्षित्रोरिति
नानार्थवर्गः । षण्डो वृषभेदः षण्डो गोपति विदृचर इत्यमरः । सुरभी स्त्री गौः सुरभिर्गवि
च स्त्रियामिति नानार्थवर्गः ॥१३८॥

बाल०—सात्व । सात्वतः परो येभ्यस्तेषु शौरिषु परेष्विति फलितार्थकथनम् ।
शौरिणां सात्वतपरत्वे सतीत्यक्षरार्थः ॥१३९॥

कृष्णः अत्र, कृष्णोऽत्र । कृष्णः गच्छति, कृष्णोगच्छति । अराम-
निर्देशान्महापुरुषे तु न । आगच्छ तीर्थश्रवाः अत्र । विष्णुसर्गलोपो
वक्ष्यते ।

१४१. अद्वयभोभगो अघोभ्यो लोप्यः, सर्वेश्वरे तु यश्च, न च
लोपे सन्धिः ।

अआ इतिवर्णद्वयात् भो भगो अघो शब्देभ्यश्च परो विष्णुसर्गो लोप्यः
स्यात् सर्वेश्वर-गोपालयोः परयोः । सर्वेश्वरे तु पक्षे यरामश्च स्यात् ।
तस्मिन् लोपे सति पुनःसन्धिर्न स्यात् । कृष्णः इह, कृष्ण इह, कृष्णयिह ।
कृष्णाः अत्र, कृष्णा अत्र, कृष्णायत्र । भोः अनन्त, भो अनन्त, भोयनन्त ।
अघोः अवैष्णव, अघो अवैष्णव, अघोयवैष्णव । अत्राद्वयात् पर ईषत्स्पर्शी

तीर्थश्रवस्शब्दस्य बुद्धे हेतीर्थश्रवः ! गुरोरनृतोऽनन्तस्येति महापुरुषः । महापुरुषे वामनस्य
त्रिविक्रमतया व्यवहारात् अरामरूपं पूर्वनिमित्तमेव नास्तीति विष्णुसर्गस्योरामो नस्या-
दित्यर्थः । किन्तु आरामात्तस्य लोपो भवतीति वक्ष्यतेऽग्रिमसूत्रेण ।

अमृता०—१४१. अद्वयेति । वृत्तौ स्पटीकृतम् । भगो-अघोभ्य इत्यसान्धः
सौत्रत्वात् । “भगवतु अधवतु भवतूनां भगोस् अघोस् भोस् इति निपाता वा बुद्धे” इत्यनेन
विहितानां भोस् प्रमुखानां सरामरहिततयात्र निर्देशः कृतः । तेनाव्ययस्यापि भोशब्दस्य
विष्णुसर्गो लोप्यः स्यादिति ज्ञापितम् । वृत्तौ यत् “शब्देभ्यश्च” इत्यनेन शब्दोल्लेखः कृतः
स तु न प्रातिपदिकार्थे, बुद्धे निपातनेन तेषां विष्णुपदत्वात् । किन्तु श्रवणग्राह्यत्वं शब्दत्व-
मिति व्यापकार्थे एवात्र “शब्द”शब्दः प्रयुक्तः । तेन प्रकृति-प्रत्यय-विष्णु-विरश्चि-निपातादयः
सर्वे एव शब्दाभिधा भवन्ति । प्रातिपदिकार्थे शब्दस्य व्यवहारस्तु शब्दशास्त्रेषु संङ्कोच-
वृत्त्येति बोध्यम् । कृष्णा इति बहुत्वं खलु रासलीलां, युगपद्वहुकुमारीविवाहं

बाल०—आत । आदिति अशब्दादात् ‘कृष्णात् डसेरादि’ति आत । कृष्णोऽत्रेति
उरामे कृते ‘उद्वये ओ’ इति ओ रामः । ‘ए-ओभ्यामस्य हरो विष्णुपदान्त’ इत्यरामहरः ।
अरामेति सूत्रेऽरामनिर्देशान्महापुरुषे सति विष्णुसर्ग उरामो न तु स्यात् । तीर्थश्रवःशब्दः
सान्तः । गुरोरनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य प्राचामित्यनेन महापुरुषः । अत्र वामनमपि
त्रिविक्रम इत्यनेन त्रिविक्रमलिखनोच्चारणे । प्रसङ्गात् प्राप्तविष्णुसर्गहरसूत्रस्य भूमिकामाह
अत्रेति अत्र अरामे वक्ष्यते इति अव्यवहितेनेति शेषः ॥ १४० ॥

बाल०—अह । स्पष्टयितुं स्वयमेव वृत्तिमाह अ-आ इत्यादि । ‘भगवतु-अधवतु-भवतूनां
भगोस् अघोस् भोस् इति निपाता वा बुद्धे’ इत्यनेन विहितानां भोसादीनां सरामरहितत्वेनात्र
निर्देशः कृतः । अव्ययस्यापि भोःशब्दस्य सरामविहितत्वेन यद्भो इति भवति । ततः परोऽपि
विष्णुसर्गो लोप्यः स्यादिति ज्ञापनार्थः । सर्वेश्वरे तु यश्चेत्युक्ते सर्वेश्वरेऽन्यस्मिन् परे

ईषत्स्पर्शि तरश्च यरामो ज्ञेयः । ओरामात् परस्त्वोषत्स्पर्शितर एव ।
गोपाले न यरामः । कृष्णागच्छन्ति । भोगोविन्द । भगो गोविन्द । अघो
हरिविमुख । आदराम-गोपालयोरिति विधानाः नेह-कृष्णोऽत्र, कृष्णो-
गच्छति । सः एषः, सएषः । सैष इति पादपूरणे । सैष दाशरथी रामः
सैष राजा युधिष्ठिरः । सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः ।

१४२. एष स परोविष्णुजने ।

एतच्छब्दस्य एष इत्यस्मात् तच्छब्दस्य स इत्यस्माच्च परो विष्णुसर्गो
लोप्यः स्याद् विष्णुजने परे । एषः कृष्ण, एषकृष्ण । सः रामः, सरामः ।

वाभिप्रयुक्तम् इह अरामादुत्तरस्य विष्णुसर्गस्य यो लोपः स तु अरामभिन्नसर्वेश्वरे परे
सत्येवेति ज्ञेयः, पूर्वसूत्रेण अरामे परे विष्णुसर्गस्य उरामविधानरूपविशेषावगमात् । तदेव
दर्शयति—अरामगोपालयोरित्यादिना । विष्णुसर्गजात-यरामस्योच्चारणं निरूपयति—
अत्रेति । गोपालेन यराम इति सर्वेश्वरे परे एव तद्विधानादिति भावः । पादपूरण इति—
“न च लोपे सन्धि” रित्यनेन विष्णुसर्गो लोपे सति पुनः सन्धेरभावाद् सैष इत्यत्र तु सन्धिः
पादपूरणार्थ एव । तच्च समर्थयते प्राचां प्रयोगेण—सैष इत्यादिना । स प्रसिद्धो दाशरथिः
दाशरथस्यापत्यं पुमान् राम एष तव प्रत्यक्षमित्याद्यर्थो ज्ञेयः । दाशरथी राम इत्यत्र
त्रिविक्रमो वक्ष्यते । ईदृशः प्रयोगश्चार्पप्रयोगत्वेन मन्तव्यः ।

अमृता०—१४२. एषेति । द्वन्द्वात् परः पूर्वो वा श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यत
इति शासनेन पर इत्यस्य एष स इत्युभाभ्यामन्वयः । तथैव वृत्तौ विवृतम्—एष इत्यस्मात्
स इत्यस्माच्च परो विष्णुसर्गो लोप्य इति । क्वचिद् वा इत्येके । सो वा भवेत्, एषो
हनूमानिति सुपन्नकारः ।

विष्णुसर्गो लोप्यो भवतीत्यायातम्, अतः पूर्वसूत्राद् गोपालश्चानुवर्त्तत एव अतएवोक्तं
सर्वेश्वर-गोपालयोरिति । किञ्च । आदराम-गोपालयोरित्यत्रारामस्य परनिमित्तत्वेन
दर्शितत्वाद् अरामादरामं परनिमित्तं विना सर्वेभ्यः सर्वेश्वरोऽत्र परनिमित्तं ज्ञेयम् ।
भो इति भगवन्नित्यर्थः । अनन्तेति हे अनन्तेत्यर्थः । एवमव्ययत्वेऽपि भो अनन्तेत्यादिः ।
भगो इति हे भगवन्नित्यर्थः । अघो इति हे अघवन् हे पापिन्नित्यर्थः । विष्णुसर्गीय-
यरामस्य उच्चारणं निरूपयति—अत्रेति । गोपाल इति नेदं लक्षणं किन्तुसर्वेश्वरे तु यश्चेति ।
यदुक्तं तदेव विवृतम् । आदिति इहस्थले विष्णुसर्गो लोप्यो न स्यात् उरामस्तु
स्यादेव ॥१४१॥

बाल०—सैष । पादपूरणे साध्ये सैष इति भवति । विष्णुसर्गलोपेऽप्यत्र सन्धिनिषेधो
न भवतीति भावः । दाशरथी राम इत्यादौ कृतेऽपि अर्थसङ्गतिर्भवेदेवेति सैषः पाद-
पूरणार्थः । कश्चित् कमपि परिचायति स प्रसिद्ध एष दाशरथी राम एव सर्वत्र
योज्यम् ॥१४२॥

१४५. अनीश्वरादपि ररामजः ।

स एव विष्णुसर्गो यदि ररामजातस्तदा ईश्वरादनीश्वरादपि च परो ररामः स्यात् सर्वेश्वर-गोपालयोः परयोः । प्रातः अत्र, प्रातरत्र । गीः मुकुन्दस्य, गीर्मुकुन्दस्य । भ्रातः व्रजे, भ्रातर्व्रजे । भ्रातः गोविन्दं पश्य, भ्रातर्गोविन्दं पश्य ।

१४६. अहो विष्णुसर्गस्य रो रात्रि-रूप-रथान्तरादन्येषु ।

रात्रि-रूप-रथान्तरादन्येषु परेषु अहो विष्णुसर्गस्य स्थाने रो भवति । अहः अहः, अहरहः । अहः गणः, अहर्गणः । सर्वेश्वर-गोपालयोरेव । नेह-अहःपतिः । रात्रादौ तु न-अहोरात्रिः । एकदेशविकृतमनन्यवत् अहोरात्रः । अहोरूपं, अहोरथान्तरं साम ।

अमृता०—१४५. अनीश्वरादिति । अत्रविष्णुसर्गस्य ररामजत्वेन गृहीतत्वात् सर्वापवादत्वम् । तेन भ्रातर्व्रज इत्यत्र विष्णुसर्गस्य न तूराम-प्रवृत्तिर्न वा लोप प्रवृत्तिः । प्रातरिति ररामान्तमव्ययम् । गिर्शब्दो वाग्वाची । सर्वेश्वर-गोपालयोरिति किम्—गीः कृष्णस्य ।

अमृता०—१४६. अहो इति विष्णुसर्गस्येति—अहोविष्णुसर्गो विष्णुपदान्त इति-वक्ष्यमाणविधिना जातस्य विष्णुसर्गस्येत्यर्थः । ब्रह्मतः स्वमोर्महाहरः इत्यनेन कृतमहाहरस्य हि अहो विष्णुसर्गस्य र-विधानमिदं ज्ञेयम् । स्वादौ तु नायं विधिर्वाच्यः, तत्र अहोभ्यामिति दर्शयिष्यमाणत्वात् । अहरहरिति वीप्सायां द्विरुक्तिः । परनिमित्तस्यानुवर्त्तनं ज्ञापयति—सर्वेश्वरेति । ननु सूत्रे रात्रि शब्दो हि वर्जितः, ततो रात्रिशब्दे सन्धिर्भवत्विति चेत्तन्निरासयति परिभाषावलेन—एकदेशेत्यादिना । यथा एकदेशेन चक्षुरादिना विकृतोऽपि कश्चिज्जनो नान्यः स्यात्तथा इरामवैकल्पेऽपि रात्रिशब्दो रात्रेरभिन्न एवेत्यर्थः । अहोरात्र इति—अहश्च रात्रिश्चेति श्याम रामे समासान्तः केशवारामस्तद्धितः ।

द्विष्णुजने विष्णुसर्गे लोप्यो न स्यादित्यर्थः । ननु स इत्यस्य साहचर्यादिति कथं संगच्छतां, यतः सहसमानशब्दयोः समासे सरूपत्वं दृश्यते तथा सो तनुकरणे षोऽन्तकर्मणि इत्यनयोर्धात्वोरपि कृदन्ते 'अकर्मण्यारामात् क' इत्यनेन कप्रत्यान्तसरूपत्वं दृश्यते चेति तच्छब्दसम्बन्धि-सरामादन्यसरामस्यापि विद्यमानत्वादेतच्चिन्त्यम् । चिन्त्यञ्चात्र प्रकृति-सिद्धानुकूलमेव तद् यथा । सहादिशब्दद्वयस्य सभावत्वेऽपि विष्णुसर्गस्याविद्यनानत्वाद्धातु-द्वयस्य तु स्वरूपत्वस्य विष्णुसर्गस्यापि विद्यमानत्वेऽपि गौणत्वात् तद्रूपमङ्गीकृत्य प्रसिद्धत्वात् तच्छब्दस्य स इत्यस्यैव साहचर्यमुक्तमित्यवधेयम् ॥१४४॥

बाल०—र-ई । सर्वेश्वर-गोपालावात्र पूर्वं तोऽनुवर्तते इति वृत्तौ सर्वेश्वरगोपाल-योरित्युक्तम् ॥१४५॥

बाल०—अनी । गीर्वाक् । हे भ्रातः व्रजे गोविन्दं पश्येत्यन्वयः ॥१४६॥

१४७. रोरे लोट्यः पूर्वश्च त्रिविक्रमः ।

रो ररामे परे लोट्यः स्यात्, ररामात्पूर्वो वामनश्च त्रिविक्रमः स्यात् ।
भ्रातः रामानुजं पश्य, भ्राता रामानुजं पश्य । हरिः राधाप्रियः
हरीराधाप्रियः ।

इतिविष्णुसर्गसन्धिः ।

अमृता०—१४७. रोरे इति । भ्रातरिति—ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौचेत्यनेन
भ्रातृशब्दस्य बुद्धे गोविन्दे कृते “सररामयो”रिति ररामस्य विष्णुसर्गो वक्ष्यते । रामस्य
वलदेवस्य अनुजं श्रीकृष्णमित्यर्थः । हरिरिति “रईश्वरात् सर्वेश्वर-गोपालयो रित्यनेन
ररामः । राधाप्रिया यस्य सराधाप्रियः श्रीकृष्णः ।

इति श्रीहरिनामामृत व्याकरणे सन्धिप्रकरणे श्रीगोपालदास
काव्य - व्याकरणतीर्थ - विद्यारत्न - प्रणीता
अमृतास्वादिनी टीका सम्पूर्णा ।
समाप्तं प्रथमप्रकरणम् ।

बाल०—अहो । रात्रि-रूप-रथन्तरादन्येषु परेषु अहन्शब्दसम्बन्धिनो विष्णु-
सर्गस्य स्थाने र-रामो भवति । अहन् शब्दो दिवसवाची अहरह इति प्रथमैकवचना-
न्तस्य द्वितीयैकवचनान्तस्य वा वीप्सायां द्विरुक्तिः । अहर्गण इति अह्ना गण इति विग्रहः ।
यद्यपि वृत्तौ सर्वेश्वरगोपालयोरिति नोक्तम्, तथापि तयोः परयोरेवेत्याह—‘सर्वेश्वर’
इति । नेह इत्यस्मात् पूर्वं तेनेति योज्यम् । अहः पतिरिति समस्तमसमस्तं वा । एवमहः
पाता । पाता रक्षिता । रात्र्यादौ तु न वर्जनादिति शेषः । अहो रात्रिरिति विग्रहः ।
अत्र ‘आदरामगोपालयोरि’ त्यनेन उरामः । ननु सूत्रे रात्रिशब्दोपादानात् रात्रिशब्दे कथं
र-रामो न स्यादित्यत्र सिद्धान्तमाह एकदेशेति यथैकदेश खण्डितेऽपि जनः स एवेति
प्रतीतः । तद्वदिरामाभवोऽप्यत्र रात्रिप्रतीतरिति भावः । अहोरात्र इति अहश्च रात्रिश्चेति
विग्रहे तद्वितकेशवारामः कर्तव्यः । टित् केशव संज्ञ इति वक्ष्यते । अहोरूपमिति विग्रहः ।
अहो रथन्तरमिति अहो रथन्तरशब्देन सामवेद उच्यते इति सामेति । वाच्यपदं
दत्तम् ॥१४७॥

बाल०—रो रे । रामानुजं श्रीकृष्णम् । विष्णुसर्गसन्धि समापियति इतीति संज्ञा-
सन्धिप्रकरणमिति संज्ञा च सन्धिश्च तयोः प्रकरणमिति ॥१४८॥

प्रणत्य परमात्मानं बालानां बुद्धिवृद्धये । सन्धिपादमृजुं कृत्वा व्याख्यातं हि
सुहृन्मुदे ।

इति श्रीपरमभागवतोत्तम-श्रील हरेकृष्णाचार्यविरचायां श्रीमद्गोपीचरण
दासाख्यपरिशोद्धितायाश्च श्रीमद्धरिनामामृताख्य वैष्णवव्याकरणटीकायां बालतोषणी-
नाम्न्यां प्रथमसंज्ञा-सन्धि-प्रकरणटीका समाप्ता ॥

अथ विष्णुपद प्रकरणम्

यएकः सर्वरूपाणां सर्वनाम्नां तथाश्रयः ।

तस्यविष्णोः पदं सर्वं विष्णुभक्त्या निरूप्यते ॥

० १. अथ नामजानि विष्णु पदानि ।

नाम्नो जातानि यानि विष्णुपदानि अथानन्तरं तानि निरूप्यन्ते ।

१ २. अधातु-विष्णुभक्तिकमर्थवन्नाम ।

अमृता०—१. सन्ध्यनन्तरमेव पदज्ञानस्यावश्यकत्वात् पदनिरूपणमपि विष्णु-सम्बन्धनुशीलनमेवेति प्रतिपादयन् विष्णुपदप्रकरणं प्रक्रमते—य एक इति । यो-विष्णुरेक एव सर्वरूपाणां कृष्ण इत्यादीनां भवतीत्यादीनाञ्च निखिलपदानां तथा सर्वनाम्नां प्रथम-मध्यमोत्तम-पुरुषवाचिनां भवतु-युष्मद्स्मदादि सकलशब्दानामाश्रयो व्यापकत्वेनास्पदं, तस्य विष्णोर्विष्णु सम्बन्धि सर्वं पदं पूर्वोक्तरूपं विष्णुभक्त्या विभक्त्या निरूप्यते साध्यते मयेति शेषः । सर्वनाम्नामित्यनेन कृतद्वितजानाञ्च ग्रहणम् । अपि च यएको विष्णुः सर्वरूपाणां यावत् स्थावर जङ्गमादि-दृश्यवस्तूनां तथा सर्वं नाम्नां सकलसंज्ञानां वाचकानामिति यावत्, आश्रयोरधिष्ठानमिति; विष्णोराश्रयमन्तरेण वाच्यवाचकानां सर्वेषां सत्ताभावो दर्शितः, “आश्रिताश्रयविग्रहं श्रीकृष्णाख्यमिति श्रीस्वामिपादोक्तेः । तस्य विष्णोः सर्वपदं स्थानं वैकुण्ठादिकं धाम विष्णुभक्त्यैव निर्णीयते, नत्वन्यसाधनै रित्यर्थः । विष्णुपदनिरूपणे भक्तिरिव पदनिरूपणे विभक्ति सहायिकेति सादृश्यम् । भक्ति रिति भज सेवायामित्यस्य भावे क्तिः, भजनमित्यर्थः ।

विष्णुपदं तावद्विविधं नामजं धातुजञ्च; तत्र नामजानामेव प्रथममल्पायाससाध्य-त्वात् तानेवाह—अथेति ।

अमृता०—२. किं तावन्नामेत्यपेक्षायां तत्स्वरूपमाह—अधात्विति । विष्णुभक्ति

बाल०—श्रीश्रीहरिः । यमर्थं वक्तुकामेन शब्दग्रामः प्रवर्तते । तस्य विष्णोः पदं कार्त्तुर्न्यं व्याचक्षेऽहं यथामति ।

बाल०—पदनिरूपणमपि विष्णुसम्बन्धनुशीलनमेव भवतीति प्रतिपादयन् तदा-रभते—य एक इति । यो विष्णुरेक एव सर्वरूपाणां सर्वपदानां कृष्ण इत्यादीनां भवतीत्यादीनाञ्च तथा सर्वनाम्नां सकलशब्दानामाश्रय आस्पदं स्थानमिति यावत् तस्य विष्णोर्विष्णुसम्बन्धि सर्वं पदं कृष्ण इत्यादिकं भवतीत्यादिकञ्च विष्णुभक्त्या विभक्त्या निरूप्यते साध्यते इत्यर्थः । सर्वनाम्नामित्यनेन कृतसमासजादीनां ग्रहणं भुवादीनाञ्चग्रहणं; तेषामव्ययत्वेन नामत्वात् दर्शनादौ शब्दत्वेन निर्दिष्टाच्च । तथा च यः सर्वरूपाणां सर्व-शरीराणां तथा सर्वसंज्ञानामाश्रयस्तस्य विष्णोः सर्वं पदं स्थानं वैकुण्ठादिकं विष्णुभक्त्यैव निरूप्यते, अलं केनचिदिति शेषः । तत्र च प्रथमं नामज-विष्णुपदानामेव निरूपणं कर्तव्यमित्याह अथेति ॥१॥

भू सनन्ताद्या धातवः । स्वादि-तिवाद्या विष्णुभक्त्यः । विभक्त्य इति प्राश्नः । तान् धातून् ता विष्णु भक्तीश्च वर्जयित्वा यदर्थयुक्तं शब्दरूपं तन्नामसंज्ञस्यात् । लिङ्गमित्येके प्रातिपदिकमित्यन्ये ।

कमिति स्वार्थे कप्रत्ययस्तद्धितः । धातवश्च विष्णुभक्तिकाश्च तेषां समाहारो धातुविष्णु भक्तिकं, न धातु विष्णुभक्तिकमिति तत् । यद् वा धातवश्च विष्णुभक्त्यश्च धातुविष्णु-भक्त्यः, न विद्यन्ते धातु विष्णुभक्त्यो यत्र तद्धातु विष्णुभक्तिकमिति पीताम्बरे समासान्तः कप्रत्ययः । अर्थो विद्यतेऽस्येति अर्थवत्, मतुप् प्रत्ययः । अर्थशब्दोऽत्राभिधेय वचनो न तु प्रयोजन वचनो धनवचनो वा । विष्णुभक्ति शब्देन तदन्तं विष्णुपदञ्च लक्ष्यते । तेन धातु-विष्णुभक्ति-विष्णुभक्त्यन्तेभ्योऽन्यं यदर्थयुक्तं तन्नामसंज्ञमिति फलितार्थः । विष्णु भक्त्यन्तग्रहणं कृष्णः भवतीत्यादेर्नामत्वनिरासाय । विष्णुभक्त्यन्तस्य नामत्वे स्वीकृते—हनधातोर्भूतेश्वरे—‘अहन’ इत्यस्य “नामान्तस्येत्यादिना नरामहरप्रसक्तिः स्यात् । इह पर्युदास नञ् उभयत्रान्वेतीति विवृणोति—तान् धातून्तित्यादिना । एवं व्याख्यानेन पष्ठी समासो निराकृतः । न च पष्ठीसमासे का हानि रिति वाच्यं, धातोर्विष्णुभक्तिवर्जनेन नाम्नो विष्णुभक्तीनां स्वादीनां नामत्वापत्तेः । अर्थवत् पदं व्याख्याति—तेचार्था इति । तदभिधायकं द्रव्यादि वाचकं, वाच्यास्तु द्रव्यादयएव । ऐश्वर्यादीति आदिशब्देन भक्तवात् सल्यादेर्ग्रहणं, द्वितीयादिना रूपरसादेश्च ।

जातिः समानतन्मेकधर्मत्वम् । इदन्तु विवरणमात्रं, लक्षणं खलु तद्धिते वक्ष्यते—आकृतिग्रहणा जातिरित्यादिना । नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वं जातित्वमिति नैयायिकाः । तत्र ब्राह्मणो मुखमासीदिति वेदप्रमाणेन ब्रह्ममुखोद्भवत्वरूपसमान धर्मः सर्वेषु ब्राह्मणेषु समवायेन विद्यत एवेति ब्राह्मणत्वं जातिः । एवं विशान-सास्नादिमत्व-समधर्मस्य सर्वेषु

बाल०—अधातु । विष्णुभक्त्य एव विष्णुभक्तिकाः स्वार्थे कप्रत्ययस्तद्धितः । लक्षणया विष्णुभक्त्यान्तानि पदानि वा गृह्यन्ते धातुपदेन धातुत्वानि वा धातुत्वानीति केवलसत्तादिसिद्धक्रियावाचि-भूप्रभृतिधातुपराणीत्यर्थः । अनेनानुसन्धानेन भूप्रभृतीनां विष्णुपदानां विष्णुभक्तीनाञ्च ग्रहणमत्र सूचितमिति । धातवश्च विष्णुभक्तिकाश्च तासां समाहारः धातुविष्णुभक्तिकं समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वञ्चेति ब्रह्मत्वमेकत्वञ्च ततश्च न धातुविष्णुभक्तिकमधातुविष्णुभक्तिकमिति विग्रहः । धातुविष्णुभक्ति विष्णुभक्त्यन्त-भिन्नमर्थवन्नात्मैयर्थः । तान् धातून् ता विष्णुभक्तीश्च वर्जयित्वा यदर्थयुक्तं शब्दरूपम् उक्तमिति शेषः तन्नामसंज्ञं भवतीति तु फलितार्थकथनम् । किन्तु लक्षणया विष्णुपदग्रहणपूर्वक-वर्जनं विष्णुपदलक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वेन विष्णुपदस्य नामत्वाभावात् । यद्वा धातवश्च विष्णुभक्त्यश्च धातुविष्णुभक्त्यः न विद्यन्ते धातुविष्णुभक्त्यो यत्रेति विग्रहे समासान्तः कप्रत्ययस्तद्धितः । अधातुकम् अविष्णुभक्तिकञ्चाऽर्थवन्नामेत्यर्थः । धातून् वर्जयित्वेति तु फलितार्थकथनम् । विष्णुभक्तिश्चेत्यपि फलितार्थमित्यर्थः । अर्थवदिति अर्था अस्य सन्तीत्यर्थे मतुप्रत्ययस्तद्धितः । मतोर्मोव इत्यने मरामस्य वरामः । न यदि धातुविष्णुशक्तिभिन्नमर्थवन्नाम, तर्हि कथं स-नान्त-संख्यात्ः कतेश्चत्यत्र जसृशसोरोस्

२ ३. प्रकृतिः पूर्वा ।

साच नामधातु भेदाद् द्विविधा ।

गोषु समवायेन विद्यमानत्वाद् गोत्वञ्च जातिः । व्यष्टि ब्राह्मण गवादे विनाशेऽपि समष्टि रूपिणां तेषां युगपद विनाशाभावेन तत्तद्धर्माणां सत्त्वाज् जाते नित्यत्वं ज्ञेयम् । अर्थवद् ग्रहण-प्रयोजनमाह—अर्थवदिति । यद्यपि एकाक्षरकोषे अरामादि प्रत्येक वर्णस्यार्थो निरूपितोऽस्ति तथापि कृष्णेत्यादौ वर्णसमूहस्य तत्तदर्थविवक्षितत्वेन नार्थवत्त्वम्, अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्य न ग्रहण मिति न्यायात् । ननुविष्णुभक्ते नामत्वाभावात् कथं “ब्रह्मतो जस-शसोः सि” रित्यादौ शस् विभक्तेरुत्तरं पुन विष्णुभक्तेरुत्पत्तिः ? सत्यमुच्यते—सर्वत्रानुकृत्य शब्दत्व व्यवहारान्न दोषः । अनुकार्यानुकरणयो भेदविवक्षया अर्थवत्त्वेन सर्वेषां नामत्वाद् विष्णुभक्ति रूपाद्यत एव । तयोरभेद विवक्षायान्तु पृथगर्थाभावान्न नामत्वं, ततएव तदुत्तरं विष्णुभक्तेर्नोत्पत्तिः । तस्यैव दृष्टान्तो गवित्ययमाहेति ।

ननुपाणिनीयाः “कृत्तद्धितसमासाश्चे”ति पृथक् सूत्रयन्ति, असन्मते तदभावात् कथं समाधीयतइति चेत् तदुच्यते—कृत् प्रकरणे स्वयमेव वक्ष्यति—नामसंज्ञायां प्रत्ययेषु-विष्णु भक्तिमात्रवर्जनात् कृत्तद्धितयोरपि नामत्वं सिद्धमिति । तत्र कृत्तद्धित-शब्दाभ्यां कृदन्त तद्धितान्तौ लक्ष्येते इतिच प्रतिपादितम् । अथ समासस्य धातुविष्णुभक्तिराहित्वेन अर्थ-वत्त्वान्नामत्वं स्वतः सिद्धं; किन्तु तत्र समासग्रहणम् अर्थवत् समुद यानां मध्ये समासस्यैव नामत्वं नतु वाक्यस्येतिनियमाद् वाक्यनिरासयं ज्ञेयम् । स्वमते—क्रियान्वितपदसमष्टेरेव वाक्यत्वात् अथच विष्णुभक्तिमन्तरेण पदासिद्धेश्च व्यावृत्तिः स्वतएव घटत इति मन्यमानो ग्रन्थकार आचार्य सूत्रं नानुससार ।

अमृता०—३. प्रकृतिरिति । पूर्वा पूर्वस्थिताभवतीत्यर्थः । परिभाषा सूत्रमिदम् ।

इत्यत्र विष्णुभक्तेरौस् । भुवः भूरित्यत्र डस् क्रियाविशेषणं कर्मेत्यत्र तस्यालिङ्गस्य विशेषणमिति ब्रह्म इत्यत्र च क्रियाविशेषणप्य च ब्रह्मत्वं सिद्धयति । सत्यमुच्यते सुत्रे वेदवद्वयवहरात् सर्वमनुकरणे वा इत्यस्माच्च जसशसोरित्यत्र भुवः भूरित्यत्र च विष्णु-भक्तिर्भवत्येव क्रियाविशेषणमित्यत्र अलिङ्गमव्ययसंज्ञमित्यनेन भ्वादीनामव्ययत्वं नाम-लक्षणे वर्जनाच्च नामत्वाभावत्वमिति न कश्चिद्विरोधः । भूसनान्ताद्या इति भूश्च सनन्तश्च भूसनन्तौ आद्यौ येषामिति विग्रहः । अर्थयुक्तमिति अर्थयुक्तमिति विग्रहः । अर्थानेवाह चेति तदयुक्तं ततभिधायकमिति वाच्य-वाचकसम्बन्धी ज्ञेयः । तदाश्रयी । ऐश्वर्यादिति ऐश्वर्यादिश्रासौ शब्दस्पर्शादिकश्चेति विग्रहः । क्वचिद्विशेषणेन च विशेषणं समस्यत इत्यनेन श्यामराम समासः । ऐश्वर्यादिः शब्दस्पर्शादिकश्चेत्यर्थः । प्रथमादिशब्देन भक्तवात्सल्यादेर्ग्रहणम् । द्वितीयादिशब्देन रूपरसगन्धादीनां ग्रहणम् । समानत्वं सामान्यम् ऐक्यमिति यावत् । समानां सत्समैक्ये स्युरिति नानार्थवर्गः । तथाच एकत्वे सत्यप्यनेकव्यक्तौ सामान्यं जारिरित निर्गलितार्थः । यथोक्तमन्यैश्च । नित्यैकत्वे-सत्यनेकसमवेतत्वं समवायि-सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वं नित्यमेकमनेक व्यक्तित्वं सामान्यं जातिरित्यर्थः ॥२॥

ते चार्था द्रव्य-गुण-जाति-क्रियाः । तद्युक्तं तदभिधायकं शब्दरूप-
मित्यर्थः । द्रव्यं परमेश्वरमारभ्य मृन्नय पर्यन्तं सर्वं वस्तु । गुण
स्तदाश्रयी, ऐश्वर्यादि शब्दस्पर्षादिको धर्मः । जातिः समानत्वं,
ब्राह्मणत्व-गोत्वादि । क्रिया-धात्वर्थः, सत्ताहार-ज्ञान-विहार प्रभृतिः ।
अर्थवद्ग्रहणात् कृष्ण इत्यादौ प्रत्यक्षरं नामत्वं न स्यात्, गवित्यय-
माहेत्यत्र च ।

३. प्रत्ययः परः ।

सच स्वाद्याख्यात-कृतद्धित-भेदाच्चतुर्विधः ।

४. तत्र नम्नः सुं औ जस् । अम् औ शस् । टाभ्याम् भिस् । डे
भ्याम् भ्यस् । डसि भ्याम् भ्यस् । डस् ओस् आम् । डि ओस्
सुप् ।

एते सुं इत्यादय एकविंशतिविष्णु प्रत्येकं नाम्नः परे स्युः । तासु च
सुं औ जस् प्रथमा । अम् औ शस् द्वितीया । टाभ्याम् भिस् तृतीया ।
डेभ्याम् भ्यस् चतुर्थी । डसि भ्याम् भ्यस् पञ्चमी । डस् ओस् आम्
षष्ठी । डि ओस् सुप् सप्तमी । तत्र प्रथमाया एकवचनं सुं । द्विवचनं
औ । बहुवचनं जश् । द्वितीयैक वचनं अम् । द्विवचनं औ । बहुवचनं
शस् इत्यादि ज्ञेयम् । एते स्वादयः । स्यादय इत्यन्ये । सुवित्येके ।

अमृता०—४. प्रत्ययइति । प्रत्ययः परस्यो भवति । इदमपि परिभाषासूत्रम् ।
स्वादि वेक्ष्यमाणः । आख्यातः तिवादिः, सनादिश्च । कृतद्धिताश्च तत्तत् प्रकरणे
दर्शयिष्यन्ते ।

अमृता०—५. तत्रेति । तत्र नामधात्वोर्मध्ये नाम्न उत्तरं स्वादयः स्युः । धातोस्तु
तिवादय इत्याख्यात प्रकरणे वक्ष्यते । स्वादय इति स्वादि-संज्ञका स्वमते । अन्य इति
व्योपदेवादयः । एक इति पाणिन्यादयः । अत्र एकशब्दो मुख्यार्थवाची, पाणिनि मुनेरेव
वैयाकरणेषु मुख्यत्व वीकारात् ।

बाल०—प्रकृतिः । प्रकृतिः पूर्वा पूर्वस्थिता भवति । परिभाषासूत्रमिदम् । ननु
प्रकृतिरिव केति तत्राह सा चेति । सा च प्रकृतिः ॥३॥

बाल०—प्रत्ययः । प्रत्ययः परः परस्थितो भवति । इदमपि परिभाषासूत्रम् ।
प्रत्ययमेवाह स चेति स च प्रत्ययः ॥४॥

बाल०—तत्र । तत्रेत्यादिकं सुवित्यन्तं लक्षणमिदं प्रत्येकमिति क्रमेणेत्यर्थः ।

५. तत्र जुशङ्गुपा इत-उंश्च सोः^अ डसेरिश्च^अ । एति गच्छति न तिष्ठतीति इत्, अनुबन्धश्च । सच उच्चारणार्थश्चिह्नार्थो विध्यादिनिमित्तश्च क्वचित् ।

इतश्चैते—सिद्धोपदेशे विरिश्चौ च सविष्णुचाप सर्वेश्वर इत्, अन्त्यो विष्णुजनश्च । आङमाङ् उञ्ज नञ्सु च । विरिश्चौ तु क्वचित् । धात्वादि

तत्रेति—तत्रविष्णुभक्तिषु जटौ प्रत्ययाद्या जटणपा इत्यनेन इतौ । शङौ श-कवर्गावतद्धित इत्यनेन । अन्त्य विष्णुजनश्चेति प इत् । सिद्धोपदेशेत्यादिना सोःरामः । तेनैव डसेरि रामश्च । इसशब्दव्युत्पादयति—एतीति । अनुबन्धश्च प्राचां मते । इतकरण फलमाह—सचेति । तत्रोच्चारणार्थः सुंरित्यादे रुरामादिः । चिह्नार्थो जसादे जंरामादिः । विधि निमित्तो डेङसि प्रभृतीनां डरामः, औच् शि प्रभृतीनां चरामः शरामादिश्च । विध्यादीति आदि शब्दः प्रतिषेधबोधकः; तद् यथा यगादेः करामादिः । परिभाषामाह—सिद्धोपदेश इति । यद्यपीह शास्त्रे—“धातुसूत्र गणोणादि वाक्यलिङ्गानुशासनं । आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिता” इत्युपदेशलक्षणं दृश्यते, तथापि सिद्धोपदेश-शब्देन धातु-प्रत्यय-विष्णुनामेव ग्रहणं, तेषामेव स्वतः सिद्धत्वात् । तत्र धातौ सविष्णुचापसर्वेश्वर इद् यथा—चिती संज्ञाने इत्यादीनामी रामादिः । प्रत्यये यथा सुंप्रभृतेः उंरामादिः, डसेरिरामश्च । विष्णौ यथा नुट्त्तुक् प्रभृतेरुरामादिः; एषु सविष्णुचापत्वं प्राचीनैः स्वीकृतम् । विरिश्चौ यथा—तस्मात् सोनः पुंसीत्यादौ नरामादे ररामादिः । अन्त्यविष्णुजनश्चेति—धातौ—स्फुटिर विशरणे इत्यस्य ररामः । प्रत्यये तिपः परामः । विष्णौ नुटः टरामः । आङादिषु अन्त्यविष्णुजन इद् भवति । विरिश्चौ तुक्क्वचिदिति—अन्त्यविष्णुजन इत् इत्यनु-सज्यते । तद्यथा—“हरितो डेरोच्” इत्यत्र औचाः चराम इत् । क्वचिद् ग्रहणात् । पाददन्तादीनां पददत् प्रभृतिविरिश्चिषु दरामादिर्न इत् । धात्वादि त्रिटुडु इतिसमाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वञ्च । त्रिफलादीनां त्रि, दुओश्चि प्रभृतीनां दुः डुकृआदीनां डु इत् स्यात् । जटणपा इति—जराम इद् जसः, टरामः टादीनां, ण रामः णलादीनां, परामः पमादीनाम् । शकवर्गाविति—तद्धितेतर प्रत्यये शरामः कवर्गश्च इद्भवति । तद् यथा शराम इत् शसादीनां, करामः क्वस्वादीनां, खरामः खलादीनां, घरामः घणादीनां, डरामो डे प्रभृतीनां । अतद्धित इति किं—वहुशः, ग्रामक इत्यादौ तद्धिते नेत् । विष्णुभक्तौ तनसमा इतो नभवन्ति । क्रमेण यथा—यात् ईरन् जस् भ्यामित्येवमादयः । विष्णुभक्ताविति किम्—कृत्प्रत्यये “सर्वेश्वरान्त धातोर्यत्” इत्यत्र तरामः, “रुधादैः शप्खण्डी शनमि”त्यत्र मराम इद्भवत्येव, “अन्त्यविष्णुजनश्च” इत्यनेन । ननु डसि नुट् प्रभृते रिरामोरामौ कथमितौ स्यातां सविष्णुचापत्वाभावादिति चेत्तत्राह—अरामादीति । अत्र शास्त्रे

विष्णुभक्तीनामवान्तरभेदानाह तासु चेति । तासु विष्णुभक्तिषु मध्ये सुं औ जस् प्रथमे-त्यादि । प्रथमादिष्वप्यवान्तरभेदानाह तत्र चेति । तत्र प्रथमादिषु मध्येषु प्रथमाया एकवचनं सुं इत्यादि । एता विष्णुभक्तयः स्वादय इति स्वादिनामात इत्यर्थः ॥५॥

जिदुडु । प्रत्ययाद्या जटणयाः । श-कवर्गावतद्धिते । न विष्णु भक्तौ
तनसमा इति । सिद्धोपदेशा धातुप्रत्ययविष्णवः । अरामादिभेदाः
सविष्णुचापास्तु वैदिकाः ।

६. नामसंज्ञश्चतुर्विधः ।

यथा पुलिङ्गः पुरुषोत्तमसंज्ञः । स्त्रीलिङ्गो लक्ष्मी संज्ञः । नपुंसकलिङ्गो
ब्रह्मसंज्ञः । अलिङ्गोऽव्यय संज्ञः ।

तत्र सर्वेश्वरान्ताः पुलिङ्गाः । तत्र अरामान्ताः कृष्ण शब्दः तत्र प्रथमैक
वचने कृष्ण सुं इति स्थिते उराम उच्चारणार्थः ।

सर्वेश्वरस्य सविष्णुचापत्वमङ्गीकृत्य इत्कार्यं क्रियते, तत्तुवैदिक नियमानुसारेण, तत्रैव
सर्वेश्वराणां सविष्णुचापत्व-निर्विष्णुचापत्वभेद दर्शनात् । लौकिके च वैदिक प्रयोगमिश्रित
त्वात् क्वचित् तद्विधिमपेक्ष्यैव लौकिक कार्यं विधीयते; यथा क्वसु कि कानादीनां
छान्दसत्वेऽपि लौकिके च व्यवहारः । तद्वदिहापि ज्ञेयम् ।

अमृता०—६. नामेति । नामसंज्ञा यस्य सनाम संज्ञः शब्दश्चतुर्विधः । नाम्नोऽवस्था
भेदेन संज्ञाभेदं दर्शयति—पुलिङ्गइत्यादिना । पुरुषेषु प्रथम-द्वितीय-तृतीय-संज्ञकेषु विष्णु-
रूपेषुत्तमः पुरुषोत्तमः परव्योमाधीशो नारायणः । यद्वा “अतोऽस्मि लोकेवेदेचप्रथितः
पुरुषोत्तम” इति श्रीगीतायां श्रीभगवदुक्त्या स्वयं श्रीकृष्ण एव । लक्ष्यते दृश्यते स्निग्ध
दृष्ट्या अनया विश्वमिति लक्ष्मीर्भगवत् स्वरूपशक्ति विशेषः । वृहत्त्वाद् वृंहन्त्वाच्च तद्
ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमिति ब्रह्मसंहिता ।

बाल०—तत्रेति । तत्र विष्णुभक्तिषु ज-ट-श-ङ-पा इतो भवन्ति जटनाश्चेत्यनेनेति
ज्ञेयम् । सोरुश्च इद्भवति सोरित्येकदेशनिर्देशः सुं इत्यस्येत्यर्थः । ड-सेरिरामश्च इद्भवति
तत्र उं सिद्धोपदेशे चिरिश्चौ च विष्णुचापसर्वेश्वर इदित्यनेन इरामोऽपि तेनैवेति ज्ञेयम् ।
इरामस्य स विष्णुचापत्वम् अरामादिभेदाः सविष्णुचापास्तु वैदिका इत्यनेन सेत्स्यति ।
इच्छब्दः विववन्तः । स चेति स च उच्चारणार्थो भवति यथा सुं इत्यादेरुंरामादिः ।
चित्त्वार्थश्च यथा जसादेर्जरामादिः । क्वचिद्विध्यादिनिमित्तश्च अथवा क्वचिदिति सर्वत्र
वाक्येयं विध्यादिनिमित्तं यस्येति विग्रहः । यथा डे डसि डस् नुट औच् आच् शि
इत्यादीनां डराम-टराम-चराम-शरामादिः । आदिशब्देन प्रतिषेधस्य ग्रहणम् । प्रतिषेध-
निमित्तो यथा । तत्र ज-टौ प्रत्ययाद्या जटणा इत्यनेन । शङौ शकवर्गावतद्धित इत्यनेन ।
पस्तु अन्त्यो विष्णुजनेत्यनेन । यगादीनां करामादिश्च । तथाहि किञ्च डिञ्च कंसारिः
कंसारौ परे गोविन्द-वृष्णीन्द्रनिषेधो भवति । ईशस्य न गोविन्द-वृष्णीन्द्रौ कंसारिष्विति
प्रतिषेधलक्षणम् । एवमपरमपि ज्ञेयम् । इतश्चेतः इति एते अनुबन्धाः प्राचीनैरपि
इतश्चोच्यन्ते इत्यर्थः । तस्मादत्र संज्ञाभेदो नास्तीति भावः ।

सिद्धो । सिद्धोपदेशे धात्वादौ विरिश्चौ च स्थितः सविष्णुचापसर्वेश्वर इद्भवति ।

तत्र धातौ यथा चिती संज्ञाने इत्यादीनामोरामादिः । द्व्यक्षरधातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः स विष्णुचापो जागृ कथादि वर्जमित्यनेन इरामस्य सविष्णुचापत्वम् । प्रत्यये यथा सुं इत्यादेरुरामादिः इत्यादीनामपि इरामादिश्च सविष्णुचापत्वस्वीकारात् । विष्णौ यथा नुट् लुम् लुक् इत्यादीनामुरामादिः, अत्रापि सविष्णुचापत्वस्वीकारात् एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । विरञ्चौ यथा तस्मात् सो नः पुंसि इत्यादि लक्षणैर्विहितानां नरामादीनामरामादिः । पुंसः पुमसुः कृष्णस्थाने इत्यनेन विहितस्य पुमसोरुरामश्च एवमन्यत्र च ज्ञेयम् । अन्त्यो । सिद्धोपदेशे अन्त्यो विष्णुजनश्च इद्भवति । तत्र धातौ यथा स्फुटिर विशरण इत्यादीनां ररामादिः । प्रत्यये यथा तिवादीनां परामादिः । विष्णौ यथा । नुडादीनां टरामादिः ।

आङ् । एतेषु अन्त्यो विष्णुजन इद्भवति ।

विरि । विरिञ्चौ तु अन्त्यो विष्णुजनः क्वचिद्भवति यथा हरितो डेरोच् इत्यादि लक्षणैर्विहितानामौजादीनां चरामादिः । बाहो वा ऊठ् भगवतीत्यादि लक्षणैर्विहितानाम् ऊठादीनां ठरामादिश्च क्वचिद्ग्रहणात् पाददन्तादीनां पट्टादिषु विरिञ्चिषु अन्त्यो विष्णुजन इन्नभवति । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । धात्वादि । धातोरादिभूतं त्रि टु डु इद्भवति । त्रि टु ड्विति समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वञ्चेति ज्ञेयम् । तत्र त्रि-त्रिमिद त्रिफलादीनां टु भ्राजृ टुओस्वि प्रभृतीनाम् । डुं डुपचपादीनाम् ।

प्रत्यया । प्रत्ययस्यादिभूता जटणा इती भवन्ति । अत्रलिपिकार प्रमादात् परामः पतितः अतोऽत्र सूत्रे जटणपा इति पाठः सत्यः । पमित्यत्र प्रत्ययादि परामेत्वसम्भवात् । तत्र जरामोजसादीनां टरामादिनाम् । णरामो णलादीनाम् ।

शक । तद्धितभिन्ने प्रत्यये शकवगौ इतौ भवतः । तत्र शराम शसादीनाम् । करामः क्वसु कि कानादीनाम् । खरामः खल् खशादीनाम् । घरामो घिनुण् घनादीनाम् । डरामो डे डसि डसादीनाम् । अतद्धित इत्युपादानात् । बहुल्यार्थात् कारकाच्छस् माङ्गलिके इत्यनेन विहितस्य शसः शराम इन्न भवति । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । स एषां ग्रामणीरिति । क इत्यनेन विहितस्य कस्य करामः । सर्ववर्मणावृतः ख नृसिंह खावित्यनेन विहितस्य ङस्य खरामश्च इन्नभवति । एवमन्यस्यत्रापि बोद्धव्यम् ।

न विष्णु । विष्णुभक्तौ तनसमा इतो न भवन्ति । अतः यादादीनां तनाम् इन्न भवति । ईरन् अन् इत्यादीनां नराम इन्न भवति । जस् शस् मिस् भ्यसादीनां तस् थसादीनाञ्च सराम इन्न भवति । अम् भ्याम् आम् इत्येषां याताम् यातम् याम् इत्यादीनाञ्च मराम इन्न भवति । अन्त्यो विष्णुजनश्चेत्यनेन प्राप्ते निषेधः । सिद्धोपदेशानाह सिद्धोपेति । ननु इत्यादीनामिरामादि नडादीनामुराम्यदिश्च । कथमिद्भवतु सविष्णुचापत्वाभावादिति चेत्तत्राह अरामादिभेदाः अरामादिविशेषाः । अरामविशेषादयः सविष्णुचापा भवन्ति । ते तु वैदिका अतएतन्मतानुसारेण सविष्णुचापत्वादिद्भवति इति ज्ञेयम् । ननु तर्हि धातोः सर्वेश्वरस्य सविष्णुचापत्वं कथं विधीयते इति चेत् तत्रोच्यते जागृ कथादि वर्जं द्व्यक्षर धातोरन्तः पूर्वश्च सर्वेश्वरः सविष्णुचापः, चकासृ प्रभृतीनामन्तःसर्वेश्वरः सविष्णुचापः, ओरै ओश्चि प्रभृतीनाम् पूर्वः सर्वेश्वरः सविष्णुचाप इति विशेषप्रतिपत्तेः स्पष्टार्थम् ॥६॥

७. विष्णुभक्तिसिद्धं विष्णुपदम् ।

विष्णुभक्ति सिद्धं नाम्नो धातोर्वा रूपं विष्णुपद संज्ञं स्यात् । पदमिति प्राश्नः ।

गङ्गास्रोतो वदेवास्य भवेद् विधिरतः परः ।

नारोहति परः पूर्वं यत्रोपाधिर्न विद्यते ॥

८. सर-र-रामयो विष्णुसर्गो विष्णुपदान्ते ।

सररामयोः स्थाने विष्णुसर्गः स्यात् विष्णुपदान्ते विषये । कृष्णः ।

एवं सूत्रं ततो वृत्तिरिति विस्तर शङ्क्या ।

सूत्रेणैवार्थसिद्धिस्तु यथा स्यात् क्रियते तथा ॥

अमृता०—७. विष्णु इति । विष्णुभक्त्या विभक्त्या सिद्धं निष्पन्नं यत् तद्विष्णु पदसंज्ञं भवति । एतेन लिङ्गानां नाम्नोऽनतिरिक्तत्वं सूचितम् तत्रचतुर्विधेषु नामसंज्ञेषु सर्वेश्वरान्ताः पुलिङ्गाः शब्दाः प्रथममुच्यन्ते इतिशेषः । तत्र सर्वेश्वरान्त पुलिङ्गेषु कृष्ण शब्दः साध्यते । अपि च विष्णोः पदचरणं धामवा विष्णु भक्त्यैव सिद्धं लब्धं भवति न त्वन्यसाधनैरिति श्लेषार्थः ।

अधिकारविशेषमाह—गङ्गेति । अस्य ग्रन्थस्य अतः परो योविधिर्वक्तव्यः स गङ्गा स्रोतोवद् भवेत् । यत्र उपाधि विशेष कथनं न विद्यते तत्र परविधिः पूर्वं विधि नारोहति । गङ्गास्रोतो यथा उपाधौ बाधाप्राप्तायां सत्यां प्रतीपं गच्छति तथा विशेषकथने सति परविधिः पूर्वमारोहतीत्यर्थः । प्रायशस्तु पूर्वपूर्वविधिः पर पर विधि मनपेक्ष्यैव सिद्धतीति फलितार्थः । परविधेः पूर्ववारोहणं—“पतिस्त्वसमासे”, “धातोरीदूतोरियुवौ” इत्यादिषु ज्ञेयम् ।

अमृता०—८. सररामयोरिति वृत्तावेव व्याख्यातम् । विष्णुपदान्त इति किम्—अस्ति, कुर्यात् । एवमिति—वृत्तिः सूत्रविवृतिः । तल्लक्षणं यथा—सूत्रस्थितानां वर्णानामर्थानाञ्च प्रतीतये । विशुद्धा चाधिका व्याख्या वृत्ति रुक्ता मनोपिभिरिति ।

यथा येन प्रकारेण सूत्रेण हि अर्थसिद्धिरर्थागमः स्यात् तथा तेन प्रकारेण क्रियते सूत्रमितिशेषः । इतः प्राग् वृत्ति कथनन्तु सन्धिसुबोधाय ज्ञेयम् । साधनानुक्रमार्थं साधन परिपाठ्यर्थं अधिकारेण दूरानुवृत्त्या न सूच्यते सूत्रं न क्रियते । अन्यथा अधिकारेण सूत्रे कृतेतु अज्ञप्रबोधनी बालबोधोपयोगिनी भिन्ना प्रक्रिया मृग्येत अन्वेषणीया स्यात् । अयं

बाल०—नामेति नाम संज्ञा यस्य स नामसंज्ञः शब्दः । पुलिङ्गः पुरुषोत्तमसंज्ञ इत्यादीनि संज्ञासूत्राणि । तत्रेति तत्र चतुर्विधे सर्वेश्वरान्ताः पुलिङ्गा उच्यन्ते इति शेषः । तत्रेति तत्र सर्वेश्वरान्त पुलिङ्गेषु ॥१॥

बाल०—विष्णुः । गङ्गेति अस्य ग्रन्थस्य अतः परो यो विधिर्वक्तव्यः, स गङ्गा स्रोतवदेव भवेत् । अतो हेतोः परो विधिः पूर्वं नारोहति गङ्गास्रोतोऽपि पूर्वं नारोहतीति ।

साधनानुक्रमार्थश्च नाधिकारेण सूत्र्यते ।
 अन्यथा प्रक्रियाभिन्ना मृग्येताज्ञप्रबोधनी ॥
 प्राङ्निमित्तं तथा कार्यो कार्यं परनिमित्तकम् ।
 अत्रक्रमेण वक्तव्यं प्रायः सूत्रेषु सर्वतः ॥
 क्रमाच्च पञ्चमी षष्ठी प्रथमा सप्तमी तथा ।
 क्वचित् परनिमित्तस्य स्थाने विषयसप्तमी ॥
 कार्यं पूर्वं पञ्चमीस्यात् कार्यस्थाने तु षष्ठिका ।
 कार्ये तु प्रथमा वाच्या सप्तमी विषये परे ॥
 विना योगे निषेधार्थं द्वितीया क्वचिदिष्यते ।
 सर्वाङ्गा सम्भवो यत्र स्वल्पान्यङ्गानि तत्रतु ॥
 अतो बालकबोधाय पदंविच्छिद्य मूर्द्धनि ।
 अङ्गादेया विष्णुभक्ति व्यक्तार्थं सर्वसूत्रतः ॥

यथा स-र-रामयोरिति कार्यस्थानं, विष्णुसर्ग इति कार्यं, विष्णुपदान्तो
 विषयः । परनिमित्तं पूर्वनिमित्तश्चात्र नास्ति । तत्तच्च यथा—इद्वय-
 मेवयः सर्वेश्वरे इत्यत्र परनिमित्तं सर्वेश्वरः । ततःशश्छोवेत्यत्रपर्वनिमित्तं

भावः—पाणिन्यादि शब्द शास्त्रेषु गुण-वृद्धि तत् प्रतिषेधादि कार्याणां यद् यत्र वक्तुमारब्धं
 तत्रैवाधिकारेण तत् सर्वमेवोक्तम् । यथा प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे गुणप्रतिषेधः ।
 आख्यातकृत् सन्नादिषु यत्र यत्र गुणप्रतिषेध आवश्यक स्तत् सर्व एवानुव्रत्त्या तत्रैवाध्याये
 सन्निवेशिताः । एवमधिकारेण सूत्रकरणे सूत्रकारस्य श्रम लाघवमवश्यं स्यात् किन्तु
 कोमलमतिछात्राणां साधनक्रमः क्लिष्ट तरो भवेत् । अतः साधन क्रमसुबोधार्थमस्मद्
 ग्रन्थकृता दूरानुवृत्तिरूप क्लिष्टपथंविहाय प्रायशो यत्र यत् प्रयोजनं तत्र खलु तदुक्तम् ।
 तथैव प्रक्रिया कौमुदी कारादिभिः पाणिनीयाश्रद्धाय सूत्राणां विपर्यय-सन्निवेशेन सुगमी-
 कृतः साधनक्रमः । भट्टोजीदीक्षितोऽपि तमेवानुसारः । कार्यपूर्वं पञ्चमीत्यादिग्रन्थः
 पूर्वोक्तस्यैव विवरणम् । सर्वाङ्गेति—एतावताग्रन्थेन कथितानि प्राङ्निमित्तादि पञ्चाङ्गानि
 सर्वेषु सूत्रेषु हि भवेयुरिति न नियमः, प्रायः शब्दोपादानात् । सूत्रार्थ-सुबोध प्रकार-
 नाचष्टे—अत इति । सर्वसूत्रत इति—सप्तम्यां तसिः, सर्वसूत्रेष्वित्यर्थः । उदाहरणैः
 स्फुटीकरोति—तौनिषिद्धावित्यन्तेन । शसादीति—शसादिना सह जसो भेद ज्ञापनायेत्यर्थः ।
 आदि शब्देन डसादेश्च ग्रहणम् । एवमिति—डसेरिरामो डसा सह भेदज्ञापनाय ज्ञेयः ।

एतद्व्यवस्थाया स्थानमाह यत्रेति तस्माद्यत्र उपाधिर्विद्यते तत्र परविधिः पूर्वमारोह-
 तीत्यर्थः । अत्र उपाधिर्विशेषणम् । गङ्गास्रोतसोऽपि समुद्रनिकटे पूर्वारोहणं भवतीति ।

विष्णुदासः । विष्णुजन इत्यादौ हरौ विनेति तौ निषिद्धौ । तदेवं प्रथमाया एकवचने कृष्णः । द्विवचने कृष्ण औ, ओद्वये औ कृष्णौ । बहुवचने जस् जइत् चिह्नार्थः शसादि भेद ज्ञापनाय । एवमुत्तरत्रापि । त्रिविक्रम-विष्णुसर्गौ, कृष्णाः । द्वितीयैक वचने कृष्ण अम् ।

८. दशावतारादमृशसो ररामहरः ।

कृष्णम् । हरोऽयं ज्ञापयति—सूत्रे प्रत्ययरूपनिमित्तादन्यस्य हरोऽपि महाहरः । तेनैकात्मकमात्र निमित्तत्वान्नत्रिविक्रमः । द्वितीया द्वित्वे-कृष्ण औ कृष्णौ । पूर्ववद् बहुत्वे कृष्ण शस् । शइत्, अरामहरः । एकदेशविकृतमनन्यवत्, तथापि तन्नामैवेत्यर्थः । ततश्च,—

त्रिविक्रम इति—दशावतार एकात्मके मिलित्वेत्यादिना । विष्णुसर्ग इति—स-र-रामयो रित्यादिनेति शेषः ।

अमृता०—८. दशावतारादिति । दशावतार संज्ञकवर्णादुत्तरयोरमृशसो विष्णु भक्त्यो ररामो हरो भवति । तेनकृष्णमिति सिद्धम् । ननुकृष्णमित्यत्र महाहरत्वानुक्ते ररामस्य स्थानिवत्त्वेन दशावतार इत्यादिना त्रिविक्रमः कथं न प्रवर्तते ? तत्राह—हरोऽयमिति अयं हर एतज् ज्ञापयति—सूत्रे शङ्कितविधिसूत्रे प्रत्ययरूपं यन्निमित्तं ततोऽन्यस्य हरोऽपि महाहरो मन्तव्यः । प्रकृते अमोऽरामः शङ्कित-त्रिविक्रम विधानस्य विधान सूत्रे नहि प्रत्ययरूपनिमित्तं किन्तु एकात्मकमात्रं निमित्तम् । तस्मादस्य महाहरत्वान्न त्रिविक्रम इत्यर्थः । कृतेच तस्मिन् हरविधिरिह निरर्थकः स्यादिति विधान सामर्थ्याच्च हरस्यास्य महाहरत्वं मन्तव्यम् । ननुचाग्रिम सूत्रे त्रिविक्रमःशसीति शस एवपर निमित्त-तोक्तेः शसोऽराम हरेसति शस्त्वाभात् कथं त्रिविक्रम-प्रवृत्तिरिति शङ्कां समादधदाह—एकदेशेति । तेनात्र शसोऽराम हरेऽपि—सराम एव शस्नामा भवतीति फलितम् ।

परविधिः पूर्वारोहणस्तु पतिस्त्वसमास इत्यत्र ख्यत्याभ्यां ङसिङ्सोरुस् इत्यादिषु च व्यक्तं भविष्यति ॥८॥

बाल०—सरराम । एवमिति वृत्तिः सूत्रार्थं विवरणम् । विस्तरशङ्कया बाहुल्य-भयेन । यथा येन प्रकारेण सूत्रेणैवार्थसिद्धिः स्यात्, तथा तेन प्रकारेण कियते सूत्रमिति शेषः । ननु किं सूत्रलक्षणं किञ्चिद्वृत्तिलक्षणमित्यपेक्षायां तयोर्लक्षणञ्च दृश्यते । स्वात्पक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुरिति माध्वभाष्योक्तम् । सूत्रस्थितानां वर्णानामर्थानाञ्च प्रतीतये । विशुद्धा चाधिकाव्याख्या वृत्तिरुक्ता मनीषिभिरिति । साधनेति साधनान्तक्रमार्थं साधनपरिपाठ्यर्थम् । अधिकारेण अनुवृत्तेत्यर्थः । न सन्न्यते न सूत्रं कियते एतत्तु एतत् प्रकरणपरं बोद्धव्यम् । अन्यथा अधिकारे स्वीकृते सति अज्ञप्रबोधनी भिन्ना पृथक्प्रक्रिया मृग्येत मृग्या स्यादित्यर्थः । प्राङ्निमित्तमिति अत्र ग्रन्थे प्राङ्निमित्तादिकं प्रायः सर्वतः सर्वेषु सूत्रेषु क्रमेण वक्तव्यम् ।

१०. दशावतारस्य त्रिविक्रमः शसि तस्मात् सोनः पुंसि ।

अराम उच्चारणार्थः कृष्णान् । तृतीयैकत्वे टा,—

अमृता०—१०. दशावतारस्येति । शस् प्रत्यये परे दशावतारस्य त्रिविक्रमः स्यात् तस्मात् कृत्-त्रिविक्रमात् परस्य सरामस्य नरामो भवति, पुरुषोत्तमे विषये । दशावतारस्येति किम्—कृष्णरायः ।

पुंसीतिकिम्—धेनूः । तस्मादिति किम्—वेधसः ।

प्राङ्-निमित्त-कार्यं कार्य-परनिमित्तानि सर्वसूत्रेषु न सन्तीति प्रायःशब्दोपादानाम् । प्राङ्-निमित्तमित्यत्र परनिमित्तमित्यत्र च श्यामरामःसमासः कर्तव्यः । परनिमित्तकमिति स्वार्थे कप्रत्ययः । क्रमाच्चेति पञ्चमी षष्ठी प्रथमा सप्तमी च सर्वसूत्रेषु क्रमात् वक्तव्येति शेषः । पञ्चभ्यादयो वक्तव्या इत्युक्तं, कुत्र का वक्तव्या इत्यपेक्षयामाह कार्यपूर्वं इति कार्यपूर्वं प्राङ्-निमित्ते पञ्चमी वाच्या स्यात् । कार्यस्थाने कार्यिणि क्वचित् परनिमित्तस्य स्थाने विषयसप्तमीति यदुक्तं तदेवाचष्टे विषय इति ।

विनेति । अङ्गशब्देनात्र प्राङ्-निमित्तादिकमुच्यते । अत इति विच्छिद्य पृथक् कृत्वा व्यक्तिः प्राकट्यम् । सर्वसूत्रतः सर्वसूत्रेषु । प्राङ्निमित्तादिकं दर्शयति यथेति तत्तच्चेति परनिमित्तं पूर्वनिमित्तञ्च । विष्णुजन इत्यादौ विष्णुजने विष्णुजनो वा हरौ विनेति सूत्रे । शसादिति शसादिना सह जसो भेदस्य भिन्नताया ज्ञापनायेत्यर्थः । अथवा शसादेर्भेदस्य ज्ञापनाय जसा सहेति शेषः । ननु जसो जरामेण कृतेपि भेदो भवत्येव, तर्हि शसादिभेदज्ञापनायेति किमर्थमुक्तं तदेतद्विन्त्यम् । अथवा अस् इति कृतेपि शसा सह भेदः स्यात् किन्तु तद्धितासा सह भेदो न स्यात्, अतो जसिति कृतं, शसादीत्यत्रादि पदं एतज् ज्ञापयति । अकारान्ताज्जसोऽमुक् क्वचिद्वक्तव्यः । देवासः स्यौभ्यासः इति पदं केचित् केचित्तु छान्दसं वदन्ति । एवमुत्तरत्रेति शसः शरामः जरामादि भेदज्ञापनाय डसेरिरामश्च डसुभेदज्ञापनाय इत्यर्थः ॥६॥

बाल०—दशा । ननु कृष्ण कृष्णमित्यत्र अरामे हरे कृते दशावतार इत्यादिना त्रिविक्रमः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह हरोऽयमिति । यदि हरे कृतेऽपि त्रिविक्रमो भविष्यति, तदायं हरो निरर्थकः एव भूतः तस्माद्धरोऽयं ज्ञापकः । किं ज्ञापयतीत्यपेक्षायामाह—सूत्र इति सूत्रे यत्र कुत्रचित् सूत्रविशेषे प्रत्ययरूपेण यन्निमित्तं, ततोऽन्यस्य हरोऽपि महाहरो भवतीति । हरोऽपि महाहर इत्यनन्तरमिति शब्दप्रयोग उचितः अत्र अमोऽरामः त्रिविक्रमविधानसूत्रे प्रत्ययरूपेण न निमित्तं, किन्तु एकात्मकरूपेण; अतोऽस्य हरो महाहरः, अतो न त्रिविक्रमः । एकात्मकमात्रनिमित्तत्वादिति त्रिविक्रमविधानस्येति शेषः । ननु अराम हरे कृते कथं शसः परतेति चेत्तत्राह एकदेशेति । अनन्यवदित्यस्यार्थमाह तथापीति । यद्यपि एकदेशविकृतं, तथापि तन्नामैवेत्यर्थ इति । अतोत्र सरामः शसनामैव ॥१०॥

११. अरामान्तः कृष्णसंज्ञः ।

१२. कृष्णात् टाइनः ।

टेति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी, स्पष्टतार्थमसन्धिः । एवमन्यत्रापि । कृष्णइत्, अद्वयमिद्वये ए कृष्णेन । द्वित्वे—कृष्ण भ्याम्—

१३. कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाले ।

एकवर्णोविधिरन्ते प्रवर्तति; कृष्णाभ्याम् । बहुत्वे—भिस्—

१४. कृष्णाद्भिस ऐस् ।

एद्वये ऐ, विष्णुसर्गः कृष्णैः । चतुर्थ्येकत्वे—डे ।

१५. कृष्णात् डेर्यः ।

कृष्णस्य त्रिविक्रमः, कृष्णाय । द्वित्वेभ्याम् कृष्णाभ्याम् । बहुत्वेभ्यस् ।

अमृता०—११. अरामान्तइति संज्ञासूत्रम् । ननु कृष्णशब्दसाधन प्रक्रमएवैतत्संज्ञाकरण मुचितमासीत्, तत्कथं द्वितीया विष्णुभक्ति पर्यन्तं साधनान्तरमिति चेत्तत्रोच्यते—स-र-रामयोरित्यादि सूत्रत्रयेण इरामान्तोरामान्तादि शब्दा अपि साध्यन्त इत्यत एषामविशेषेणोक्तिः, इतः परेषान्तु सूत्राणामरामान्ता एवविषया ज्ञेयाः ।

अमृता०—१२. कृष्णादिति । अरामान्तशब्दादुत्तरे टास्थाने इन इत्यादेशः स्यात् । सूत्रवलेनेति तेषुवेदवद् व्यवहारः सूचितः । टा इन इति—अनित्यं सूत्रनिर्देशे इति परिभाषावलेन असन्धिः स्पष्टार्थमिति तूद्देश्यकथनम् ।

अमृता०—१३. कृष्णस्येति । गोपालेपरे कृष्णसंज्ञकनाम्नस्त्रिविक्रमः स्यात् । ननु कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्युक्ते अरामान्तशब्दस्य त्रिविक्रम इत्येव लब्धम्, सच पुनराद्यक्षरस्य मध्यमाक्षरस्य, अन्त्याक्षरस्यवेतिसंशये परिभाषामाचष्टे—एकवर्णेति । एक वर्णमाश्रित्य योविधिः प्रवर्तते सतु अन्ते एव भवतीति ज्ञेयम् ।

अमृता०—१४. कृष्णादिति । कृष्णाद् भिसः स्थाने ऐस् आदेशोभवति । एस् कृतेऽप्यत्र सिद्धे ऐस् करणं निर्जरसैः सिद्धार्थम् ।

अमृता०—१५. कृष्णादिति । कृष्णात् डेविभक्तिस्थाने यइत्यादिश्यते । त्रिविक्रम इति कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इत्यनेन ।

बाल०—दशा । तस्मात् । तस्मात् त्रिविक्रमात् । अराम इति नरामस्येति शेषः ॥

बाल०—अरा । संज्ञासूत्रमेतत् ॥१२॥

बाल०—कृष्णात् । ननु टा इन इत्यत्र टेन इति कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह स्पष्टतार्थमिति । एवमिति अन्यत्राप्यसन्धिः स्पष्टतार्थ एवेत्यर्थः ॥१३॥

बाल०—कृष्णस्य । ननु कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्युक्ते अन्ते भवतीति कुतो लभ्य इति चेत्तत्राह एकवर्ण इति । एकोवर्णो यत्रेति विग्रहः ॥१४॥

१६. कृष्णस्य एवैष्णवेवहुत्वे ।

कृष्णेभ्यः । पञ्चम्येकत्वे—कृष्ण डसि —

१७. कृष्णात् डसेरात् ।

कृष्णात् । पञ्चमी द्वित्व-वहुत्वयोश्चतुर्थीवत्,—कृष्णाभ्यां कृष्णेभ्यः ।

षष्ठ्येकत्वे—कृष्ण डस्—

१८. कृष्णात् डसः स्यः ।

कृष्णस्य । द्वित्वे ओस्

१९. कृष्णस्य एओसि ।

एअय् कृष्णयोः बहुत्वे आम्

२०. वामन गोपीराधाभ्यो नुडामि ।

ईदृशोविधिविष्णुः । उटावितौ । टिदागमः परसम्बन्धी, किदागमः पूर्वसम्बन्धी ।

अमृता०—१६. कृष्णस्येति । बहुत्वे विषये वैष्णवे परे अरामान्तशब्दस्यान्त वर्णस्य एरामो भवतीत्यर्थः । बहुत्व इति किम्—कृष्णाभ्याम् ।

अमृता०—१७.-१८. सूत्रद्वयं सुगमम् ।

अमृता०—१९. कृष्णस्येति । कृष्णसंज्ञकस्यान्तस्य एरामो भवति ओस् प्रत्यये परे ।

अमृता०—२०. वामनेति । ईऊलक्ष्मी गोपीसंज्ञा, आवन्तलक्ष्मीराधासंज्ञा च वक्ष्येते । आमि परे वामनादिभ्यो नुट् स्यात् । ईदृशेति—प्रकृति-प्रत्यययोर्मध्ये आगमनाद् विष्णु रागमश्च । परसम्बन्धी प्रत्ययसम्बन्धी । पूर्वं सम्बन्धी-प्रकृतिसम्बन्धी । तेनास्य नुटः टित्वात् प्रत्यय सम्बन्धित्वेन आम्विष्णुभक्त्या सह मेलनं, ततः कृष्ण नाम् इत्येवं स्थितम् ।

बाल०—कृष्णात् । सुगमम् । 'कृष्णाद्भिस् ऐस्' इत्यत्र एस् न कृत्वा ऐस् विधानं निज्जरसैः सिद्धचर्थम् ॥१५॥

बाल०—कृष्णात् डेरिति सुगमम् । कृष्णस्येति 'कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाले' इत्यनेन त्रिविक्रमः इत्यर्थः ॥१६॥

बाल०—कृष्णस्य । बहुत्वे विषये वैष्णवे परे इत्यर्थः । 'एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्तते' इति न्यायेन अन्तस्य स्थाने एरामो भवतीति ज्ञेयम् ॥१७॥

बाल०—कृष्णात् सुगमम् ॥१८॥

बाल०—कृष्णात् सुगमम् ॥१९॥

बाल०—कृष्णात् । सुगमम् । कृष्णस्य अन्तस्य स्थाने एरामो भवति ॥२०॥

२१. तत्र टिन्मितौ सर्वत्रागमौ शनमं विना उगन्त किच्च ।

यथा नुक् पुक् तुक् युक् इत्यादि । ततो नामि स्थिते—

२२. वामनस्यत्रिविक्रमो नामि, नृशब्दस्य तु वा, नतिसृ चतस्रोः ।

कृष्णानाम् । कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्यनेनैव सिद्धत्वेऽपि सूत्रस्य प्रयोजनं हरीणामित्यादावेव । सप्तम्येकत्वे कृष्ण डि, डइत् । अद्वयमिद्वये एः कृष्णे । द्वित्वे ओस् कृष्णयोः । बहुत्वे सुप् परामइत् । कृष्णस्य एः

२३. ईश्वर-हरिमित्र-कडेभ्यः प्रत्यय-विरिञ्चि-सस्य षो, नुम्विष्णु-सर्ग-व्यवधानेऽपि, नतुविष्णुपदाद्यन्त सातीनाम् ।

कृष्णेषु । अथ सम्बोधने, तत्रहे शब्दः सम्बोधनसूचकः ।

अमृता०—२१. तत्रेति । टित् मिच्च सर्वत्र आगमः स्यात् तथा उक् अन्ते यस्य तादृशः किच्च आगमः स्यात् । परिभाषेयम् । तत्र च प्रकृति-प्रत्यययोर्मध्ये आगमनात् तथा मित्वाच्च शनम आगमत्वे प्राप्ते निषिध्यति—शनमं विनेति । तस्य तु विकरणाख्या प्रत्यय संज्ञा चाग्रे वक्ष्यते ।

अमृता०—२२. वामनस्येति । नामिपरे वामनस्य त्रिविक्रमो भवेत् । नृशब्दस्य तु स वा भवेत् । तिसृ-चतसृशब्दयोस्तु तस्मिन् परे त्रिविक्रमो न स्यात् । अत्र अर्थवद्ग्रहण परिभाषया नामीति षष्ठीबहुत्वस्य नुटा सह आम् प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्, तेन अङ्गनामित्यादौ न त्रिविक्रमः । ननु कृष्णस्य त्रिविक्रम इत्यनेन हि कृष्णानामिति सिद्धे निष्फलमेतल्लक्षण मिति चेत्तत्राह—कृष्णस्येति । पर्जन्यबल्लक्षण प्रवृत्तिरिति न्यायात् प्रयोजना-प्रयोजनेषु सर्वत्रलक्षण व्याप्तौ न क्षतिरिति भावः ।

ननु कृष्णानामित्यत्र त्रिविक्रमात् पूर्वं वामनं दृष्ट्वैव नुट उत्पत्तिः, अतस्तस्य सन्निपात लक्षणत्वेऽपि कथं तमेव वामनं निघ्नन् पुनस्त्रिविक्रम उत्पद्यत इति चेत् ? मैवम् आरम्भ सामर्थ्यादेव सन्निपातविधिं बाधतेऽयं त्रिविक्रमविधिः । नतिसृ-चतस्रोरिति निषेधो हि तज्ज्ञापकः । तथाहि—सन्निपातलक्षणे यदि तिसृ-चतसृशब्दयो र्वामनाङ्गस्य पूर्वत एव त्रिविक्रमो बाधितः स्यात्तर्हि किमनेन निषेधेन ? अतो हि ज्ञायते सन्निपातविधे र्विधकोऽयं त्रिविक्रमविधिरिति ।

अमृता०—२३. ईश्वरेति । ईश्वरात् हरिमित्रात् करामात् डरामात् च परस्य प्रत्यय सस्य विरिञ्चि सस्य च मूर्द्धन्यादेशो भवेत्; नुमा विष्णुसर्गेण च व्यवधानेऽपि तस्य पत्वं

बाल०—वामन । ई-ऊलक्ष्मीर्गोपीसंज्ञा । आवन्तलक्ष्मी राधासंज्ञा । परसम्बन्धी प्रत्ययसम्बन्धी । पूर्वसम्बन्धी प्रकृतिसम्बन्धी ॥२१॥

बाल०—तत्र शनमं विना सर्वत्र टिन्मितौ आगमौ, उगन्तकिच्चागमम् । परिभाषा सूत्रमेतत् ॥२२॥

२४. सम्बोधने सुबुद्धसंज्ञः ।

सम्बुद्धिश्च ।

२५. एओ वामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनम् ।

हे कृष्ण । द्वित्व-बहुत्वयोः पूर्ववत् — हेकृष्णौ हे कृष्णाः । अत्र प्रथमैव ।
हेशब्दाद्यभावेऽपि — कृष्ण कृष्णौ कृष्णाः । विष्णुभक्तिहरेऽपि तदर्थवृत्त-
त्वान्नामत्वातिक्रमः । ततः कृष्ण यासि कृष्ण भासीत्यादौ नामविशेषस्य
विहितं त्रिविक्रमादिकं न स्यात् । एवं रामः रामौ रामा इत्यादि ।

२६. र-ष-ऋद्वयेभ्यो नस्य णः, सर्वेश्वर-ह-य-व-कवर्ग-पवर्ग-व्यव-
धानेऽपि, समान विष्णुपदे नतु विष्णुपदान्तस्य ।

मतम् । नत्विति—आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ, विष्णुपदस्य आद्यन्तौ विष्णुपदाद्यन्तौ; तौच
सातिश्च विष्णुपदाद्यन्त सातय स्तपां तुनपत्वम् । विष्णुपदस्य आदावन्ते च स्थितस्य
प्रत्यय विरिञ्चि सस्य तथा साति प्रत्ययस्य च सस्य षत्वं न भवतीति सरलार्थः । नुम्
शब्देन विष्णुचक्रमेव लक्ष्यत इत्यग्रे वक्ष्यते । ईश्वरादेः किम्—रामस्य, पयः सु । प्रत्यय
विरिञ्चि सस्येति किम्—सुपीः सुपिसौ । नतु विष्णुपदाद्यन्तेति किम्—मधुसेकः व्यतिसे,
हरिः अस्तौः । अग्निसात् । विरिञ्चि सरामस्यतु केवलस्यैव ग्राह्यं, तेन तिस्रः प्रभृतौ न ।

अमृता०—२४. सम्बोधन इतिसंज्ञा सूत्रम् । सम्बोधने सु-विष्णुभक्ति बुद्ध संज्ञकः
स्यात् । बुद्धो भगवतो दशावतारेषु नवमः ।

अमृता०—२५. एओ इति । एरामात् ओरामात् वामनाच्च परस्य बुद्धस्यादर्शनं
हरो भवेत् । तत्र सम्बोधने प्रथमैवेति कारके वक्ष्यते । कृष्णस्य त्रिविक्रम विधानसूत्रे
गोपाल वर्णमात्रग्रहणेन प्रत्ययरूपनिमित्ताभावात् बुद्धस्य महाहरत्वं सिद्धम् ततश्च कृष्ण
यासीत्यादौ त्रिविक्रमे प्राप्ते तन्निरासाय सिद्धान्तयति—विष्णुभक्तिहरेऽपीति । तदर्थं
वृत्तत्वाद् विष्णुभक्त्यर्थयुक्तत्वात् नामत्वातिक्रमो नामत्वलङ्घनं नामत्वाभाव इत्यर्थः । तत्र
नाम विशेषस्य विहितस्त्रिविक्रम इहतु न स्यात्, नामत्वातिरिक्तत्वादितिभावः ।

अमृता०—२६. रपेति । ररामात् परामात् ऋद्वयाच्च परस्य समानविष्णुपदस्थस्य
नरामस्य मूर्द्धन्यादेशः स्यात् सर्वेश्वरादि व्यवधानेऽपि । विष्णुपदान्ते स्थितस्य तु नरामस्य

बाल०—वामनस्य । नृ शब्द न तिसृ । ननु कृष्णानामित्यत्र 'कृष्णस्य त्रिविक्रम
गोपाले' इत्यनेनैव त्रिविक्रमो भविष्यति, किमनेन लक्षणेन इति चेत् तत्राह कृष्णस्येति ।
तस्मात्तदर्थं क्रियमाणं सुत्रमेतदर्थमपीति ॥२३॥

बाल०—ईश्वर । आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ विष्णुपदस्याद्यन्तौ विष्णुपदाद्यन्तौ
विष्णुपदाद्यन्तौ च सातिश्च विष्णुपदाद्यन्तसातयस्तेषाम् । विष्णुपदस्यादावन्ते च स्थितस्य
सातेश्च सस्य षो न भवतीत्यर्थः ॥२४॥

बाल०—सम्बो । संज्ञासूत्रमेतत् ॥२५॥

रामान् रामेण इत्यदि । वामन नारायण गोविन्द वैकुण्ठवासुदेवादयोऽ-
प्यरामान्ताः कृष्ण तुल्याः । कुर्वन्नस्तीत्यादौ द्वित्वे पूर्वनरामस्य न णत्वं
तत्राकरणात् ।

अइति शब्दोऽ “प्याद्यन्तवदेकस्मिन्निति” न्यायेन अरामान्तः । अः औ
आ इत्यादि । सम्बोधने अन्यत्र चानित्यमिष्यत इतिहे अ । दूराह्वाने
हैहयोरेव महापुरुषत्वं मतम् । हे३ अ, अहे३ वा ।

२७. शसादयो यदुसंज्ञाः ।

ररामादि पूर्वनिमित्त सत्त्वेऽपि न णत्वम् । यथा सर्वेश्वरादि व्यवधाने—चरणं हरिणा तरुणः
शरेण; वर्हेण कार्येण श्रवणं अर्केण मूर्खेण वर्गेण अर्घेण शृङ्गेण, सर्पेण रेफेण अर्वेणा दर्भेण
शर्मणेत्यादि । एषामनेकै र्युगपद् व्यवधानेऽपि स्यात्—पर्यायेण वैषम्येण । अपिशब्दाद्
अव्यवधाने च, यथा—शीर्णं, तिमृणां पूष्णाम् नृणामित्यादि । अन्तरालपाठेन विष्णुचक्र-
विष्णुसर्गयोः सर्वेश्वरत्वञ्च, अतस्तद् व्यवधानेऽपि णत्वमिष्यते । यथा—वृंहणं, उरः केण ।
समानविष्णुपदे इति किम्—अग्निर्नयति । विष्णुपदान्तस्य तु न—रामान् । कुर्वन्नस्तीति—
वामनाद् ङणना द्विः सर्वेश्वर इत्यनेन नरामस्य द्वित्वे सति पूर्वनरामस्य विष्णुपदान्तत्वा-
भावात् सर्वेश्वरादिव्यवधाने पूर्वनिमित्ते च सति णत्वं प्राप्नोति, तत्तु न स्यात् तत्राकरणात् ।
“असिद्धरूपं न त्याज्य” मिति प्रतिज्ञा सिद्धचर्यमिदं तत्रैव कर्तुं योग्यमपि यन्नकृतं तस्मात्
तत्राकरणादित्यर्थः । किञ्च विधानसामर्थ्यादेव न स्यादित्यपि वक्तव्यम् ।

“आद्यन्तवदेकस्मिन्” इति पाणिनीयसूत्रम् । तत्र व्याख्या च काशिकानुसारिणीः—
असहायस्य आद्यन्तोपदिष्टानि कार्याणि न सिध्यन्तीति अतिदिश्यते । सप्तम्यर्थे वतिः ।
एकस्मिन् वर्णे आदाविव अन्ते इव च कार्यं भवतीत्यर्थ इति । हे३ इत्यत्र सम्बोधने
सन्धेरनित्यता विलम्बेनोच्चार्यत्वादितिह वीजम् ।

अमृता०—२७. शसादय इतिसंज्ञासूत्रम् । यदुश्चंद्रवंशीय राज्ञो ययाते ज्येष्ठपुत्रः ।
धर्मशीलस्य यदोर्वं शे भगवानवततारेति श्रीमद्भागवतमनु सन्धेयम् ।

बाल०—ए-ओ । अत्र सम्बोधने ननु कृष्णायासीत्यादौ कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाले'
इत्यनेन त्रिविक्रमः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह—विष्णुभक्तीति-तदर्थवृत्तत्वादिति कृष्णेत्य-
स्येति शेषः । अतिक्रमो लङ्घनम् अभाव इति फलितार्थः । ननु कृष्ण यासीत्यादौ
बुद्धस्यदर्शनमेव विहितम् अतो गोपालस्य परता नास्तीति कथं त्रिविक्रमो भवतु ? उच्यते
अरामान्तात् परस्य बुद्धस्य सूत्रे प्रत्ययरूपेण निमित्तत्वाभावादस्य हरोऽपि महाहर इति
त्रिविक्रमः स्यात् ॥२६॥

बाल०—रप । समानविष्णुपदे एकविष्णुपदे रामानित्यत्र विष्णुपदान्तत्वान्न णत्वं
कुर्वन्निति । तत्राकरणादिति असिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञासिद्धचर्यमिदं तत्रैव कर्तुं
योग्यमपि, तस्मात् तत्राकरणान्नात्र णत्वम् ।

२८. अत्र पाद-दन्त-मास-यूष-इत्येतेषां पद्-दत्-मास्-यूषन् इत्येते विरिञ्चयो यदुषु वा ।

अत्र पाद-दन्त-मास-यूष-इत्येतेषां पद्-दत्-मास्-यूषन् इत्येते विरिञ्चयो यदुषु वा ।

२९. यथासंख्यमनुदेशः समानाम् ।

कार्याणां कार्याणाञ्च प्रकृतीनां प्रत्ययानाञ्च तुल्यसंख्यानां सतां यद् विधानं तद् यथासंख्यं स्यात् । प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीय-मित्यादि क्रमेणेत्यर्थः ।

प्रयोगाश्च पक्षे विष्णुजनान्तवज्ज्ञेयाः । यथा पदः पादान् पदा पादेन पदभ्यां पादाभ्यामित्यादि ।

अथ धातुस्वरूप आरामान्तो विश्वपा शब्दः ।

विश्वपाः विश्वपौ विश्वपाः । विश्वपास् विश्वपौ । विश्वपा शस्

३०. आरामहरो यदुसर्वेश्वरे नत्वापः ।

विश्वपः । विश्वपा टा, टइत् विश्वपा विश्वपाभ्याम् विश्वपाभिः । विश्वपा डे, डइत् विश्वपे विश्वपाभ्याम् विश्वपाभ्यः ।

अमृता०—२९. यथेति । पदादि विरिञ्चीनां व्युत्क्रमत्वं निरस्यति—यथासंख्यमित्यतिदेशेन । अत्र पादादीनां चतुर्णां प्रकृतीनां पदादयश्चत्वार आदेशाः क्रमेणैव भवन्तीत्यर्थः । इति अरामान्ता व्याख्याताः ।

अथधातुस्वरूप इति क्विवन्तत्वात्; वक्ष्यते च स्वयमेव लुप्त कृत्प्रत्ययस्य (क्विवन्तस्य) धातुत्वेऽपि नामत्वमिति ।

अमृता०—३०. आरामेति । यदुश्चासौ सर्वेश्वरश्चेति यदुसर्वेश्वरस्तस्मिन् परे आरामहरो भवति । किन्तु स्त्रियां विहितस्य आप आरामहरो न भवति । अत्र यदुसर्वेश्वर इत्यनेन यदूनां षोडशप्रत्ययानां मध्ये सर्वेश्वरादौप्रत्यये परे इत्यवगन्तव्यं, प्रत्ययग्रहणे

आद्यन्तेति एकस्मिन् आद्यन्तयोरिव कार्यं भवति । आदावन्ते च यथा तथैवेत्यर्थः । आद्यन्तवदेकस्मिन्नित्यत्र आद्यन्तवदेकमिति पाठः सम्यः । अन्यत्र चानित्यमिष्यते इति सन्धेरनित्यता । महापुरुषत्वं मतमिति हैहेप्रयोगे तु हैहयोरेवानन्त्ययोरपि इत्यनेनेति शेषः ॥२७॥

बाल०—शसा । संज्ञासूत्रमेतत् ॥२८॥

बाल०—अत्र पाद । यथा चात्र पादादयः कार्याणि; पदादयः कार्याणि । अथेति । धातुस्वरूप इति क्विवन्तादिति शेषः ॥२९॥

विश्वपा डसि, इडावितौ विश्वपः विश्वपाभ्याम् विश्वपाभ्यः । विश्वपा
डस्, डइत् विश्वपः विश्वपोः विश्वपाम् । विश्वपाङि, डइत् विश्वपि
विश्वपोः विश्वपासु । सम्बोधने पूर्ववत् हे विश्वपाः इत्यादि । एवं
सोमपाप्रभृतयः । आराम हरविधिर्वा हाहा अब्जादीनामिति क्रम-
दीश्वरादयः । हाहः हाहान् अब्जः अब्जान् । हाहा अब्जा इतिकेचित् ।
एवं अग्रेगाः उदधिकाः ।

इरामान्त हरिशब्दः ।

३१. इउरामान्तो हरिसंज्ञः ।

अग्निर्घिश्च । हरिः ।

३२. हरित औ पूर्वसवर्णः ।

हरित इति पञ्चम्यातस् तद्धितः । हरी ।

तदादि गृह्यत इतिवक्ष्यमाणानुरोधात्, अन्यथाभ्यामित्यादौ चातिव्याप्तिप्रसङ्गः स्यात् ।
नत्वापः किम्—एता लताः पश्य । क्रमदीश्वरादय इति—अत्रेदमाकृतम्,—हाहाहूहूश्चैव-
माद्या गन्धर्वा इत्यमरोक्तिः केचित् हाहा शब्दमव्युत्पन्नं मन्यन्ते । अतस्तन्मते
धातुत्वाभावान्नारामहरः, हाहान् इत्येव । केचित्तु हाइति शब्दं जहातीति व्युत्पत्त्या
धातुत्वस्वीकारेण नित्यमारामहरं कुर्वन्ति, हाह इत्येव । तदेतदुभयमतग्रहणेन सामञ्जस्यं
कृतं क्रमदीश्वरादिभिः । एतद् विकल्पोहि स्वमतम् । केचिदिति वोपदेवादयः । तन्मते
आरामोऽयमुणादिप्रत्ययसम्बन्धीति न तस्य हरः किन्तु शसः सस्य नरामोऽपि न स्यात्,
यावत्सम्भवविधेरस्वीकारात्, हाहा इत्येव । एवमग्रेगा इति—अब्जा अग्रेगा उदधिका
शब्दा औणादिक विप्रत्ययान्ताः । औणादिकानां यथाकथञ्चिद् व्युत्पत्तिरिति रीत्या
केषाञ्चिन्मते शब्दत्वं केषाञ्चिद् धातुत्वं वा मननाद् विभाषेति भावः ।

अमृता०—३१. इउइति । संज्ञासूत्रम् । सर्वाण्यमङ्गलानि हरतीति हरिर्विष्णुः ।
तन्नामाभगवदवतारविशेषश्च । मुक्तप्रग्रहवृत्त्या कृष्णश्च । तत्र प्रेमविशेषदानेन मनो
हरतीतिचार्थो योज्यः । कृष्णादन्यः कोवा लतास्वपि प्रेमदो भवतीति कृष्ण कर्णामृते ।

अमृता०—३२. हरित इति । औ इति लुप्तप्रथमान्तः । हरिसंज्ञकशब्दादुत्तरं औ

बाल०—आराम ! आरामहरविधिर्वेति । क्रमदीश्वरादयः इति यदुक्तं, तदसङ्गत-
मिव प्रतिभाति; क्रमदीश्वरकृतव्याकरणे ईदृशमतादर्शनात् अव्युत्पन्नोऽपि गन्धर्ववाचको
हाहाशब्दोऽस्ति । तस्य हाहानिति भवतीति तु तट्टीकाकारेणोक्तम् । अब्जाशब्दस्य
उल्लेखोपि न दृश्यते इति । हाहा अब्जादयः क्विवन्ता एवमिति हाहाब्जादिवत् एतयोरपि
रूपमित्यर्थः अग्रेगाशब्द उदधिकाशब्दश्च क्विवन्तः ॥३०॥

बाल०—इ उरामान्तो । सुगमम् ॥३१॥

३३. इद्वयस्य ए, उद्वयस्य ओ, ऋद्वयस्य अर्, लृद्वयस्य अल्
गोविन्दसंज्ञः ।

गुणसंज्ञश्च ।

३४. डितो वृष्णिसंज्ञाः ।

वृद्धिसंज्ञाश्च ।

३५. हरे गोविन्दो जसि वृष्णिषु बुद्धे च ।

हरयः । हरि हरी हरीन् ।

३६. हरितष्ठाना नतु लक्ष्म्याम् ।

हरिणा हरिभ्याम् हरिभिः । हरये हरिभ्याम् हरिभ्यः ।

३७. एओभ्यां डसि डसो ररामपरः ।

हरेः हरिभ्याम् हरिभ्यः । हरेः हर्योः हरीणाम् ।

प्रत्ययः पूर्वस्याः प्रकृतेः समानवर्णः स्यात् । औप्रत्ययः क्रमेण इराम उरामश्च स्यादिति फलितम् । तत एकात्मक परत्वात् त्रिविक्रमः हरित इति किम् कृष्णौ ।

अमृता०—३३. इद्वयस्येति संज्ञासूत्रम् । गवामिन्द्रो गांविन्दति वेति गोविन्दः श्रीकृष्णः । गोविन्दमादिपुरुषं तमहंभजामीति ब्रह्मसंहिता ।

अमृता०—३४. डितइतिचसंज्ञासूत्रम् । चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी सप्तमीनामेकवचनं वृष्णिसंज्ञकमित्यर्थः । अत्र डितइति बहुत्व निर्देशेन स्वाद्यधिकार एवास्याः संज्ञायाः पर्याप्तिरिति ज्ञाप्यते । डित्तिर्गुण इति धातुपादे विशेषावगमाच्च । वृष्णिर्यदुवंशीयमधो ज्येष्ठपुत्रः । यदुमधु वृष्णय एते त्रयः कुलप्रवर्तका इति केचित् ।

अमृता०—३५. हरेरिति । जसि वृष्णिषु बुद्धे च परेषु हरिसंज्ञकशब्दस्य गोविन्दो भवति । इरामस्य एरामः, उरामस्य ओराम इत्यर्थः । जसादिषु किम्—अन्यत्र मा भूत्; हरिः हरिभ्याम् हरिषु ।

अमृता०—३६. हरितइति । टेति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी । पुरुषोत्तमान्तस्य हरि-संज्ञकस्य टा स्थाने ना इत्येतदादिश्यते । हरिणा विष्णुना । लक्ष्म्यान्तु न स्यात्—भक्त्या । ब्रह्मान्तस्य तु विशेषो वक्ष्यते ।

अमृता०—३७. एओभ्यामिति । अरामहरइति किम्—डसिडसो हरे कृते तु 'हरे'

बाल०—हरितः । औ इति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी ॥३२॥

बाल०—इद्वयस्य । सुगमम् ॥३३॥

बाल०—डितो । सुगमम् ॥३४॥

बाल०—हरेः । सुगमम् ॥३५॥

बाल०—हरितः । टेति सूत्रवलेन लुप्तषष्ठी ॥३६॥

३८. हरितः डेरौच् ।

चराम इत् । अन्त्यसर्वेश्वरादिवर्णा. संसारसंज्ञाः ।

३९. संसारस्य हरश्चिति ।

डितीति प्राश्नः । हरौ हर्योः हरिषु । हे हरे ।

एवं अग्नि रवि गिरि प्रभृतयः ।

त्रि शब्दो वाच्यलिङ्गो नित्यबहुवचनान्त स्तस्य पुंसि ।

त्रयःत्रीन् त्रिभिः त्रिभ्यः त्रिभ्यः ।

४०. नेस्त्रयो नामि स्वार्थे ।

त्रयाणां, तदन्तत्वेऽपि—परमत्रयाणाम् । अस्वार्थे तु प्रियत्रीणाम् ।

त्रिषु । कतिशब्दोऽपि तद्वत् ।

४१. षणान्त-संख्यातः कतेश्च जस्शसो महाहरः स्वार्थे ।

अत्र आत्यन्तिक लयात् प्रत्ययकार्यं न गोविन्दः । कति कति कतिभिरित्यादि । कतेरिति यति-तत्पौरुषलक्षणं । यति ते नाग शीर्षाणि, तति ते

नाग वेदना इतिप्रयोगात् । एवंपरमकतीत्यादि । अस्वार्थे तु प्रियकतयः ।

अथसखि शब्दः ।

इत्येवं विष्णुसर्गरहितं पदं स्यात् । एओभ्यामिति किम्—रायः ग्लानः । अकृते तु लक्षणे केवलसन्धौ हरयः इत्येवं स्यात् ।

अमृता०—३८. हरित इति । सुगमम् । अन्त्येत्यादि पूर्वोक्तस्यैव स्मारकम् ।

अमृता०—३९. संसारस्येति । चइत् यस्य स चित्, तस्मिन्प्रत्यये परे संसारस्य हरोभवति । चित्करणाभावेतु हर्यो इत्येवमनिष्टं रूपमापद्येत ।

अमृता०—४०. त्रैरिति । नामिप्रत्यये परे स्वार्थे त्रिशब्दस्य त्रय आदिश्यते । ततः कृष्णस्येति त्रिविक्रमः । परमत्रयाणामिति—परमाश्च ते त्रयश्चेति परमत्रयस्तेषाम् । प्रियत्रीणामिति—प्रियास्त्रयो येषामिति पीताम्बर समासेऽन्यपदार्थ प्रधानत्वादस्वार्थतेति भावः । तद्वदिति—वाच्यलिङ्गो नित्य बहुवचनान्त इत्यर्थः ।

अमृता०—४१. षणान्तेति । षश्च णश्च षणौ तौअन्ते यस्याः सा षणान्ता साचासौ संख्या चेति षणान्तसंख्या तस्याः कतेश्च स्वार्थे जस्-शसोर्महाहरः स्यात् । षणान्तेत्यत्र

बाल०—एओभ्याम् । सुगमम् ॥३७॥

बाल०—हरितो पूर्वोक्तमेव संसारसंज्ञासूत्रं पाठकहिताय पुनर्लिखितम् ॥३८॥

बाल०—अन्त्येति टिसंज्ञाश्चेति यदुक्तं, तन्नोचितं प्रयोजनाभावात् ॥३९॥

बाल०—संसारस्य । सुगमम् ॥४०॥

४२. ऋराम-सखिभ्यामुशनस् पुरदंशस् अनेहस् इत्येतेभ्यश्च
सोराच् बुद्धं विना ।

संसारस्य हरः । सखा ।

४३. अद्वयस्य आ, इद्वयस्य ऐ, उद्वयस्य औ, ऋद्वयस्य आर्,
लृद्वयस्य आल् वृष्णीन्द्रसंज्ञः । वृद्धिसंज्ञश्च ।

ए ओ स्थाने ऐ औ च ।

णत्वविधिना मूर्द्धन्य णराम पाठः । नचेह विधानवलात् मूर्द्धन्यणरामान्तस्यैव जस्-शसो-
र्महाहरः स्यान्नतु दन्त्यान्तस्येति वाच्यं, संख्यावाचकेषु मूर्द्धन्यणरामान्तशब्दाभावान्नहि
तत्तुल्यवसरः । णेति अराम उच्चारणार्थः । ननु हरोऽपि महाहर इतियदुक्तं तेनात्रहरे
कृतेऽपि सिध्येत किं महाहरेणेति चेत्तदुच्यते—गोविन्द विधानसूत्रे जसः प्रत्यय रूप निमित्त-
त्वाद् हरत्वं सिध्यति, ततो जसः स्थानिवत्तामङ्गी कृत्य गोविन्दादिकमापद्येत । अतश्च
साधुक्तं महाहरइति ।

सूत्रस्थ कतेरिति पञ्चम्यन्तपदं यति-तति शब्दौ चोपलक्षयति । तदेवाह—कतेरिति ।
स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतर प्रतिपादकत्वमुपलक्षणत्वम् । स्वं ज्ञापयदपरमपि ज्ञापयति
यत् तदुपलक्षणमिति सरलार्थः । परमकतीति तदन्तत्वात् कतिवत् । प्रिय कतय इति—
प्रियाः कति येषामिति विग्रहः ।

अमृता०—४२. ऋरामेति । ऋरामान्त शब्दात् तथा सखि उशनस् पुरदंशस्
अनेहस् शब्देभ्यश्च सुस्थाने आच् आदिश्यते बुद्धं विना । अत्रबुद्धसाहचर्यात् प्रथमैक
वचनस्यैवादेशो बोध्यो नतु सप्तमी बहुत्वस्य । बुद्धंविनेतिकिम्—हेसखे ।

अमृता०—४३. अद्वयस्येति संज्ञासूत्रम् । वृष्णीपुइन्द्रः श्रेष्ठ इति वृष्णीन्द्रः श्री
वासुदेवः । सकृद् विहित संज्ञस्य (गोविन्दस्य) संज्ञान्तराभावमाशङ्क्य तन्निरस्यति—
एओस्थाने ऐऔ चेति ।

बाल०—त्रैल्लयो । स्वार्थे विषये । प्रधानार्थस्य त्रिशब्दस्य त्रयो भवतीत्यर्थः ।
परमत्रयाणामिति परमाश्च ते त्रयश्चेति परमत्रयस्तेषामिति प्रियत्रीणामिति प्रियास्त्रयो
येषामिति विग्रहः । तद्वदिति वाच्यलिङ्गो नित्यत्रहुवचनश्चेत्यर्थः ॥४१॥

बाल०—ष-नान्त । षश्च णश्च ष-णौ ष-णावन्ते यस्याः सा ष-णन्ता ष-णान्ता चासौ
संख्याचेति ष-णान्तसंख्या तस्याः । ष-णेति सौत्रत्वादरामान्तनिर्द्देशः । ननु कतीत्यत्र जसि
वृष्णिषु बुद्धे चेत्यनेन गोविन्दः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह—अत इति । गोविन्दविधान
सूत्रे जस्प्रत्ययरूपेण निमित्तम् अतोऽस्य हरो महाहरो न भवतीति महाहरविधानम् ।
कतेरिति पञ्चम्यन्तं पदं यतितत्योः शब्दयोरुपलक्षणं भवति । तद्यथा स्वं ज्ञापयत् परं
यच्च ज्ञापयत्युपलक्षणमिति अत्र कतेरिति पञ्चम्यन्तं पदं जस् शसोर्महाहरकार्ये सिद्धे
आत्मनः प्राङ्निमित्तत्वं ज्ञापयतीति उपलक्षणमिति करणे कर्तरि वा । टन् प्रत्ययः ।
प्रियकतय इति प्रियाः कति येषामिति विग्रहः ॥४२॥

४४. स्वादयः पञ्च पाण्डवाः ।

घुटः सुटश्च ।

४५. सख्युर्वृष्णीन्द्रः सुवर्जं पाण्डवेषु ।

ऐ आय् । सखायौ सखायः । सखायम् सखायौ सखीन् ।

४६. न सखिर्हरिसंज्ञष्टादौ, पतिस्त्वसमासे ।

सख्या सखिभ्याम् सखिभिः । सख्ये सखिभ्याम् सखिभ्यः ।

४७. ख्य-त्याभ्यां डसिडसोरुस् ।

खिशब्द-खीशब्दयोः तिशब्द-तीशब्दयोः कृतयरामादेशयोरिदं ग्रहणम् ।

सख्युः सखिभ्याम् सखिभ्यः । सख्युः सख्योः सखीनाम् ।

अमृता०—४४. स्वादयइति संज्ञासूत्रम् । पाण्डोस्तन्नाम्नोराज्ञोऽपत्यानि पुमांसः पाण्डवाः-युधिष्ठिर-भीमार्जुन-नकुल-सहदेवाः पञ्च भ्रातरः ।

अमृता०—४५. सख्युरिति । सुवर्जितेषु पाण्डवेषु परेषु सखिशब्दस्य वृष्णीन्द्रो भवेत् । सुवर्जमितिकिम्—असम्बोधन-सो-राच्विहितत्वाद् बुद्धसौ—हेसखे । पाण्डवेष्विति किम्—सखीन् ।

अमृता०—४६. नसखिरिति । टादौ विष्णुभक्तौ परस्यां सखिशब्दो हरि संज्ञो न स्यात् । पतिशब्दष्टादौ परे असमासेसति हरिसंज्ञो नस्यात् समासेतु स्यादेव । यथाश्रुतार्थो व्याख्यातः; विशेष स्तावदेव—तुकारोऽत्र अवधारणे, तुस्याद् भदेऽवधारण इत्यमरः । तेन पतिशब्दएवासमासे हरिसंज्ञो नस्यात् किन्तु सखिशब्दे तदवधारणाभावादसमासे क्वचित् तस्य हरि संज्ञत्वं भवेदेवेति ध्वनितम् । किञ्च निषेधोऽयं सामान्यतो लब्धोऽपि असमस्त-स्यैव सखि शब्दस्य बोध्यः अन्तिकेहि भाष्यादि प्रयोग संग्रहेण समस्त-सखि शब्दस्य हरि संज्ञत्वस्वीकारात् ।

अमृता०—४७. ख्य त्याभ्यामिति । ख्यश्च त्यश्चेति समाहारे ख्यत्वं ताभ्याम् । तत्र वामन-त्रिविक्रमयोः खिखीशब्दयोः तितीशब्दयोश्च कृत यरामादेशयोरिदमनुकरणम् । उभयत्राप्यकार उच्चारणार्थः । तेनमुख्य, अपत्य प्रभृतीनां डसिडसो न उस् ।

बाल०—ऋराम । सुगमम् । सुगममिति व्याख्यापरम् । किन्तु विशेष उच्यते । ननु सोराचित्यत्र बुद्धं विनेत्यनेन बुद्धसंज्ञस्य वर्जनेन प्रथमैकवचनमुसदृशस्य सप्तम्याः सोरपि आच् कथं न स्यादिति कैश्चिदाशङ्क्यते चेत्तत्र एवं व्यक्तव्यं—बुद्धसंज्ञकेन सुना सह झटिति प्रथमबुद्धिग्राह्यस्य प्रथमैकवचन-सोः स्फुरणात्तस्यैवाच् स्यान्नतु सप्तम्याः सोस्तत्र बुद्धचस्फुरणात् ॥४३॥

बाल०—अद्वयस्य । ए ओ स्थाने ऐ औ च वृष्णीन्द्रः संज्ञः ॥४४॥

बाल०—स्वादयः सुगमम् ॥४५॥

बाल०—सख्युः । सुवर्जनस्य प्रयोजनं बुद्ध एवेति ज्ञेयम् ॥४६॥

४८. सखि-पतिभ्यां डे रौ ।

सख्यौ सख्योः सखिषु । हेसखे हेसखायौ हेसखायः । तदन्तत्वेऽपि बहु-
सख्या बहुसख्ये बहुसख्युः बहुसख्यावित्याहुः । पञ्चम्यां सुसखेरागच्छतीति
तु भाष्यादौ । एतद्दृष्ट्यैव सख्युः समासे घिसंज्ञास्तीति प्रक्रियायाम् ।
समास इत्युपलक्षणमिति कृष्णपण्डितः । तेन प्रकृतेः पूर्वत्र बहुप्रत्ययेऽपि
बहुसखेरित्यादि ।

पतिशब्दस्य प्रथमा-द्वितीययो हरिशब्दवत्, तृतीयादौ सखिशब्दवत्,
समासान्तस्य तु हरिशब्दवदेव । यदुपतिना यदुपतये इत्यादि ।
ईरामान्तो दैत्यप्रमीशब्दः । दैत्यान् प्रमीनाति हिनस्तीति विववन्तो
विष्णुवाची ।

दैत्यप्रमीः दैत्यप्रम्यौ दैत्यप्रम्यः । धातुत्वादत्र सर्वत्र सर्वेश्वरे पराम एव
वक्ष्यते, तस्यैवोदाहरणमिदं वातप्रमीभेदज्ञापनार्थमत्रलिखितम् । एव-
मन्यत्रापि ज्ञेयम् । दैत्यप्रम्यस् दैत्यप्रम्यौ दैत्यप्रम्यः । दैत्यप्रम्या दैत्य-
प्रमीभ्याम् दैत्यप्रमीभिः । दैत्यप्रम्ये दैत्यप्रमीभ्याम् दैत्यप्रमीभ्यः । दैत्य-
प्रम्यः दैत्यप्रमीभ्याम् दैत्यप्रमीभ्यः । दैत्यप्रम्यः दैत्यप्रम्योः दैत्यप्रम्याम् ।
दैत्यप्रम्यि दैत्यप्रम्योः दैत्यप्रमीषु । सम्बोधने पूर्ववत् ।

अमृता०—४८. सखीति सुगमम् । तदन्तत्वेऽपीति—सख्यन्तस्यापि सखि शब्दवद्
रूपं केचिदाहुः । बहुसख्येति—“स्वाद्यन्तात् प्राग् बहुर्वा कल्पार्थे” इति बहुप्रत्ययस्तद्धितः,
नायं समस्तः, तत् प्रसङ्गस्याग्रेवक्षमाणत्वात् । सुसखेरिति—सुशोभनः सखा तस्मात् ।
नचात्र “राजाहसखिभ्य” इति समासान्तप्रत्ययः शङ्क्यः, “स्वतिभ्यां नतौप्रत्ययौ पूजाया-
मिति” निषेधात् । भाष्यादावित्यत्र आदिपदेन न्यासादिग्रहणीयः । तन्मते च “ग्रहणवता
प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ती”ति परिभाषया सखिशब्दस्य हरिसंज्ञा स्यात् । यथा हि—
इह द्विविधा घिसंज्ञा अवयवाश्रया समुदायाश्रया च । तत्रयावयवाश्रया (केवलसख्याश्रया)
साप्रतिषिध्यते, यापुनः समुदायाश्रया (समासाश्रया) साच भवत्येव, तस्या अप्रतिषेधादिति
न्यासकारः । तेन समासाश्रित सखिशब्दस्य निषेधाभावाद् हरिसंज्ञत्वं भवेदेव । तस्मात्
साधूक्तं प्रक्रियायाम् । उपलक्षणमिति—समस्ता समस्तयो रुभयोर्ग्रहणमिति कृष्ण-
पण्डितः । (प्रक्रिया कौमुदी टीकाकारः) तच्च स्वसूत्रेऽपि तुशब्देन व्यज्यत इति प्रपञ्चितमेव
तद्व्याख्याप्रसङ्गे । तस्मादेव ‘सखिना वानरेन्द्रण’ “कृष्णस्य सखिरर्जुनः” इत्याद्यपि

बाल०—न सखि । पतिशब्दस्तु टादौ परे असमासे हरिसंज्ञो न भवति समासे तु
भवत्येव इत्यर्थः ॥४७॥

एवं वातप्रमीशब्द ईप्रत्ययान्तत्वात् अमृशस्डिषु विशेष इति केचित् ।
वातप्रमीम् । यावत् सम्भवस्तावद् विधिरिति न्यायेन दशावतारस्येति
त्रिविक्रमे कृते तस्मात् सो नः । वातप्रमीन् । डौवातप्रमी । वातप्रमी
हूहप्रभृते धातुत्वं वेत्यन्ये । वातप्रम्यम् वातप्रमीम्, हूहम् हूहम् ।

उरामान्त विष्णु शब्दः । हरिसूत्रैरेवसाधनम् । विष्णुः विष्णू विष्णवः ।
विष्णुम् विष्णू विष्णून् । विष्णुना विष्णुभ्याम् विष्णुभिः । विष्णवे
विष्णुभ्याम् विष्णुभ्यः । विष्णोः विष्णुभ्याम् विष्णुभ्यः । विष्णोः विष्णवोः
विष्णूनाम् । विष्णौ विष्णवोः विष्णुषु । हेविष्णो ।

चालनी तितउः पुमानित्यमरः । प्रकृतौ सन्धि विनैव सिद्धोऽयमुणादा-
विति प्रकृत्यङ्गयो न सन्धिः । तितउः तितऊ तितअवः इत्यादि ।

कृष्णश्रीः

धातुत्वादिति—लुप्तकृत्प्रत्ययस्य (क्विवन्तस्य) धातुत्वं नामत्वञ्च मन्यन्ते । अत्र—
दैत्यप्रमीशब्दे । यरामएव वक्ष्यत इति—सहजानेक सर्वेश्वरस्येत्यादिना ।

वातं प्रमिमीते इत्यर्थे माङ् ईप्रत्यय औणादिकः । वातमृग इत्यर्थः । केचिदिति—
पाणिन्यादयः । धातुत्वमिति—वातप्रमीवाचरतीत्यर्थे क्विवन्तत्वे बोध्यम् । वेत्यन्य इति—
दैत्यप्रमीवत् अमृशस् डिषु विशेषश्च । हूह शब्दो गन्धर्ववाचकः अव्युत्पन्नः । धातुत्वे
पूर्ववत् क्विवन्तः ।

तितउरिति—प्रकृतौ प्रकृत्यवस्थायां प्रत्यययोगात् प्राक् स्वभावतः सन्धि विनैव
उणादौ । सिद्ध इतिपद साधन कालेऽपि प्रकृत्यङ्गयोः अराम उरामयो न सन्धिरित्यर्थः ।

बाल०—सखि तदन्तत्वेऽपीति बहुसखीत्यादौ पीताम्बरः समासः कर्तव्यः । आहुरिति
पूर्वाचार्याः इति शेषः । एतन्मते सखिशब्दः समासेऽपि हरिसंज्ञो न भवतीत्यर्थः । सुसखेरिति
शोभनः सखा सुसखिस्तस्मादिति स्वतिभ्यां नतौ प्रत्ययौ प्रशंसायामित्यनेन समासान्त
निषेधः । भण्ड्यादिमते समासे हरिसंज्ञो भवतीत्यर्थः । एतद्दृष्ट्यैवेति भण्ड्यादिमत दर्शनेनै-
वेत्यर्थः । भण्ड्यादिमतं दृष्ट्वैव सख्युः समासे घिसंज्ञोऽस्तीति प्रक्रियायां कथितमिति उपल-
क्षणमिति तदन्तत्वमात्रेऽपीत्यस्येति शेषः । अथ वा उपलक्षणमिति समस्तासमस्तयोर्ग्रहण-
मित्यर्थः । तेनिबहुसखेरिति स्यात् सखिना वानरेन्द्रणेत्यपि च । कृष्णपण्डितः प्रक्रिया
टीकाकारः । समासान्तस्येति समासे अन्तस्थित्येत्यर्थः । उदाहरणन्तु यदुपतिनेत्यादि
स्वमतेतु न सखिरित्यत्र सूत्रे नञ्प्रयोगात् सर्वं सिद्धं स्यात् । क्वचिन्नञ् विधेरनित्यमिति
न्यायेनाऽसमासेऽपि सखिना पतिना चेति । पतिना नीयमानायां पुरः शुक्रो न दुष्यतीति
दृश्यतेचान्यत्र । धातुत्वादिति अत्र दैत्यप्रमीशब्दे । तस्यैवेति यराम विधान सूत्रस्यैवेत्यर्थः ।
वातप्रमीति वातप्रमीशब्देन सह भेदज्ञापनार्थमित्यर्थः । भेदस्तु परमतेनेवेति ज्ञेयम् ।

४६. धातोरीदूतोरियुवौ सर्वेश्वरे बहुलम् ।

ईरामस्य इय् ऊरामस्य उव् । प्रत्यय वर्णेन तदादि गृह्यते । ततः सर्वेश्वरादौ विष्णुभक्तावित्यर्थः । एवमन्यत्रापि । एतद्विध सूत्रस्य नामप्रकरणे पाठात् लुप्तकृत्प्रत्ययस्य धातुत्वेऽपि नामत्वम् । ततः प्रत्ययाश्च । कृष्णश्रियः । परत्वादम्शसोरपि कृष्णश्रियमित्यादि ।

भावेक्वपि भूः भुवौ भुवः । बाहुल्यात् न सर्वत्र । यथोक्तम्—क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति । तेन—

अमृता०—४६. धातोरिति । सर्वेश्वरे सर्वेश्वरादौ विष्णुभक्तौ धातोरीराम-ऊरामयोर्यथाक्रमं बहुलं यथास्यात्तथा इय् उवौ भवतः । ननु नामप्रकरणे कथं धातु-सम्बन्धि सूत्रमिदम् । यदि कृष्णश्रीत्यादे धातुत्वं तर्हि तदुत्तरं कथंच स्वादि प्रत्यया इति चेत्तत्राह—एतद्विधेति । लुप्तकृत्प्रत्ययस्य क्ववन्त शब्दस्य यत् धातुत्वं नामत्वञ्चास्ति तदीदृशसूत्रकरणेनैव ज्ञापितमित्यर्थः । ननुकृष्णश्रियं कृष्णश्रिय इत्यत्र दशावतारादम्-शसोररामहरः कथंन प्रवर्तते ? तत्राचष्टे परत्वादिति । पूर्वपरयोः परविधिर्वलवानिति न्यायेन अरामहरं बाधित्वा इय एव भवतीत्यर्थः । सूत्रस्थ बहुलपदग्रहण सार्थक्यं दर्शयति—बाहुल्यादिति । उक्तपूर्वाचार्यैरिति शेषः ।

क्वचिदिति—क्वचिद् विधेः प्रवृत्तिः प्रवर्तनं, क्वचिदप्रवृत्तिर्निवृत्तिः; क्वचिद् विभाषा विकल्पः, क्वचिदन्यदपूर्वमेव; एवं विधानं बहुप्रकारं दृष्ट्वा बाहुलकं चतुर्विधं वदन्ति पूर्वाचार्या इतिशेषः । बहूनर्थान् लाति ददातीति बहुलं, बहुलमेव बाहुलकम् ।

ईप्रत्ययान्तत्वादित पुंसि ईप्रत्ययः कृतः । वातप्रमोव्वतिमृग इत्यमरः । ननु वातप्रमो शब्दस्य शसि त्रिविक्रमस्य किं प्रयोजनिमिति चेत्तत्राह यावदिति । दशावतारस्येति 'दशावतारस्य त्रिविक्रमः शसी'त्यनेनेत्यर्थः । धातुत्वं वेत्यन्य इति धातुत्वे वातप्रम्यमिति हूह्वमिति च हू-हू शब्दोगन्धर्वं वाचकः ननु तितउरित्यादौ सन्धिः कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्राह प्रकृताविति । अयं तितउ शब्दः प्रकृतौ प्रकृत्यवस्थायां स्वभावेन सन्धिं विनैव उणादि सिद्ध इति पदसाधन-कालेऽपि प्रकृत्यङ्गयोररामोरामयो न सन्धिरित्यर्थः ॥४८॥

बाल०—धातो । बहुलमिति क्रिया विपेक्षणम् । प्रत्ययेति प्रत्ययवलेन तदादि प्रत्ययः वर्णादिगृह्यते । प्रत्ययवर्णोऽत्र सर्वेश्वरः । तदादिरित्यत्र सर्वेश्वरादावित्यत्र च पीताम्बर-समासः । एतद्विधेति एतत् प्रकारसूत्रस्येत्यर्थः । विधाविधौ प्रकारे चेति नानार्थवर्गः । लुप्त-कृत्प्रत्ययो यत्र तस्य धातुत्वेऽपि नामत्वं भवति अतस्तस्मात् स्वादिप्रत्यया भवन्ति । ननु कृष्णश्रियं कृष्णश्रिय इत्यत्र 'दशावतारादम्शसोररामहर' इत्यनेनारामहरः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह परत्वादिति । पूर्वापरयोः परविधिर्वलवान् इति न्यायेन अम्-शसोरपि इय् भवतीत्यर्थः । बाहुल्यान्न सर्वत्रेति यदुक्तं तत् पूर्वाचार्यवचनेन दृढयति यथोक्तमिति ।

५०. सहजानेकसर्वेश्वरस्य क्विवन्तस्य केवलधात्वक्षर सत्संगा-
स्पृष्टयोरीदृतो यवौ ।

तत्र कृत्समासे विश्वनीः विश्वन्यो विश्वन्यः इत्यादि । षष्ठी बहुत्वे
विश्वन्याम् ।

५१. नी राधाभ्यां डे राम् ।

विश्वन्याम् विश्वन्योः विश्वनीषु ।

अमृता०—५०. सहजेति । क्विवन्तस्य शब्दस्य ईदृतो रीरामोरामयो यथाक्रमं
यवौभवत इत्यन्वयः । कथम्भूतस्य क्विवन्तस्य ? सहजश्च असौ अनेकश्चेति सहजानेकः,
तादृशः सर्वेश्वरो यस्मिन् तस्य । कथम्भूतयोः ईदृतोः ? केवलञ्च तत्धात्वक्षरञ्चेति
केवलधात्वक्षरं, तस्य सत्सङ्गः केवलधात्वक्षर सत्सङ्गः । तेन अस्पृष्टयोरयुक्तयोरीदृतो-
रित्यर्थः ।

कृत्समासइति—कृद्धिः सह समासे इत्यर्थः । उपेन्द्रोर्यादिव्यन्ताजन्तपूर्वपदानि
कृदन्तेन समस्यन्ते इत्यनेन समासः । तत्र उपेन्द्रैर्यादिभिश्च गतिसमासः, पूर्वपदैस्तु कारक
समासः उपपदसमाश्चेति प्राञ्चः । तत्रकारकसमास उपपदसमासान्तर्गत एवेति कृदन्ते
प्रपञ्चयिष्यते । गतिसमासो विश्वनीः । कारकसमासो वृकभीः । उपपदसमासः कृष्णसेव
इत्यादि । गतिकारकोपपदानां कृद्धिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेरिति तेषां
परिभाषा । ततश्च धातोः कृत्प्रत्ययोत्पत्तिकाले एव विधीयमानो यः समासः स कृत्समास
उच्यते नतु कृदन्तात् सुबुत्पत्तेः पश्चात् समस्तः । अतएवादूरे व्यावृत्ति मुखेन पश्चाद्योगे
विश्वनीरित्यादौ सहजत्वाभावो दर्शितः ।

अमृता०—५१. नीराधाभ्यामिति । नीशब्दात् राधासंज्ञकाच्च परस्य द्विविभक्तेः
आमादेशः स्यात् । प्रधीरितिगतिसमासः । प्रादीनां क्रिया योगे गतिसंज्ञा प्राचामिति
वक्ष्यते । केवलक्विवन्त इति—उपपद-गतिसमासाभ्यां रहित इत्यर्थः । मालीयतीति—
मालामिच्छतीत्यर्थे मालाशब्दात् क्यन् प्रत्यये कृते मालीयधातुः तस्मात् क्विपि यवयो हंरो
बले इति यरामहरे मालीयशब्दो निष्पन्नः । पदकृत्यं दर्शयति—पश्चाद् योगेतु नस्यादित्या-
दिभिः । तत्र कृत्समासत्वाभावादित्येव बीजम् । “गति-कारकोपपदानां कृद्धिः सहसमास

विधेः क्वचित् अप्रवृत्तिर्निवृत्तिः । क्वचित् विभाषा विकल्पः क्वचित् अन्यत् एव अपूव-
विधानम्—एवं क्रमेण विधानं बहुधा बहुप्रकारं समीक्ष्य दृष्ट्वा बाहुलकं बहुलं चतुर्विधं
वदन्ति पूर्वाचार्या इति शेषः । बाहुलकमिति स्वार्थं तद्वितः । बहूनर्थान् लाति ददातीति
बहुलशब्दस्यार्थः ॥४६॥

बाल०—सह । केवलञ्च तत् धात्वक्षरञ्चेति केवलधात्वक्षरम् तस्य सत्सङ्ग-केवल-
धात्वक्षर-सत्सङ्गस्तेनास्पृष्टयोः । विश्वनीरिति 'उपेन्द्रोर्यादिव्यन्ताजन्तपूर्वपदानि कृदन्तेन
समस्यन्ते इत्यनेन समासः ॥५०॥

एवं प्रकृष्टं ध्यायतीति क्विपि निपातात् । प्रधीः प्रध्यौ । केवलक्विवन्ते मालयतीति माली माल्यौ । डौ माल्यि । सहजेति किम्—पश्चाद् योगे तु न स्यात् । विश्वस्य नीः विश्वनीः विश्वनियौ विश्वनियः । आमिडौ च विश्वनियाम् । अनेकेति किम्—नीः नियौ नियः । धात्वक्षर सत्संगास्पृष्टयोरिति किम्—कृष्णप्री कृष्णप्रियौ । कृष्णपटप्रूः कृष्णपटप्रुवौ । केवलेति किम्—इह तु स्यादेव उन्नीः उन्न्यौ उन्न्यः ।

५२. सुधीभुवोरियुवावेव ।

सुधु ध्यायतीति क्विपि निपातनात् । सुधीः सुधियौ सुधियः । कृष्णभूः कृष्णभुवौ कृष्णभुवः ।

५३. वर्षा पुनर्हन् कर-कार-कारान्तो भुवो वएव ।

करएवकारः सोऽपि गृह्यत इति-विस्तरादुभयोरुपादानम् वर्षाभूः वर्षाभुवौ वर्षाभुवः । हन्भूः हन्भुवौ । एवं खलपू प्रभृतयः ।

वचनं प्राक् सुवृत्पत्तेरिति परिभाषया स्वादिविष्णुभक्तियोगात् पूर्वमेव कृत्समासः (गति समासः उपपदसमासो वा) अभिमतः । विश्वस्य नीरिति—इह तु सुवृत्पत्तेः पश्चात् षष्ठी समासत्वात् सहजानेक सवश्वरत्वाभाव इति मम । उन्नीरिति—अत्र केवल धात्वक्षरस्य सत्सङ्गेन नहि स्पृष्टत्वं किन्तु उपेन्द्राक्षर-धात्वक्षरयोर्मिथः सत्संगास्पृष्टत्वमतो यरामएव भवतीत्यर्थः ।

अमृता०—५२. सुधीति । एतयोरियुवौ भवतः । पूर्वसूत्रेण नतुयुवौ इति एवकारेण नियमः सूचितः ।

अमृता०—५३. वर्षेति । वर्षादिभ्य उत्तरस्य भूशब्दस्य व एव नतूव् इत्यपि नियमः । पूर्वलक्षणस्य बाधकमेतत् । विस्तरौ व्याकरण विशेषः । वर्षाभूर्भेकः, इन्द्रगोप कीटो वा । पुनर्भूः पुनर्विवाहः हन्भूः पन्नगो वज्रं वा । करभूः कारभू नखः । काराभूर्वा-सुदेवः, तस्य कंसकारागारे जन्मस्वीकारात् ।

कृष्णमुखीयतीति—कृष्णमुखमिच्छतीत्यर्थे क्यन्, अद्वयस्य ईःक्यति, ततः क्विप् ।

बाल०—नीराधा । केवलेति । मालीयतीति क्यन्नन्तान्मालीयधातोः क्विपि, यवयो-हंरो वले' इति यरामहरे च मालीशब्दो निष्पन्नः । तस्य मालीरित्यादि रूपं । एवं कृष्ण-सुखीरित्यादि । विश्वस्यनीय विश्वनोरीति षष्ठीकृष्णपुरुषः । उन्नीरिति अत्र ईत् केवलधात्व-क्षरस्य सत्सङ्गेन न स्पृष्टः । किन्तु उपाक्षर धात्वक्षरयोः सत्सङ्गेन स्पृष्टः अतोऽत्र भवत्येव ॥५१॥

बाल०—सुधी । एतयोरियुवावेव न-तु य-वौ । नियमसूचनार्थमेव शब्दो-पादानम् ॥५२॥

कृष्णसुखीयतीति कृष्णसुखीः कृष्णसुख्यौ कृष्णसुख्यः । अनन्तोयतीति
अनन्तोः अनन्तौ अनन्त्यः । ख्यत्याभ्यामिति त्रिविक्रमग्रहणात् डसि-
ङ्सोरुस् । कृष्णसुख्युः अनन्त्युः । नरामादेशस्य तराम स्थानिवत्त्वात्
लून्युः । कृष्णसुख्यः इत्याद्येके ।

अथ ऋरामान्ताः । तत्रपितृशब्दः ।

ऋराम-सखिभ्यात्यादि पिता ।

५४. ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौच ।

पितरौ पितरः । पितरम् पितरौ पितृन् । पित्रा पितृभ्याम् पितृभिः ।

पित्रे पितृभ्याम् पितृभ्यः ।

य-वयो हरो वले इत्येनेन फलमाह—ङसि-ङ्सोरुस् । लून्युरिति—लूञ्छेदने धातोः क्तप्रत्य-
यन “हरिमित्रयुगि” त्यादिना क्तस्थाने नादेशे लून शब्दः । ततो लूनमिच्छतीति वाक्ये
क्यन्, अद्वयस्य ईः क्यनीति लूनीय धातुः । ततः क्वपि यरामहरे क्विप्लोपे च लूनी
शब्दाद्ङसि प्रत्यये सन्धिना यरामे जाते “आदेशः स्थानिवत् क्वचिदिति” न्यायेन नरामा-
देशस्य स्थानिनं तरामं विद्यमानं मत्वा स्वय-ताभ्यां डसिङ्सोरुस् प्रवर्तत इति विशदः
केचिदिति तन्मते ख्य-त्याभ्यामिति उसन्प्राप्नोति । इति ऋरामान्ताः ।

अमृता०—५४. ऋरामस्येति सरलम् ।

बाल०—वर्षा । वर्षादिभ्यः परस्य भूशब्दस्य व एव भवति न तूव् । पूर्वलक्षणे
प्राप्तमुवं बाधित्वा व एव भवतीत्यर्थः । तनु व्याकरणान्तरे कारशब्द एव गृहीस्तर्हि कथं
करशब्दोपादानं कृतमिति चेत्तत्राह करएवति । सूत्रे यः गृह्यते इति विस्तरार्थः । विस्तरौ
व्याकरणविशेषः वर्षाभू भेकादौ । पुनर्भूद्विह्वलाम् । दृन्निति हिंसार्थेऽव्ययं हिंसाया
भवतीति दृन्भूः दृन्शब्दस्तवर्गान्तः । दृन्भूः पञ्चगोत्रेवज्जे च । करभूः कारभूश्च नखे ।
काराभूः काराजाते कारा निगडबन्धनस्थानम् कारा स्याद् बन्धनालये इत्यमरः । ख्यत्या-
भ्यामितीति । ख्यत्याभ्यां डसि ङ्सोरुसित्यत्र खीशब्द तीशब्दयोश्च कृतयरामादेशयोर्ग्रहणा-
दित्यर्थः । लून्युरिति लूनमिच्छतीति क्यन् । उक्तार्था नामप्रयोग इति न्यायेन इच्छतेरप्रयोगः ।
अन्तरङ्ग स्वादे महाहर एकपदत्वारम्भे इति अमो महाहरः । अद्वयस्य ई क्यनीति
अरास्येरामः । ततो लूनीयधातोः क्विप् यवयहरोवले इत्येनेन यलुक् ततो लूनीशब्दात्
ङसि इरामस्ययरमः ततोऽस्य लरामरूपादेशस्य तराम रूपस्थानिवत्त्वात् ख्य-त्याभ्यामित्यया-
दिनाङ्सोरुस् । नरामस्य तरामस्थानिवत्त्वम् स्थान्यादेशः स्थानिवदिति न्यायेन इतिज्ञेयम् ।
लूनशब्दः क्तान्तः कृष्णसुख्य इत्येक इति तन्मते उसन् न भवति ॥५३॥

बाल०—ऋरामस्य सुगमम् । ऋराम । पितुरित्यत्र संसारस्य हरश्चितीति ऋराम-
हरः । बुद्धे गोविन्द इति ऋरामस्येत्यादिनेति शेषः ॥५४॥

५५. ऋरामतो डसि डसोरस्य उच् ।

पितुः पितृभ्याम् पितृभ्यः । पितुः पित्रोः पितृणाम् । पितरि पित्रोः
पितृषु । बुद्धे गोविन्दः ।

५६. राधा-विष्णुजनाभ्यामीपश्च त्रिविक्रमात् सोर्हरः ।

हेपितः । एवं जामातृ प्रभृतयः ।

नृशब्दः । ना नरौ नरः । नरम् नरौ नृन् । चा नृभ्याम् नृभिः । नृशब्दस्य
तु वा नृणाम् नृणाम् ।

कर्त्तृ शब्दस्य भेदः । कर्त्ता ।

५७. स्वसृ तृल् तृन् प्रत्ययान्तानां वृष्णीन्द्रः सुवर्जं पाण्डवेषु ।

कर्त्तारौ कर्त्तारः । कर्त्तारम् कर्त्तारौ । यदुषु पितृवत् । हेकर्त्तः । लेष्टृ ।
लेष्टा लेष्टारौ लेष्टारः । लेष्टारम् लेष्टारौ । हरिमित्रादिरेवायम् । हरि-
वेष्वादि स्त्वपपाठः ।

अमृता०—५५. ऋरामत इति । चित् करणेन संसारस्य (ऋरामस्य) हरः ।
अस्येति किम्? डसिडसोरुच् कृते पितु इत्येवं विष्णु सर्गरहितं रूपं स्यात् । बुद्धेगोविन्दइति—
ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौ चेत्यस्यैव प्रतीक ग्रहणं स्मरणार्थम् । एवमग्रेऽप्यनु-
सन्धेयम् ।

अमृता०—५६. राधेति । राधा आवन्त स्त्रीलिङ्गशब्दः विष्णुजनश्च ताभ्यां,
त्रिविक्रमादीपः ईवन्ताच्च सोर्हरः स्यात् । त्रिविक्रमादिति ईपो विशेषणम् । येन वामना-
दीपः सोर्हरो न—अतिस्त्रिरित्यादौ । कर्त्तृ शब्दस्य भेदः सुवर्जं पाण्डवेष्विति शेषः ।

अमृता०—५७. स्वसृइति । तृल् च तृन् च तृल्लतृनौ, तौच तौप्रत्ययौ च तृल्लतृन्
प्रत्ययौ, तौअन्ते येषां ते तृल्लतृन् प्रत्ययान्ताश्चेति तथा तेषां सुवर्जं बुद्धवर्जं पाण्डवेषु
वृष्णीन्द्रः स्यात् । स्वसृ शब्दस्य तृल्लतृनन्तत्वाभावात् पृथगुपादानम् । तृल्लन्त-तृनन्त
शब्दयो रूपभेदाभावेऽपि प्रयोगभेदात् प्रथक् ग्रहणम् । तृल्लन्तयोगे षष्ठी, तृनन्तयोगेतु
द्वितीयेति कारक प्रकरणे व्यक्तीभविष्यति । सुवर्जमिति किम्—बुद्धे तु गोविन्द एव—
हेकर्त्तः ।

हरिमित्रादिर्लरामादिः । हरिवेष्वादिः तवर्गान्तादिः । के तावत् तृल्लतृनन्ता
इत्यपेक्षायांपद्यमाह—लेष्टृइत्यादि । लेष्टृत्वष्टृशब्दौ तृल्लन्तौ मतौ, मित्रादीन् वर्जयित्वा
तृशब्दान्ताश्च तृल्लतृनन्ता बुद्धौ मताः । लेष्टृत्वष्टृ शब्दयो स्तृल्लन्तत्वेऽपि पृथगुपादानं

बाल०—सुममम् ॥५५॥

बाल०—सुगमम् ॥५६॥

लेष्टृ त्वष्टृ तृशब्दान्तास्तृलृत्तृन्ता बुधैर्मताः ।

पितृ मातृ भ्रातृ यातृ जामातृ दुहितृ बिना ।

५८. क्रोष्टु शब्दस्य पाण्डवेषु तृलृप्रत्ययान्तस्येवरूपं बुद्धं बिना,
टादिसर्वेश्वरे तु विकल्पः ।

क्रोष्टा क्रोष्टारौ क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् क्रोष्टारौ क्रोष्टन् । क्रोष्टा क्रोष्टुना
क्रोष्टुभ्याम् क्रोष्टुभिः । क्रोष्ट्रे क्रोष्टवे इत्यादि ।

कृतेऽप्यकृते यः स्यात् सनित्यः, नित्यस्य बलवत्त्वात् पूर्वन्त्वामि नुडेव —
क्रोष्टूनाम्, क्रोष्टूणामित्येके । हे क्रोष्टो । लक्ष्म्यान्तु क्रोष्ट्री ।

ऐरामान्तः कृष्णरं शब्दः ।

तृशब्दान्तत्वाभावादप्राप्ते विध्यर्थम् । पित्रादीनाञ्च तृलृत्तृन्तत्वेऽपि विशेषेण ग्रहणं
नियमार्थम् । तेन संज्ञाशब्देषु पित्रादीनामेव वृष्णीन्द्रनिषेधो न त्वन्येषाम् ।

अमृता०—५८. क्रोष्टृति । बुद्धं बिना पाण्डवेषु परेषु क्रोष्टुशब्दस्य तृलृ प्रत्ययान्तस्यैव
रूपं स्यात्, टादौ तु विकल्पेन भवति । तत्र पक्षे उरामान्त विष्णुशब्दवत् । ननु आमि
तृलृप्रत्ययान्तवद् रूप पक्षे क्रोष्टूणामिति भवितुमर्हतीति चेत्तत्र सिद्धान्तमाह—कृतेऽपीति ।
तृलृप्रत्ययान्तस्यैव रूपे कृतेऽपि नुट् स्यादेव । अतो नुटो नित्यत्वाद् बलवत्त्वम् । तेनादेशात्
पूर्वमेव नुडुत्पत्तेः सर्वेश्वरपरत्वाभावाच्च ऋभावः, क्रोष्टूणामित्येव भवतीत्यर्थः लक्ष्म्यान्तु
नित्यं ऋरामादेशे क्रोष्ट्रीति निपातनात् सिद्धम् । इति ऋरामान्ताः ।

प्रकृतिवदनुकरणमित्यतिदेशात् (वार्त्तिकात्) कृतप्रभृतेरनुकरणे—कृः कौकः । कृम् कौ
कृन् । का क्रे इत्यादयः । एवमन्येषामपि ज्ञेयम् । गम्लृ शक्लृ अनयोरनुकरणे—गम्लृः
गम्लौ गम्लः । गम्लृम् गम्लौ गम्लन् । गम्ला गम्ले इत्यादयः । देवृ सेवृ अनयोः क्विपि—
देः दयौ दयः । एओभ्यां डसिडसो ररामहरः—देः । एवं सेः सयौ सय इत्यादयः ।

किञ्च अस्यापत्यं पुमान् इः । अस्यस्त्रीः ईः । तेनतया वा वर्त्तमान इतिपीताम्बर
समासे सेशब्द स्तस्य पुंसि—सेः सयौ सय इत्यादि । डसिडसोः सेः । इत्येयरामान्ताः ।

बाल०—राधा । त्रिविक्रमादिति ईपोविशेषणम् कर्तृ शब्दस्येति भेदोवर्ततइति शेषः ।
सुवर्ज पाण्डवेषु वृष्णीन्द्रो भवतीति भेदः ॥१७॥

बाल०—स्वम् । तृलृ च तृन् च तृलृतृणौ । तृलृतृणौ च तौ प्रत्ययौ चेति तृलृ तृन्प्रत्य-
यौ । स्वसा च तृलृ तृन्प्रत्ययौ च स्वसृ-तृलृ तृन्प्रत्ययास्तेषाम् । हरीति । हरिमित्रादिलरा-
मादिः । हरिवेष्वादिस्त्वर्गान्तादि केवलयोस्तृलृ तृणोरसम्भात् तदन्ता एव गृह्यन्ते ।
तदन्ता एव के इत्यपेक्षयां पद्यमाह लेष्टृति लेष्टृत्वदृशब्दौ पित्रादीन् वर्जयित्वा
तृशब्दान्ताञ्च बुधैः पण्डितै तृलृतृन्ता मता इत्यर्थः ॥१८॥

५८. राय आ स्भोः ।

कृष्णराः कृष्णरायो कृष्णरायः । कृष्णरायमित्यादि ।

एवं रैशब्दश्च । नेह तद्धिते-रैत्वम्, क्यनि-रैयति । पाणिनीयेऽपि रायो-हलीत्यत्र विष्णुभक्त्यनुवृत्तेः ।

ओरामान्तो गोशब्दो बलीवर्दादिषु पुलिङ्गः ।

६०. ओ औ पाण्डवेषु ।

गोः गावो गावः ।

६१. ओआ अमृशसो न च सोनः ।

अन्यथा वातप्रमीनिति वत् गा इत्यत्र सो नः स्यात् । गाम् गावौ गाः । गवा गोभ्याम् गोभिः । गवे गोभ्याम् गोभ्यः । एओभ्यां डसि डसोरित्यादिना अरामहरः । गोः गोभ्याम् गोभ्यः । गोः गवोः गवामित्यादि ।

अमृता०—५८. रायइति । एकवर्णविधिरन्ते प्रवर्त्तते इतिन्यायेन रैशब्दस्य ऐरामस्य स्थाने आरामो भवति स्भोः परयोः । रैत्वं रैयतीत्युभयत्र आरामो न, स्भोः परत्वाभावात् । आचर्यमत दर्शनेन स्वमतं द्रढयति—पाणिनीयेऽपीति । विष्णुभक्त्यनुवृत्तेः विष्णुजनादि विष्णुभक्तावित्यर्थत्वात् स्भोरेव परत्वमायाति, तासु अन्यविष्णुजनत्वाभावादिति भावः ।

अमृता०—६०. ओऔ इति सुगमम् ।

अमृता०—६१. ओआ इति । अन्यथेति निषेधं विनेत्यर्थः । यावत् सम्भवस्तावद् विधिरिति न्यायेन त्रिविक्रमात् सो नः स्यादिति भावः । ननु गोशब्दस्य बुद्धे एओवामनेभ्य इति बुद्धस्यादर्शनं कथं न स्यात्तत्राह—सर्वेति । सर्वविधिभ्यो हरविधि बलवान् हरादपि सर्वेश्वरादेशो बलवानिति परिभाषया सोहरो न भवति । अपि च अन्तरङ्ग-वहिरङ्गयो

बाल०—क्रोष्टु । टादि बुद्धिं विना पाण्डवेषु परेषु क्रोष्टुशब्दस्य तृत्प्रत्ययान्तस्यैव रूपं भवति । टादिसर्वेश्वरे तु परे तृत्प्रत्ययान्तस्यैव रूपस्य विकल्पः । स तु क्रोष्टु शब्दस्यापि क्रोष्टृणामित्यपि कथं न स्यादिति चेत्तत्राह कृतेऽपि नुटः प्राप्तिरतो नुटो नित्यत्वं, अतो बलवत्त्वञ्च । अतः प्रथमं नुडेव । अतः क्रोष्टृणामित्येव भवति लक्ष्म्यां तु क्रोष्ट्री निपातनात् इति शेषः ॥५८॥

बाल०—रायः । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्त्तते इति न्यायेन रैशब्दस्य ऐरामस्य स्थाने आरामो भवति स्भोः परयोः । रैत्वमित्यत्र रैयतीत्यत्र च आरामो न भवति स्भोः परत्वाभावात् । रायो हलीति पाणिनीयसूत्रेऽपि विभक्त्यनुवृत्तेर्हेतोः रैत्यमित्यादौ न भवतीति ॥६०॥

सर्वविधिभ्यो हरो हरात् सर्वेश्वरादेशो बलवान् ।
 अन्तरङ्गेत्यादि च विधानसामर्थ्यात् न सोर्हरः—हेगौः ।
 औरामान्तो ग्लौशब्दः ।
 ग्लौः ग्लावौ ग्लाव इत्यादि ।

॥ इति सर्वेश्वरान्ताः पुंलिङ्गाः ॥

रन्तरङ्गविधिर्वलवानिति परिभाषाप्यत्र प्रवर्तते । प्रकृत्याश्रितत्वादौरामविधानस्या-
 न्तरङ्गत्वम् । हरविधेः प्रत्ययाश्रितत्वाद् बहिरङ्गत्वमिति । तेन च न सोर्हर इत्यर्थः ।
 इत्योरामान्ताः । ग्लौशब्दश्चन्द्रवाची । साधनन्तु सरलम् ।

॥ इति व्याख्याताः सर्वेश्वरान्तपुंलिङ्गाः ॥

बाल०—ओ औ सुगमम् ॥६१॥

बाल०—ओ आ अन्यथेति सरामस्य स्थाने नरामत्य निषेधं विनेत्यर्थः । सो नरामो
 न स्यात् अपि तु स्यादेवेति निषेधविधानम् सोनः स्यादिति पाठान्तरम् ॥

ननु गोशब्दस्य बुद्धे ए ओ वामनेभ्य इत्यादिना बुद्धस्य हरः कस्मान्न स्यादिति चेत्-
 त्राह सर्वेति । सर्वविधिभ्यो हरो बलवान्, हरात् सर्वेश्वरादेशो बलवान् इत्यस्ति, अतो
 विधानस्य औरामविधानस्य सामर्थ्यात् बलवत्वात् प्रथमम् औरामः अतो न सोर्हरः ।
 प्रकृत्याश्रितत्वादौरामविधानस्यान्तरङ्गत्वम् । ग्लौशब्दश्चन्द्रवाचकः ॥६२॥

॥*॥ इति सर्वेश्वरान्तपुंलिङ्गाः ॥*॥



अथ सर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

६२. तत्रावन्तलक्ष्मी राधासंज्ञा ।

श्रद्धासंज्ञा च । तत्रराधाशब्दः ।

राधाविष्णुजनाभ्यामिति राधा ।

६३. राधा-ब्रह्मभ्यामौ ई ।

अद्वयमिद्वये ए राधे राधाः ।

६४. राधाया एःटौसो वृद्धे च ।

एअय् राधया राधाभ्याम् राधाभिः ।

६५. राधातो याप् वृष्णिषु ।

एद्वये ऐ । राधायै राधाभ्याम् राधाभ्यः । राधायाः राधाभ्याम्
राधाभ्यः । राधायाः राधयोः राधानाम् ।

अमृता०—६२. तत्रेति संज्ञासूत्रम् । याधयति सर्वथा पूरयति कृष्णवाञ्छामिति
राधा । राधसंसिद्धावितिधातोः स्त्रियामाप् ।

अमृता०—६३. राधेति सुगमम् । राधे इत्यत्र त्रिविक्रम ईविधानफलाभावेऽपि
दधिनी मधुनीत्यादौ हि तत्साफल्यं ज्ञेयम् ।

अमृता०—६४. राधायाइति । एकवर्णविधिरन्ते प्रवर्तत इत्यनेन राधासंज्ञक
शब्दस्य आरामस्थाने एरामो भवति टाओस् प्रत्यययो वृद्धे च । ननु राधाया इति
सामान्य निर्देशात् पञ्चमीग्रहणेन राधाया उत्तरमेराम इत्येवं व्याख्यायताम् । मैवम्, तर्हि
तृतीयैकत्वे राधाया इत्यनिष्टरूपं स्यात् । किञ्च एवम्भूत सन्देहस्थले स्वयं ग्रन्थकृद्भिरेव
पञ्चम्यां तस् प्रत्ययेनैव निर्देशः कृत इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

अमृता०—६५. राधात इति । वृष्णिषु परेषु राधासंज्ञकशब्दादुत्तरं याप् इत्यागमः
स्यात् । अन्त विष्णुजनश्चेत्यनेन यापः पराम इत् । ननु सप्तम्येकत्वे “नीराधाभ्यां
ङेरामि”त्यनेन आमि कृते वामनगोपीत्यादिना नुट् कथं न स्यात्तत्राह—लाक्षणिकेति ।

॥ अथ सर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

बाल०—तत्र । सुगमम् ॥६२॥

बाल०—राधा । सुगमम् ॥६३॥

बाल०—राधाया । राधाया आराम एरामो भवति ॥६४॥

बाल०—राधातो । ननु राधायामित्यत्र नी-राधाभ्यामित्यादिना ङेरामि कृते
‘वामन-गोपी’ त्यादिना नुट् न स्यादिति चेत्तत्राह—लाक्षणिकेति । ननु राधाशब्दस्य वृद्धे
‘राधा-विष्णुजनाभ्यामि’त्यादिना सोर्हरः कस्मान्न स्यादिति चेत्तत्राह—अन्तरंगेति ।

डेराय्, लाक्षणिकप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवग्रहणमिति न नुद् ।
राधायाम् राधयोः राधासु । सम्बोधने — प्रकृत्याश्रितं प्रकृतावपि पूर्व-
पूर्वमन्तरङ्गं, प्रकृतेर्वहिराश्रितं वहिरङ्गं, स्वल्पाश्रितमन्तरङ्गं,
बद्धाश्रितं वहिरङ्गम् । अन्तरङ्ग-वहिरङ्गयो रन्तरङ्गो विधि
बलवानिति न्यायेन प्रथममेत्वे कृते एओवामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनमिति हे
राधे । एवं रमा रामा श्रद्धा मालादयः, अम्बादयश्च । लक्ष्मीग्रहणान्तेह
राधासंज्ञा — समासे वामनो वक्ष्यते — प्रियराधाय कृष्णाय ।

६६. अम्बादीनां गोप्याश्च वामनो बुद्धे ।

हे अम्ब हेअक्क हेअल्ल हेअप्प हेअव्व । एत एवाम्बादयः । नेह —
हेअम्बाडे हेअम्बाले हेअम्बिके इत्यादि ।

अथ जरा ।

अत्रआम् न स्वाभाविकं किन्तु डिस्थाने विहितमिति लाक्षणिकत्वान्ननुद् । ननु राधा
शब्दस्य बुद्धे “राधायाम् ए” इत्यादिना एरामे कृते नकृतेऽपि सोर्हरः सिध्यति, तस्मात्तस्य
नित्यत्वात् प्रथमतएव “राधाविष्णुजनाभ्यामि” इत्यादिना सोर्हरः क्रियताम्, कथं एराम-
विधानात् परमिति चेत्तदुच्यते — मातृवत् परिभाषा हि नेष्टं विरुध्यते; तस्मादिष्टपदसाधनाय
तदनुकूले प्रकारान्तरपरिभाषामुपन्यस्यति — प्रकृत्याश्रितमित्यादिभिर्ग्रन्थैः । प्रकृत्याश्रितं
विधानमन्तरङ्गम् । ननु पूर्वपरयो रित्यनेन परस्य बलवत्ता । प्रकृतेर्वहिराश्रितं प्रत्यया-
श्रितं विष्णवाश्रितं वा । इह एवविधानस्य प्रकृताश्रितत्वात् स्वल्पाश्रितत्वाच्च अन्तरङ्गत्वम् ।
राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादिना सु-हरविधेः प्रत्ययाश्रितत्वाच्च वहिरङ्गत्वम् । अतएवास्य
दुर्बलत्वम् । प्रकृतावपि पूर्वपूर्वमन्तरङ्गमग्रेऽनुसन्धेयम् ।

राधासंज्ञायां लक्ष्मीशब्दनिवेशफलं दर्शयति — प्रियराधायेति । प्रिया राधा यस्य
सप्रियराधस्तस्मै । अत्र पीताम्बर समासे राधा पदस्याप्रधानत्वाद् “गोरीप आप ऊडश्वा-
न्तस्याप्रधानस्य वामन” इत्यनेन वामनः । अन्तर्भूतावन्तोऽपि प्रियराध शब्दः पुंवाची,
ततएव लक्ष्मीत्वाभावान्न हि राधासंज्ञेत्यर्थः ।

अमृता० — ६६. अम्बादीनामिति । ईकूलक्ष्मीर्गोपीसंज्ञेति वक्ष्यते । अम्बादिशब्दा
मातृवाचकाः । एषां बुद्धेवामनः स्यात् । नेहेति अम्बाडादित्रयो मातृवाचिनोऽपि न
ह्यम्बादिगणपातिनः; “डलकवतीनां प्रतिपेधो वक्तव्य” इतिभाष्यवचनात् ।

अन्तरंगेत्यादि न्यायेन प्रथमं ‘राधायाम् ए’ टीसौबुद्धे चेत्यनेन एत्वमेव । ततो बुद्धादर्शन-
मिति । नत्वन्तरंगविधिर्वा को वहिरंगो वा क इत्यपेक्षायामाह, — प्रकृत्याश्रितमिति
प्रकृत्याश्रितमित्यादेर्विधानमिति विशेष्यम् । पुंस्त्वनिर्देशस्तु सभ्यः । अन्तरङ्गविधेर्बलवान्
इत्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रकृत्याश्रितमन्तरंगं प्रकृतावपि पूर्वमन्तरङ्गमिति । अत्र एत्व-

६७, जराया जरस् वा सर्वेश्वरे ।

जरा जरसौ जरे जरसी इति केचित् । जरसः जराः । जरसम् जरामित्यादि । एवमरामान्त निजरशब्दस्यापि जरेति भागस्य विकल्पेनादेशो ज्ञेयः ।

वर्णेनविधौ तदन्तस्य कार्यं स्यान्नाम्नातु क्वचिदिति निर्दिश्य माना-
नामादेशिनामादेशा इति । एकदेशविकृतमनन्यवदिति च न्यायेभ्यः ।
निर्जरसौ निर्जरौ, निर्जरसः निर्जराः इत्यादि । निर्जरेण निर्जरसा,

अमृता०—६७. जरायाइति । सर्वेश्वरादिविष्णुभक्तौ जरा शब्दस्य जरस् वा
आदिश्यते । जरसीति केचिदिति—तन्मते प्रथममेव लिङ्गोचित कार्यम् औईः, ततो
जरसादेशः । एवमिति—प्रसङ्गादरामात् निर्जर शब्दस्यापीदृशादेशज्ञापनार्थं स्त्रीलिङ्ग
प्रकरणे निर्देशो बोध्यः । निर्जरोदेवः पुल्लिङ्गएव । तादृशादेशस्य सङ्गतिकरणे हेतुमाह—
वर्णेनेत्यादि । विधौ विधानसूत्रे येन वर्णेन यत् कार्यं विधीयते तत्कार्यं तदन्तस्य
तद्वर्णान्तस्यापि भवति । यथा—एओ वामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनमिति एरामान्ता
ओरामान्तात् वामनाच्च बुद्धादर्शनम्—हेहरे हेविष्णो हेकृष्ण । पुनर्विधौ येननाम्ना निर्देशो
यत् कार्यं क्रियते तत्तु तन्नामान्तस्य भवति क्वचिन्नतु सर्वत्रेति न्यायार्थः । स (वर्णः) ए
तत् (नाम एव वा) अन्तस्तदन्तः तस्य । इह जराशब्दनिर्देशेन यो जरसादेशो विहितः
च जरान्तस्य निर्जरशब्दस्यापि स्यादिति फलितम् । क्वचिद्ग्रहणफलमग्रे दर्शयिष्यते
तत्रचादेशे क्रियमाणे एक वर्णत्वाभावात् सोपेन्द्रस्य समग्रनिर्जर शब्दस्य जरसादेशो प्राप्य
द्वितीयन्यायमाचष्टे—निर्दिश्यमानानामिति । आदेश एषामस्तीति आदेशिन स्तेषाम्

विधानस्य प्रकृत्याश्रितत्वात् स्वल्पाश्रितत्वाच्च अन्तरङ्गत्वम् । राधाया ए भवतीति
स्वल्पाश्रितत्वम् । सु-हरविधानस्य प्रकृतेर्वहिराश्रितत्वात् बह्वाश्रितत्वाच्च बहिरङ्गत्वम्
राधादिभ्यः परस्य सोर्हरो भवतीति बह्वाश्रितत्वम् । प्रकृतावपि पूर्वं पूर्वमिति तु स्थानान्त
बोद्धव्यम् । प्रियराधायेति प्रिया राधा यस्य तस्मै 'गोरीप आप ऊडश्चान्तस्याप्रधानं
वामन' इत्यनेन वामनः ।

अम्बा । ई-ऊ-लक्ष्मीर्गोपीसंज्ञा । अम्बादयः षट्शब्दा अम्बावाचकाः । नाट्योत्त
माता अम्बा कथ्यते । अम्बाडादयोऽपि त्रयः शब्दा अम्बावाचका एव किन्त्वेषामम्बादि
नास्ति, एते एवेति नियमात् ॥६५-६६॥

बाल०—जरा । एवमिति आदेशो भवतीति ज्ञापनार्थं स्त्रीलिङ्गप्रकरणे
रामान्तस्योल्लेखः कृत इति ज्ञेयम् । निर्जरशब्दस्यापि जराया इत्यादिना जरेति भाग
विकल्पेनादेशो भवतीत्यत्र हेतुमाह वर्णेनेत्यादि । तत्र वर्णेनेति विधौ विधाने सूत्रे
वर्णेन यत् कार्यं विधीयते, तत् कार्यं तद्वर्णान्तस्यापि भवतीति सर्वत्र । येन नाम
यद्विधीयते, तत्तन्नामान्तस्यापि भवतीति तु क्वचिदिति न्यायार्थः । तदन्तस्येत्यत्र सर्व

निर्जरसिन इत्येके । निर्जरैः निर्जरसैः । निर्जरात् निर्जरसः । निर्जरसादिति केचित् ।

विश्वपा पुरुषोत्तम विश्वपा शब्दवत् ।

६८. अत्र निशा-नासिकयो निश्नसावादेशो यदुषु वा वाच्यो ।

प्रयोगाश्च पक्षे विष्णुजनान्तवज्जेयाः । यथा—निशः निशा निज्भ्यामित्यादि ।

इरामान्तो भक्तिशब्दः । तस्य पाण्डवेषु हरिशब्दवत् । शसि भक्तीः ।

पुंसीति विशेषणान्नरामो नस्यात् । नतु लक्ष्म्यामिति न नादेशः ।

भवत्या भक्तिभ्याम् भक्तिभिः ।

सूत्रादिषु आदेशिनो यावन्निर्दिश्यन्ते अतिदिश्यमान शब्दानां तावत्-स्थानेष्वेव तदादेशा-भवन्ति नतु समग्रातिदेश-शब्दस्थाने । इह निर्दिश्यमान आदेशी जराशब्दः; तस्यादेशो जरस् सचादेशः अतिदिश्यमान-निर्जर शब्दस्य जर-भागस्य स्थाने हि भवति नतु निर्जरेति समग्र स्थाने । अन्यथा निर्जर शब्दस्यापि जरसौ इत्येवं रूपमाद्येत । अथ तत्रापि आरामान्तस्य जराशब्दस्यायमादेशः कथमरान्त निर्जरशब्दे प्रयुज्यत इत्याशङ्कायांतृतीय-माह—एक देशेति । व्याख्यात एष प्रागेव । आरामरूपस्यैकाङ्गस्य विकृतत्वेऽपि न तस्मादन्य इतीह नादेशबाधः । निर्जरसिन इत्येक इति पञ्चनाभादयः । अत्र कृष्णात् टा इत्वं कृत्वा पश्चाद् जरसादेशः क्रियते । तथैव निर्जर सादित्यत्रापि कृष्णात् ङसेरात् इत्यनन्तरमादेशः । तत्तन्मते अकारान्ताधिकार कार्यस्य बलवत्त्वात् । एके केचिदिति पदद्वयेन तत्र तत्र स्वमतानैक्यं व्यञ्जितम् ।

नचैवं स्वमतेऽपि निर्जरसैरित्यत्र अरामान्तस्य कार्यविशेषमग्रेकृत्वैव जरसादेशः कृतः, तद्वत् निजरसिन निर्जरसादिति द्वे च स्वमतेऽपीष्टे इति वाच्यम् । निर्जरसैरित्यत्रादेश साफल्याय हि भिस ऐस् सूत्रेण विहितः, अन्यथा अकृते ऐस् भावे सर्वेश्वरादित्वाभावाज्जरसादेशस्तु न सम्भाव्येत । निर्जरसिन इत्यादि द्वये तु पूर्वत एव सर्वेश्वरादि विष्णुभक्ति सिद्धेः कार्यान्तरमनपेक्ष्यप्रथमेवादेश-प्रवृत्तिस्ततः कृष्णत्वाभावात्तत् कार्यमिनादिकमिति ।

अमृता०—६८. अत्रेति । अत्र लक्ष्म्यां यदुषु परेषु निशा-नासिका शब्दयो यथाक्रमं निश्-नसौ आदेशौ वा स्याताम् । निज्भ्यामित्यत्र “पस्यङ्” इति वत् शस्य जो मन्तव्य इत्यग्रे वक्ष्यते । सुपि “यादवमात्रे हरिकमलम्” (जरामस्यचरामः) “सश्यशश्रवर्ग योग” इति सरामस्यशरामे निच्शु पक्षे छत्वं निच्छु । केचित्तु “छशोराजयजि”त्यादिना पत्वं विधाय “पस्यङो विष्णुपदान्त” इत्यनेन निङ्भ्यां निट्सु इत्येवं मन्यन्ते ।

अन्ते यस्य इति विग्रहेण पीताम्बरसमासे कृते सति, तस्य तद्गुणसम्बिज्ञानमनेन उभय-पदस्य तत् कार्य स्यात् । अतद्गुणसम्बिज्ञानस्वीकारेण पूर्वपदस्य तत् कार्य स्यादिति

६६. हरितआप् वा वृष्णिषु लक्ष्म्यां नित्यं गोप्याः ।

वृष्णिनिमित्तापो न याप् । भक्त्यै भक्त्ये भक्तिभ्याम् भक्तिभ्यः । भक्त्याः भक्तेः भक्त्योः भक्तीनाम् । आवन्तेऽपि नीराधाभ्यां डेराम्—भक्त्याम् भक्तौ भक्त्योः भक्तिषु । हे भक्ते ।

एवं बुद्धि मति भूति कृति धृति रुचिप्रभृतयः ।

अथ धेनु शब्दः ।

अमृता०—६६. हरित इति । वृष्णिषु परेषु लक्ष्म्यां हरिसंज्ञक शब्दादुत्तरे आप् वा स्यात् । गोपीसंज्ञकशब्दात्नित्यमाप् भवति । वृष्णिरेवनिमित्तं यस्य सवृष्णिनिमित्तः सचासौ आप्चेति वृष्णिनिमित्ताप्, तस्मादुत्तरन्तु याप् न स्यात् लाक्षणिकत्वादिति मूलम् ।

नतु सप्तम्येकत्वे कथं लाक्षणिकता न मता, तत्रापि वृष्णिनिमित्तावन्तस्यैव राधा संज्ञत्वमङ्गीकृत्य डेराम् विधानादिति चेदुच्यते—तत्र डेरामिति आमो विरिञ्चित्वम्, इहतु प्रकृतिप्रत्यययोर्मध्ये विधानाद् यापो विष्णुत्वमिति स्थिते विरिञ्चिर्लाक्षणिकत्वं सहते क्वचिन्न विष्णु रिति न्यायेन सप्तम्यां विधौ लाक्षणिकत्वेऽप्यामि कृते न दोषापत्तिरिति । एव मुरामान्ता नित्यस्त्रीलिङ्गा धेनुवत् ।

अशन्यादीनामिति—अशनिर्वज्रम् । अशनि शब्दस्य पुरुषोत्तमत्वं लक्ष्मीत्वञ्च कोपात् प्रसिद्धम् । आदिशब्देन इषु मणि तिथि रेणु प्रभृतीनां ग्रहणम् ।

हरेः स्वभावलक्ष्मीत्वे इउरामान्तस्य नित्यस्त्रीत्वे हि विभाषया आवन्तकार्यं वाच्यमित्यर्थः । पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्त्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति प्राचां लक्षणम् । प्रियहरये इति प्रियो हरि र्यस्या स्तस्यै । अत्र हरिशब्दस्य स्वभावलक्ष्मीत्वं नास्ति किन्तु

विरोधे प्राप्ते यावत् सम्भवंस्तावद्विधिरिति न्यायेन अन्तर्भूततद्वर्णस्यैव तत् कार्यं स्यादिति । अथवा स एव वर्णः अन्तःतद्वर्णान्त इति श्यामरामे कृते न कश्चिद्दोष इति । अतएव ग्रन्थकारेणाप्युक्तं जरेति भागस्येति । एवं तन्नामान्तस्येत्यत्रापि ज्ञेयम् । निर्दिश्येति इत्येव-प्रकारेण निर्दिश्यमानानाम् आदेशिनां स्थाने आदेशा भवन्त्येवेति शेषः । अत्रादेशी जराशब्दः । एकदेशेति स्पष्टार्थमेव । केचिदिति क्रमदीश्वरादय इत्यर्थः । अत्रनिशा—सुगमम् ॥६७-६८॥

बाल०—हरित । वृष्णि । अशन्यादीनामिति अशनिर्द्वयोरित्यमरात् अशनिशब्दस्य पुरुषोत्तमत्वं लक्ष्मीत्वञ्च । अशनिशब्दः वज्रवाचकः, आदिशब्देन तिथि-मणिप्रभृतीनां रेणुप्रभृतीनाञ्च ग्रहणम् । अत्रेति । अत्र हरित आप् वेत्यादिलक्षणे । प्रियहरये इति प्रियो हरिर्यस्यास्तस्यै । अत्र हरेः स्वाभाविक लक्ष्मीत्वं नास्ति, किन्तु पीताम्बरसमासेन लक्ष्मीत्वम् । एवं प्रियविष्णवे इति । एवमिति प्रियत्रिशब्दोऽपि एवं प्रियहरिशब्दवदित्यर्थः । प्रियास्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या इति विग्रहः ।

धेनुः धेनू धेनवः । धेनुस् धेनू धेनूः । इत्यादि ।
वृष्णिषु धेन्वं धेनवे, धेन्वाः धेनोः, धेन्वाम् धेनौ । अश्व्यादीनां लक्ष्मीत्वे
पक्षेऽपि एवमेव ज्ञेयम् । अत्रहरेः स्वभाव लक्ष्मीत्वे सत्येवेति वाच्यम् ।
तेन नेह — प्रियहरये प्रियविष्णवे श्रियं । एवं प्रियत्रिः । मतिवदयमिति
तु तस्यां भ्रमः । शसि प्रियहरीः । नादेशस्तु न प्रियहर्षा । पटु प्रभृती-
नान्तु विकल्प इति केचित् । पटवे पट्वे ।

त्रिशब्दस्य लक्ष्म्याम्—

७०. लक्ष्मीस्थयो स्त्रि-चतुरोस्तिसृ-चतसृ विष्णुभक्तौ ।

७१. तिसृ-चतस्रो रः सर्वेश्वरे ।

गोविन्द त्रिविक्रमोरामाणामपवादः । पत्वे केवलसरामो विरिञ्चि
गृहीतः । तिस्रः तिस्रः तिसृभिः तिसृभ्यः तिसृभ्यः । आमितु नतिसृ
चतस्रो रिति ज्ञापकात् नुडेव । तिसृणाम् तिसृषु ।

पीताम्बरसमासेऽन्य पदार्थवाचित्वे लक्ष्मीत्वम् । एवं प्रियत्रिरिति प्रियहरिवत् । अत्रापि
प्रियास्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या इति पीताम्बरे पश्चालक्ष्मीत्वान्न नित्यस्त्रीत्वमिति
आपोऽभावः । तथापि मतिवदयमिति प्रक्रिया कौनुद्यां भ्रमः । पटु प्रभृतीनान्त्विति—
प्रभृतिना मृदु लघु गुरु पृथ्वादीनाञ्च वाच्यलिङ्गत्वेऽपि स्त्रीवाचकपक्षे स्वभावलक्ष्मीत्वं
मन्तव्यम् । तेन धेनु शब्दवदेषां वृष्णिषु रूपद्वयं सिध्येत् । तुकारेण हरेः स्वभाव-
लक्ष्मीत्वाभावो व्यावर्तितो ग्रन्थकारसम्मतिश्चात्र सूचितः । केचिदिति न्यासकारादयः ।

अमृता०—७०. लक्ष्मीति । विष्णुभक्तौ परस्यां लक्ष्म्यां वर्तमानयोः त्रि-चतुर
शब्दयोः क्रमात् तिसृ चतसृ आदेशौ भवतः । तिसृ चतसृ इति समाहारे ब्रह्मत्वमेकत्वञ्च ।
विष्णुभक्ताविति किम्—त्रित्वम् चतुष्टयम् । लक्ष्मीस्थयोरिति विशेषणात् प्रिया स्त्रिस्रो
यस्य इति विग्रहे समस्तस्य पुरुषोत्तमत्वेऽपि भवत्येवादेशः । तेन प्रियतिसा प्रियतिसौ
प्रियतिस्र इत्यादि । टादौ प्रियतिस्रा प्रियतिस्रौ इत्यादि ।

अमृता०—७१. तिस्रिति । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्तित इत्यनेन ऋराम स्थाने
ररामो भवति । गोविन्देति ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेपु डौचेत्यनेन गोविन्दप्राप्ति प्रसङ्गः ।
दशावतारस्य त्रिविक्रमो शसीत्यनेन त्रिविक्रमस्य तथा ऋरामतो डसिडसोरस्य उच् इत्यु-
रामस्य च प्रसङ्गः । तत् सर्वेषां प्रसङ्गानामपवादो बाधकोऽयं रविधिः । पत्व इति—

मतिवदिति अयं प्रियत्रिशब्दः । तस्यां प्रक्रियाकौमुद्याम् । पटु-प्रभृतीनामिति ।
पटुशब्दादीनामपि स्वभावलक्ष्मीत्वं नास्ति वाच्यलिङ्गत्वात् । अतोऽस्माकं मते—आप् न
भवति, केचिदिति क्रमदीश्वरादय इत्यर्थः ॥६६॥

बाल०—लक्ष्मी । लक्ष्मीस्थयोर्लक्ष्यां वर्तमानयोः ॥७०॥

ईवन्तगोपीशब्दः ।

ईविति लक्ष्मीविहितप्रत्ययः ।

७२. ईऊलक्ष्मी गोपीसंज्ञः ।

नदी संज्ञाच । गोपी गोप्यौ गोप्यः । गोप्यस् गोप्यौ गोपीः । गोप्या गोपीभ्याम् गोपीभिः । गोप्यै गोपीभ्याम् गोपीभ्यः । गोप्याः गोपीभ्याम् गोपीभ्यः । गोप्याः गोप्योः गोपीनाम् । गोप्याम् गोप्योः गोपीषु । हेगोपि ।

अत्रविधान सामर्थ्यान्नगोविन्दः ।

षत्वविधान सूत्रे प्रत्ययविरिञ्चि सस्य ष इत्यनेन यत् विरिञ्चि सस्य षत्वमुक्तं तेन तु केवलसराम-लक्षित-विरिञ्चिगृहीतः नतु वर्णान्तर-सहितो विरिञ्चिः । तस्मात् तिसृ चतसृविरिञ्च्योः सस्य न षत्वं सरामातिरिक्तवर्णं साहचर्यात् । ननु सर्वेश्वर इति-सामान्योक्तिः षष्ठीबहुत्वेऽपि तिसृ-चतस्रो र एव भवितुमुचितमिति चेत्तत्राह—आमित्विति । वामनस्य त्रिविक्रमो नामीत्यादौ—नतिसृ-चतस्रोरिति त्रिविक्रम निषेध एव नुटो ज्ञापकः । तथाहि—नामिसत्येव तत्र प्राप्तत्रिविक्रमस्य प्रतिषेधः कृतः । अजाते नुटि कुतो नाम् कुतो वा तन्निषेधसम्भावनेति । अतो विरिञ्चतो विष्णुर्वलवानिति न्यायेन रादेशात् प्राक् नुटः प्रवृत्तिः; प्रवृत्ते तु तस्मिन् सर्वेश्वर परत्वाभावान्न हि रादेशावसर इतिभावः ।

अमृता०—७२. ईऊ लक्ष्मीरिति । ईरामान्तः ऊरामान्तश्च स्त्रीलिङ्गशब्दो गोपी संज्ञक इत्यर्थः । गाःपाति रक्षतीति गोपः । यद्वा गोपायति रक्षति शुद्धभक्तिरसं तदधिष्ठा-नत्वादिति गोपो ब्रजस्थाभीर जाति विशेषः । गो—पा+कः, गुप्+अल् वा । तस्माद रामान्त जाते रित्यादिना स्त्रियामीप्—गोपी ब्रजगोपवनिता । नदी संज्ञा प्राचाम् । ननु हेगोपि इत्यत्र हरेर्गोविन्द इत्यादिना गोविन्दः कथं न स्यात्तत्राचष्टे—अत्रेति । यद्यत्र गोविन्देन भाव्यं तर्हि बुद्धे वामनविधानमकृत्वा “गोप्या गोविन्दो बुद्धे” इत्येवं सूत्रं क्रियेत, अन्यथा वामनविधेरनर्थकत्व-प्रसक्तेः ।

बाल०—तिसृ । चिसृ चतस्रिति समाहारात्तिसृ । एकवर्णो विधिरन्तेप्रवर्तत इति न्यायेन ऋरामस्य स्थाने ररामो भवति । गोविन्देति ‘ऋरामस्य गोविन्दः पाण्डवेषु डौ चे’त्यनेन गोविन्दः स्यात् । ‘दशावतारस्य त्रिविक्रमः शसी’त्यनेन त्रिविक्रमः स्यात् । ‘ऋरामातो डसि डसोरस्य उच्’ इत्यनेन उरामः स्यात् । तेषामपवादो बाधकोऽयं ररामः । प्रियास्तिस्रो यस्मिन् तस्मात्तस्य वा प्रियतिस्र इत्यतो ररामो न स्यात् । ननु तिस्र इत्यादिषु विरिञ्चि-सस्य षत्वं कथं न स्यादिति चेत्तत्राह,—षत्वमिति । केवलसरामो यत्र विरिञ्चिस्तत्र षत्वम् । अत्र तु तिसृविरिञ्चिरिति न षत्वम् । ‘न त्वामि’—तिसृणामित्यत्र ररामः कथं न स्यादिति चेत्तत्राह—आमि त्विति । यद्यत्र ररामः स्यात्तर्हि न तिसृचतस्रो-लक्षणं निरर्थकं स्यात्तस्मादत्र नुडेव भवति, न तु ररामः ॥७१॥

एवंनदीमही प्रभृतयः । सखी च ।

सखी सख्यौ । अत्र नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति परिभाषा नेष्यते । डौ सख्याम् ।

एवं सुपथीत्यत्र नात्वम् । त्रिविक्रमादिति विशेषणान्नेह—सोर्हरः— अतिगोपिः । पुंसि वृष्णिषु अतिगोपये इत्यादि लक्ष्म्याम् अतिगोप्ये अतिगोपये इत्यादि ।

७३. अवी तन्त्री तरी लक्ष्मी ह्री धी श्रीणामुणादिना ।*

शब्दानान्तु भवत्येषां सुलोपो न कदाचन ॥

लक्ष्मीः लक्ष्म्यौ लक्ष्म्यः इत्यादि गोपीवत् ।

ननु नाम्नोग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणात् सखी सख्यौ इत्यादौ पूर्वोक्तं सखिकार्यं आच्-वृष्णीन्द्रादिकञ्च कथं न स्यादित्याशङ्क्यामाह—अत्रेति । परिभाषा नेष्यत इति—विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणमिति वार्त्तिकनिषेधात् । परिभाषा सा सन्ध्यादौ तद्धित प्रत्ययादौ च विषये प्रवर्त्तते ननु विभक्तौ । यत्र खलु एकस्यैवाविकृतशब्दस्य लिङ्गान्तरे रूपभेदो जायते तत्र तु तत्परिभाषा न प्रभवति अशन्यादौ यथेतिभावः । एवमिति—लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनिष्टत्वात् सुपथीत्यत्र च “पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्णस्थान” इत्यनेन प्राप्त आरामो न स्यात् । सुपथीति—ऋक्पथिपुरप इत्यनेन समासान्ता प्रत्ययादीप् । राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादौ त्रिविक्रमादिति विशेषणोपादानफलमाह—त्रिविक्रमादिति । तेनविशेषणमिदं वामनस्वरूपेणापि ईपः सत्तां ज्ञापयति । अति गोपिरिति—गोपीमतिक्रान्त इति विग्रहे “अत्यादयो द्वितीयये”त्यनेन कृष्णपुरुषः, “गोरीप् आप्” इत्यादिना वामनः । लक्ष्म्यां—गोपीमतिक्रान्तेति विग्रहः ।

अमृता०—७३. अवीति । उणादिना निष्पन्नानामेषां सप्तशब्दानां कदाचन कदाचिदपि सुलोपो न भवति; ईप्प्रत्ययान्तत्वाभावात् । उणादिनेति—उपलक्षणे तृतीया । उणादिनोपलक्षितानाम्, उणादि सिद्धानामित्यर्थः । एषु च ह्री धी शब्दौ उणादावेव क्विवन्तौ, शेपास्तु ईप्प्रत्ययान्ताः । क्वचित् तन्द्रीति च पाठो दृश्यते । ननु तन्त्री वीणायमित्यादि प्रयोगे सुलोप दर्शनाद् व्यभिचार इति चेत्तत् समादधाति—तन्त्रयते

बाल०—ईऊ । ई-ऊ लक्ष्मीः ईरामोरामान्तलक्ष्मीरित्यर्थः । ननु हे गोपीत्यत्र ‘हरेर्गोविन्द’ इत्यादिना गोविन्दः कस्मान्न भवतीति चेत्तत्राह,—अत्र वामनेति । यद्यत्र गोविन्देन भाव्यं, तदा बुद्धे वामनविधानसूत्रमकृत्वा गोप्या अपि गोविन्दविधानसूत्रमेव विदध्यात् । ननु सखीत्यादौ नाम इत्यादि न्यायेन पूर्वोक्तं सखिशब्दस्य कार्यं कस्मान्न भवतीति—चेत्तत्राह अत्रेति । एवमिति नाम्न इत्यादिन्यायस्यानिष्टत्वात् । सुपथीत्यत्रापि

तन्त्री वीणायामिति तु तन्त्रयतेरणन्तत्वादीपिसिद्धा । गौरादित्वात् स्त्रीशब्द ईवन्तः । ततः सोर्हरः स्त्री ।

७४. स्त्रीभ्रुवोरियुवौ सर्वेश्वरे, स्त्रिया अमृशसो र्वा ।

स्त्रियौ स्त्रियः । स्त्रियम् स्त्रीम् स्त्रियौ स्त्रियः स्त्रीः । स्त्रिया स्त्रीभ्याम् स्त्रीभिः । नित्यं गोण्याः—स्त्रियं स्त्रीभ्याम् स्त्रीभ्यः । स्त्रियाः स्त्रीभ्याम् स्त्रीभ्यः । स्त्रियाः स्त्रियोः । विरिञ्चितो विष्णुर्वलवान्, स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् स्त्रियोः स्त्रीषु हेस्त्रि । गौणत्वे पुंसितु अतिस्त्रिः; नाम्नातु क्वचिदिति तदन्तविधिः । अत्र क्वचिद् ग्रहणाद् गोविन्द ना नुडौज् वर्जं स्त्रिया इयादेश इति विस्तरः । मतान्तरन्तु नभाष्यादिमतमिति च । अतिस्त्रियौ अतिस्त्रयः । अतिस्त्रियम् अतिस्त्रीम्, अतिस्त्रियौ अतिस्त्रयः अतिस्त्रीन् । अतिस्त्रिणा, अतिस्त्रये, अतिस्त्रेः, अतिस्त्रियोः अति स्त्रीणाम्, अतिस्त्री । लक्ष्म्याम् शस्टापरत्वे अतिस्त्रियः अतिस्त्रीः,

रिति । तन्त्रयते ण्यन्त-तन्त्रीधातौः अण् प्रत्ययात् ईप् प्रत्यये सिद्धोऽयं नतु उणादावित्यर्थः । गौरादित्वादिति गौरादेरीप् प्रत्ययस्तद्धिते वक्ष्यते ।

अमृता०—७४. स्त्रीति । सर्वेश्वरादि विष्णुभक्तौ स्त्री-भ्रूशब्दयोः क्रमादियुवौ अन्त्यादेशौ भवतः । स्त्रीशब्दस्य अमि शसि च परे इयादेशो वास्यात् । ईवन्तत्वेन गोपीवद् आपि प्राप्ते विशेष विधिरयम् । ननु षष्ठीबहुत्वे आमि किमियादेशेन भाव्यमुत-नुडागमेनेति विप्रतिषेधे समाधानमाह—विरिञ्चितइति । अतिस्त्रिरिति—अतिक्रान्तः स्त्रियमिति विग्रहः । तदन्तविधौ क्वचिद् ग्रहणसार्थकतां दर्शयति—गोविन्देति । गोविन्दश्च (जसि वृष्णिषु च) ना च (तृतीयैकत्वे) नुट् च (आमि) औच् च (डौ) इति गोविन्दानां नुडौचः तान् वर्जयित्वेति गोविन्द नानुडौज् वर्जं स्त्रीशब्दस्य यइयादेशः स स्त्रीशब्दान्तस्य

‘पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्णस्थान’ इत्यनेनात्वम् । अतिगोपीरिति अतिक्रान्तो गोपी-मिति ‘अत्यादयो द्वितीयये’त्यनेन कृष्णपुरुषः । ‘गोरीप् आप् ऊञ्चान्तस्याप्रधानस्य वामन’ इत्यनेन वामनः । अवीति । एषामवीत्यादीनां शब्दानां कदाच न कदाचिदपि सुलोपो न भवति, ईप्प्रत्ययान्तत्वाभावादिति शेषः । उणादिनेति उपलक्षणे तृतीया उणादिसिद्धाना-मित्यर्थः । उणादिनेति तु अवी तन्त्री तरी लक्ष्मीपरं ज्ञेयम् । ह्री-धी-थ्रीणां क्ववन्तत्वात् । तन्त्रीति । तन्त्री वीणायाम्, इति तु इत्यत्र वर्तमाना तन्त्री तन्त्रयतेर्ण्यन्तस्य तन्त्रीधातोरण्प्रत्ययान्तदीपि ईप्प्रत्यये सिद्धा । इतीति सप्तम्यन्तम् । गौरादित्वादिति । गौरादेरीप्प्रत्ययस्तद्धिते वक्ष्यते ॥७२—७३॥

बाल०—स्त्री-भ्रुवो । स्त्रियाः । नन्वामि किम् इयादेशेन भाव्यं नुडागमेन वेति सन्देह आह,—‘विरिञ्चित’ इति । अतिस्त्रीरिति अतिक्रान्तः स्त्रीमिति विग्रहः । नाम्ना

अतिस्त्रिया । वृष्णिषु पक्षे अतिस्त्रियै अतिस्त्रये अतिस्त्रियाः
अतिस्त्रियाम् ।

श्रीशब्दः । श्रीः । धातोरीदूतोरिति श्रियौ श्रियः इत्यादि ।

७५. नेयुव् स्थानं गोपी स्त्रियं विना, वृष्णिष्वामिच वा ।

श्रियै श्रिये, श्रीभ्याम् श्रीभ्यः । श्रियाः श्रियः, श्रियाः श्रियः, श्रियोः,
श्रीणाम् श्रियाम् । श्रियाम् श्रियि श्रियोः श्रीषु । हेश्रीः । एवं
धीप्रभृतयः, भ्रूप्रभृतयश्च । भ्रूः भ्रुवौ भ्रुवः । एवं सुभ्रूः । बुद्धे वर्मिन
इति केचित् ।

अतिस्त्रिशब्दस्यापि भवतीत्यर्थः । भाष्य सम्मतत्वाद् विस्तर मतमेव ग्रन्थकृमन्तं ज्ञेयम् ।
लक्ष्म्यामतिक्रान्ता स्त्रियमिति विग्रहे पक्षे आप् पक्षे इत्यर्थः । पक्षान्तरे तु वृष्णिषु
पुरुषोत्तमवत् ।

अमृता०—७५. नेयुविति । इयः उवोवा स्थानं स्थिति यंत्र तदियुवस्थानम् ।
स्त्रीशब्दं विना इयुवस्थानं नाम गोपीसंज्ञं न भवति । वृष्णिषु आमि च परे इयुवस्थानं
गोपीसंज्ञं वा भवति । हेश्रीरिति—अम्बादीनां गोप्याश्चेत्यनेन न वामनः, गोपीत्वाभावात् ।
केचिदिति क्रमदीश्वरादयः । भ्रूरिति गोपीत्वाभावान्न सोर्हरः । सुभ्रू शब्दस्य तु बुद्धे
वामनत्वं शिष्ट प्रयोगेण समर्थयते—आः कष्टमित्यादिभिः । श्रीसीताहरणानन्तरं विरहातुर
श्रीरामचन्द्रस्य खेदोक्तिरियम् । व्याख्या त्वाकरे द्रष्टव्या । “विमानता सुभ्रु पितु गृहे
कुतः” इति कालिदासश्च । दीक्षितस्तु शिष्टप्रयोगोऽप्यनुपपन्न इत्याह । अत्रेति—अत्र
पश्चात् समस्त प्रधीशब्दे यादेश स्तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमः, सहजानेकसर्वेश्वरत्वाभावात् ।
तदेवोपन्यस्यति—गतिकारक पूर्वत्वाभावादिति । तथैव वार्त्तिकम्—गतिकरकेतर पूर्व-
पदस्य यन्नेष्यत इति । तन्मतेनैव तस्या अनुपपत्तिमालोचयति—प्रादीनामिति ।
प्राद्यव्ययानां क्रियायेगे एव गतिसंज्ञा । गति कारकोपपदैः सह समासकाले हि विधीयन्ते
कृतप्रत्ययाः, ततः स्वाद्युत्पत्तिः । गतिकारकोपपदानां कृद्धिः सह समास वचनं प्राक्
सुबुत्पत्तेरिति न्यायात् । अतः कृतन्तेन सह प्रादीनां पश्चात् समासे तु न गतिकारकत्वं
सहजानेक सर्वेश्वरत्वं वा । तस्मात्तन्मतेऽपि यादेशोऽत्र न युक्तएव ।

त्विति तदन्तविधिर्नाम्नान्तविधिर्भवतीति शेषः । अतः स्त्रीशब्दस्य विहित इयादेशस्तदन्त-
कस्यातिस्त्रिशब्दस्यापि भवतीति । अत्रेति । स्त्रियाः स्त्रीशब्दान्तकस्य इति चेति विस्तर
इति शेषः । तत्र विस्तरमतमेव ग्रन्थकारस्यापि मतमिति ज्ञेयम् ॥७५॥

बाल०—नेयुव । स्त्रीशब्दं विना इयुवस्थानं गोपी न भवति । वृष्णीषु आमि च
परे इयुवस्थानं गोपी वा भवति । हे श्रीरिति गोपीत्वाभावात् ‘अम्बादीनां गोप्याश्च
वामनो बुद्धे’ इत्यनेन न वामनः । केचिदिति क्रमदीश्वरादय इत्यर्थः । शिष्टप्रयोगमपि
दर्शयति, हा पितरिति । तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमः, सहजानेकसर्वेश्वरत्वाभावादिति शेषः ।

आः कष्टं वत ही चित्रं हं मातर्देवतानि धिक् ।

हापितः क्वासि हेसुभ्रु वह्वेवं विललाप सः ॥ —इति भट्टिः ६।११
पश्चात् प्रशब्दयोगे प्रकृष्टाधीः प्रधीः प्रधियौ प्रधियः । डे प्रधियै प्रधिये ।
अत्र यादेशस्तस्यां भ्रमः; गति कारक पूर्वत्वाभावात् । प्रादीनां क्रिया-
योगे एव हि तन्मते एव गतिसंज्ञेति । केवलाव्ययपूर्वत्वेऽपि, इति
त्वपाणिनीयम् । पुनर्भू शब्दस्य पुनर्व्यूढावाचकस्य नित्यस्त्रीत्वे हेपुनर्भु ।
क्वचिद्भिन्न पदत्वेऽपि णत्वं वाच्यम् पुनर्भूणाम् । वधू प्रभृतीनां लक्ष्मी-
शब्दवत् । वधूः वध्वौ वध्वः । हेवधु ।

किञ्च, अनियुवां पश्चात् पुंस्त्वेऽपि गोपीसंज्ञामाहुः । ततो बहुप्रेयसी
शब्दः शसं विना पुंस्यपि गोपीशब्दवत् । एवमतिलक्ष्मीः लक्ष्मीशब्दवत् ।
अवयवस्त्रीविषयत्वात् सिद्धमिति भाष्यम् । ईप्रत्ययान्तवातप्रमी वदिति

न च वाच्यं प्रधीशब्दस्य कर्मधारये नित्यस्त्रीत्वेन गोपी संज्ञत्वाल्लक्ष्मीवद् रूपं युक्त-
मिति; गतिकारकपूर्वस्य विवन्तस्व विशेषेण यराम विधानाद् यदा गतित्वाभावेन यरामो
वाधितस्तदा तस्य धातुत्वापरिहार्यत्वात् इयः प्रवृत्तिर्हि सङ्गता, सकृदगत न्यायेन पुनर्य-
रामाप्रवृत्तेः । नचात्रस्त्रीविषयत्वाद् गोपीकार्यमेव बलवदित्यपि वाच्यम्; गोपीसंज्ञायां
याप् विधेरेव विशेषकार्यत्वात् । यरामस्तु सामान्य सन्धिविधिनैव सिद्ध इति तत्त्वम् ।
एवञ्च “दुर्धियो वृश्चिकभियः” इत्यादौ दुस्थिता धीर्येषामिति विग्रहे दुरित्यस्य गतित्वा-
भावान्न यकार इति पाणिनीयाः । केवलप्रादिभिः सह समासेऽपि यादेशं केचिन्मन्यते, तत्तु
पाणिनेरसम्मतत्वान्नग्राह्यमित्यर्थः । बहुप्रेयसीरिति—वह्वः प्रेयस्यो यस्य स कृष्ण इत्यर्थः ।
“नचेयस्याः पीताम्बरे” इति वामननिषेधः । शसं विनेति—पुरुषोत्तमत्वात्तत्र यावत्
सम्भव विधिना दशावतारस्य त्रिविक्रमः सो नश्च—बहुप्रेयसीनिति । अतिलक्ष्मीरिति—
अतिक्रान्तो लक्ष्मीमिति विग्रहः । ईवन्तत्वाभावाद् गोरीप आप इत्यनेन नवामनः ।
अवयवेति—अवयवस्यात्र प्रेयसीत्यङ्गस्य स्त्रीविषयत्वात् स्त्रीवाचित्वाद् नदीसंज्ञत्वं सिद्ध-
मिति भाष्यकारः । तेनअतिलक्ष्मी शब्दस्य प्रक्रियामतेन एकैकरूपाद् वृष्णिषु भेदः ।
नसोहंर इति विस्तरः, गोपीसंज्ञत्वञ्च नेति च विस्तरः । अपाणिनीयमिति—अतिलक्ष्म्यै
ब्राह्मणायेति भाष्योदाहरणात् धातुवदिति—अमृशसोः गोप्यम् गोप्यः इति भेदः । वामन-
त्वेत्विति—अनियुवां पश्चात् पुंस्त्वे सति वामनत्वेतु गोपी संज्ञां न मन्यन्ते प्राञ्चः । तेन

तन्मत एवेति न भवतीति शेषः । हेतुमाह—गतोति । गतित्वं खण्डयति प्रादीनामिति ।
हि यतः । केवलेति, केवलाव्ययपूर्वत्वेऽपि भवतीति तु मतमपाणिनीयम् । पुनर्भूशब्दस्येति
पुनर्भूशब्दो नेयुवस्थानमतोऽस्य न गोपीत्वनिषेधः, अतो नित्यस्त्रीत्वम् । हे पुनर्भु इत्यत्र
‘अम्बादीनामि’त्यादिना वामनः । ‘ए-ओ-वामनेभ्य’ इत्यादिना बुद्धादर्शनम् ।

क्वचित् । विधिवति लक्ष्मीशब्दवत् साधनमिति शेषः ।

तु प्रक्रियाकारः । बहुप्रेयसीरिति गौणत्वाच्चसोर्हरः । वृष्णिषु गोपी-
संज्ञत्वञ्च नेति विस्तरः । इदमपाणिनीयम् । तथा गोपीमिच्छतीति
व्यञ्जन्तात् क्वपि गोपी कृष्णः । सौगोपीवत्, शस्पर्यन्तं धातुवत्, पुन
गोपीवत् । वामनत्वेतु गोपीसंज्ञत्वं नेच्छन्ति : सखीमतिक्रान्तस्य
अतिसखेरिति भाष्यम् । अनितुवामिति किम्—अतिश्रिये गोपीसंघाय ।
कश्चित् त्वत्रापीच्छति । ईरामयोरस्वाभाविक लक्ष्मीत्वे गोपीत्वं न;
विश्वन्ये श्रियै ।

मातृशब्दः पितृवत् । माता मातरौ मातरः । शसितु मातृः । स्वसृशब्दः
कर्तृवत् । स्वसा स्वसारौ स्वसारः । शसि तु स्वसः । रेशब्दः
स्त्रियामपीत्येके इति क्षीरस्वामी । तेन पूर्ववत् । गोशब्दः पूर्ववत् ।
द्यो शब्दो गोवत् । नौग्लौ वत् ।

॥ इति सर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

सखीमतिक्रान्तः अतिसखिः छद्मवेशीश्रीकृष्णः । गोरीप आप इतिवामनः । स्वतिभ्यामिति
समासान्तटप्रत्ययो निषिद्धः । रूपाणि हरिवदेव नतु सखिवत्, लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया
इहानिष्टत्वात् ।

अतिश्रिये इति—श्रियमतिक्रान्तः अतिश्रीः गोपीसमूह स्तस्मै । धातोरीदूतो-
रियुवाविति श्रीशब्दस्य इय् सिद्धत्वान्न गोपी संज्ञत्वं पुंस्त्वे । कश्चित् प्राप्तेयुवामपि
गोपीसंज्ञामिच्छति, तत्तु न भाष्यसम्मतम् । ईरु रामयोरस्वाभाविक लक्ष्मीत्वे इति—
वाच्यलिङ्गयो स्तयो लं मीपक्षेऽपि न गोपीत्वम् । विश्वनीशब्दो वाच्यलिङ्गः, तेन
स्वाभाविक लक्ष्मीत्वाभावाच्च तस्य गोपीसंज्ञत्वमिति बीजम् । ततश्च सहजानेकसर्वेश्वर-
स्येत्यादिका यराम एव । स्वसृ शब्दः कर्तृवदिति—स्वसृ तृल् तृन्नित्यादिना पाण्डवेपु
वृष्णीन्द्रः । शसितु स्वसृः, पुंसीति विशेषणात् सोः नः नस्यात् । बुद्धे मातः स्वसरिति ।

॥ इति सर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गा व्याख्याता ॥

किञ्चेति । अनियुवां शब्दानाम् । आहुरिति पूर्वाचार्या इति शेषः । बह्वचः
प्रेयस्यो यस्येति विग्रहे 'न चेयस्याः पीताम्बर' इति वामननिषेधः, कृष्णवाची बहुप्रेयसी
अशब्दः । तिलक्ष्मीरिति अतिक्रान्तो लक्ष्मीमिति विग्रहः । अवयवेति बहुप्रेयसीप्रभृतीनाम्
अवयवस्य बहुप्रेयसीप्रभृतेः स्त्रीविषयत्वात् स्त्रीप्रतिपादकत्वात् नदीसंज्ञत्वं सिद्धमिति ।
बहुप्रेयसीप्रभृतिरीप्रत्ययान्तवातप्रमीवदिति तु प्रक्रियाकारः । बध्विति । न सोर्हर इति
विस्तरः, गोपीसंज्ञत्वञ्च नेति विस्तरः । इदं मतम् । धातुवदिति गोप्यौ गोप्यः गोप्या-
मित्यादि नेच्छन्तीति पूर्वाचार्या इति शेषः । अतिश्रिये इति अतिक्रान्तः श्रियं अतिश्रीः
तस्मै । नात्र गोपीसंज्ञत्वम् । विश्वन्ये इति वाच्यलिङ्गत्वात् स्वाभाविकलक्ष्मीत्वाभावः ।

रेशब्द इति तेन तस्य रूपं पूर्ववत् ॥७५॥ ॥ इति सर्वेश्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

अथ सर्वेश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

तत्र अरामान्तो गोकुलशब्दः ।

७६. ब्रह्मकृष्णात् सोरम् ।

दशावतारादमृशसोररामहरः । गोकुलम् । राधाब्रह्मभ्यामीई—
गोकुले ।

७७. ब्रह्मतो जस्शसोः शिः ।

शङ्खत् । एकवर्णत्वादन्ते प्राप्ते शित्सर्वस्येति शिदादेशः सर्वस्य भवति ।

७८. सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयो नुम् शौ ।

उमावितौ ।

७९. अन्त्य सर्वेश्वरात्परं मितः स्थानम् ।

अमृता०—७६. ब्रह्मेति । अरामान्त नपुंसक शब्दात् सु स्थाने अमादेशोभवति ।
अत्र सोर्मरामे कृतेऽपीष्टसिद्धे अमृविधानं निर्जरसं सिध्यर्थम् ।

अमृता०—७७. ब्रह्मत इति । एकवर्णेति—एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्तते इति
न्यायेन अत्रान्तस्थित-सरामस्थाने शि-विधाने प्राप्ते शित् करणेन तन्निवर्तितम्; यतः
शिदादेशः समग्रस्य स्थाने भवतीति नियमः । तेनात्र अस् इतिसमुदायस्यैव शिरादेश इति
निर्गलितार्थः ।

अमृता०—७८. सर्वेश्वरेति । शौ परे सर्वेश्वरान्तस्य वैष्णवान्तस्य च शब्दस्य
नुमागमः स्यात् । सर्वेश्वरादेः किम्—चत्वारि अहानि बहुपुरि ।

अमृता०—७९. अन्त्येति । परिभाषेयम् । मित् भूतस्य अन्त्यसर्वेश्वरात् परं
स्थितिः स्यात् ।

॥ अथ सर्वेश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥

बाल०—ब्रह्म । मरामं न कृत्वा यदमिति कृतं, तत् निर्जरसमित्यस्य
सिद्धचर्थम् ॥७६॥

बाल०—ब्रह्म । एकेति एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्तते इति न्यायेन अन्ते प्राप्ते शित्
सर्वस्येति न्यायेन शिदादेशः सर्वस्य समुदायस्य स्थाने भवतीति अरामसहित-सरामस्य
स्थाने शिर्भवति ॥७७॥

बाल०—सर्वेश्वर । शौ परे सर्वेश्वरान्तस्य वैष्णवान्तस्य च नुम् भवति ॥७८॥

बाल०—अन्त्य । परिभाषासूत्रमिदम् ॥७९॥

८०. अन्त्यात् पूर्ववर्ण उद्धवसंज्ञः ।

उपधेति प्राञ्चः ।

८१. अब्रह्मपाण्डवाः शिश्व कृष्णस्थानसंज्ञाः ।

घुट्संज्ञा इत्येके, सर्वनामस्थान संज्ञा इत्यन्ये ।

८२. नान्त, धातुवर्जितसान्त सत्संग, महदपामुद्धवस्य त्रिविक्रमः

कृष्णस्थाने बुद्धं बिना ।

नान्तस्य धातुवर्जित-सान्त-सत्सङ्गस्य महतः अपश्चेति विच्छेदः ।

गोकुलानि । एवंद्वितीयायाम् । तृतीयादौ पुरुषोत्तमवत् । बुद्धस्थानी-

यत्वादमपि बुद्धसंज्ञः, हेगोकुल । एवं कुल फल मूलादयः ।

अमृता०—८०. अन्त्यादिति सुगमम् । उत्—हु+अल्=उद्धवः । वृष्णीनां सम्मतो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा । शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः । इति श्रीमद्-भागवतम् ।

अमृता०—८१. अब्रह्मेति । अब्रह्मपाण्डवाः पुरुषोत्तम-लक्ष्म्योः पाण्डवास्तथा ब्रह्मणः शिश्व कृष्णस्थानसंज्ञकाः स्युः । अन्ये पाणिन्यादयः । कृष्णस्य स्थानं धाम कृष्ण-स्थानं वृन्दावनम् ।

अमृता०—८२. नान्तेति । सान्तश्चासौ सत्सङ्गश्चेति सान्तसत्सङ्गः, सान्तरूपेण सत्सङ्गइत्यर्थः । धातुभिर्वर्जितः सान्तसत्सङ्गः धातुवर्जितसान्तसत्सङ्गः । नान्तश्च धातुवर्जितसान्तसत्सङ्गश्च महच्च अप् च तेषामुद्धवस्य त्रिविक्रमः स्याद् बुद्धवर्जित कृष्ण स्थाने । नान्तेति सामान्येन निर्देशाद् यः स्वाभाविक-प्रातिपदिकाङ्गभूतो नरामो, विष्णु सम्बन्धी च यो नरामो नामान्तरस्यः, स च न शब्देन ग्राह्यः । विरिञ्चिसम्बन्धि नरामश्च नामान्तर्गत एव नाम धातु प्रत्यय विष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिभाव-स्वीकारात् । तत्तन्नरामान्तशब्दस्योद्धवस्य त्रिविक्रमो बोध्यः । तत्रस्वाभाविकनान्तस्य—राजानौ इत्यादि । इह च नुमः प्रसङ्गाद् विष्णु सम्बन्धि नरामस्य नाम—नान्तत्वम्—गोकुलानि । विरिञ्चि नान्तस्य च—शीर्षाणि दर्शयते । धातुवर्जितेति किम्—कंसहिन् । कृष्णस्थाने इति किम्—राज्ञा गोकुले । बुद्धस्थानीयत्वादिति—बुद्धस्थानेभवो बुद्धस्थानीयः, तस्य भाव स्तत्त्वं, तस्मात् । तेन अमो बुद्ध संज्ञत्वे एओ वामनेभ्य इति तस्य हरः ।

बाल०—अन्त्यात् सुगमम् ॥८०॥

बाल०—अब्रह्म । अब्रह्मपाण्डवाः पुरुषोत्तमलक्ष्मीपाण्डवाः ॥८१॥

बाल०—नान्त । नान्तश्च धातुवर्जितसान्तसत्सङ्गश्च महच्च अप् च तेषाम् ।

बुद्धेति । बुद्धरूपस्थानि-सम्बन्धित्वात् अम् बुद्धसंज्ञ इति । 'ए ओ वामनेभ्य' इत्यादिना अदर्शनम् ॥८२॥

८३. हृदयस्य हृद् यदुषु वा । शीर्षस्य शीर्षन् वेत्येके ।

प्रयोगाश्च पक्षे विष्णुजनान्तवज् ज्ञेयाः । यथा हृन्दि हृदयानि, हृदा हृदयेन । उभयत्रापि शीर्षाणि ।

जराया जरस्वा सर्वेश्वरे । निर्जरम् निर्जरसम्, निर्जरे निर्जरसी ।
नुमः पूर्वं जरसादेशं मन्यन्ते ।

८४. अविष्णुपदान्तस्य नस्य मस्य च विष्णुचक्रं वैष्णवे ।

निर्जराणि निर्जरांसि । पुन स्तद्वत् । बुद्धे हेनिर्जर । हेनिर्जरसमित्यपि केचित् ।

इरामान्तो दधिशब्दः ।

अमृता०—८३. हृदयस्येति । यदुषु विष्णुभक्तिषु हृदयशब्दस्य हृदादेशो वा स्यात्, तेषुपरेषु शीर्षशब्दस्य शीर्षन्नित्यादेशो वा भवतीति एके पाणिनीया मन्यन्ते । उभयत्रापीति—आदेशानादेशपक्षयो रित्यर्थः । अनादेशे सर्वेश्वरान्तत्वान्नुम्, आदेशपक्षे तु सर्वेश्वर-वैष्णवान्तत्वाभावान्नुम् । नुमः पूर्वं जरसादेशं मन्यन्त इति—ननु निर्जर शि इतिस्थिते जरसादेशे कृते न कृते च नुम् सम्भवेदेवेति तस्य नित्यत्वात् प्रथमं हिभवतु स इत्यनिष्ठा-पत्तिनिरास्यते—“नुमो विधानाज्जरसादेशोभवति विप्रतिषेधेनेति” काशिका । यदि पूर्वं हि नुम् स्यात्ततो नुमा व्यवहितत्वाज्जरसादेशस्तु नलभ्येत । तस्मादिह—विरिञ्चितो विष्णुर्बलवान् विष्णुतः सर्वविरिञ्चिरिति परिभाषया प्रागेव जरसादेशेन भवितव्यमित्यविरोधः ।

अमृता०—८४. अविष्णुवति । वैष्णवे परे अविष्णुपदान्तस्य नस्य मस्य च विष्णु-चक्रं भवति । अविष्णुपदान्तस्येति किम्—सम्भवति, क्रीडञ्जयति । वैष्णवइति किम्—मन्यते गम्यते । तृतीयादौ निर्जरशब्दस्य रूपाणि पुरुषोत्तमवत्, दर्शितानि तानि लक्ष्मी प्रकरणे । हेनिर्जरसमित्यपि केचिदिति—तन्मते सोरेव बुद्धसंज्ञा, तत्स्थानीयस्य अमस्तु न । अतएव एओवामनेभ्य इत्यमोऽदर्शनाभावाज्जरसादेशो जाते निर्जरसमिति । अत्यरामान्ताः ।

बाल०—हृदयस्य । शीर्षस्य । उभयत्र शीर्षाणीति आदेशपक्षे सर्वेश्वरवैष्णवान्त-त्वाभावात् न नुम् । नुम् इति मन्यन्ते पूर्वाचार्या इति शेषः । नुमः पूर्वं पूर्वस्मिन् जरादेशं मन्यन्ते इत्यर्थः । यदि प्रथमं नुम् स्यात्तदा सर्वेश्वरपरत्वाभावात् जरसादेशो न स्यात् । तस्मादभिप्रायेणैतद्बोद्धव्यं, ते पण्डिताः प्रकृत्याश्रितं प्रकृतावपीति न्यायमनङ्गीकृत्य भाविनि भूतवत् स्वीकारेण जसृशसोः शौ कृते प्रथमतो नुम् प्राप्नोति, तं नुमं विरिञ्चितो विष्णुर्बलवान् विष्णुतः सर्वविरिञ्चिरिति न्यायेन बाधित्वा जरसादेशं मन्यन्ते, अन्यथा व्यर्थमुक्तं स्यात् । अस्माकं मते प्रथमतो जरसादेशः, पञ्चादन्यत् कार्यमिति ॥८३॥

बाल०—अविष्णु वैष्णवे परे ॥८४॥

८५. ब्रह्मतः स्वमोर्महाहरः ।

दधि । कथं गोकुलं ? तत्राकरणात् ।

८६. ब्रह्मेशान्तानुक् सर्वेश्वरे नत्वामि ।

उकावितौ । दधिनी दधीनि । पुनस्तद्वत् ।

८७. दधि अस्थि सक्थि अक्षि शब्दानामिरामस्य अन् टादि सर्वेश्वरे ।

८८. अकृष्णस्थानसर्वेश्वरो भगवत्संज्ञस्तद्धितेयश्च ।

अत्र पाणिनीयानां प्रकृतेर्भसंज्ञा ।

अमृता०—८५. ब्रह्मत इति । अरामान्यवर्जिताद् ब्रह्मतः स्वमोः प्रत्यययोर्महाहरः स्यात् । महाहरत्वेन स्थानिवत्त्वाभावेनाग्रिमसूत्रस्य कार्यं नुक् न सम्भवेत् । कथं गोकुलमिति द्वितीयैकवचनमेव शङ्क्यं, प्रथमैकवचने तु सोरम् विधानसामर्थ्यादेव महाहरो न स्यात् । तत्र सिद्धान्तयति—तत्राकरणादिति । यद्यरामान्तशब्दादमो महाहरः स्यात्तदा पूर्वत्र हीदंक्रियेत, असिद्धरूपं नत्याज्यमिति प्रतिज्ञानुरोधात् । तेन पूर्वत्र यन्नैवं विहितं तस्मात्तन्नभवतीत्यर्थः । अत एव सूत्रमिदं अद्वयेतरत्रैव प्रवर्तितव्यमित्याशयः ।

अमृता०—८६. ब्रह्मेशान्तादिति । सर्वेश्वरादौ विष्णुभक्तौ नपुंसकात् ईशान्तात् परः नुमागमः स्यात्, आमि तु स न स्यात् । विष्णुभक्तावेव, तदन्यत्र न—मधु (मद्यं) तस्येदं माधवम् । सर्वेश्वर इतिकिम्—दधिभ्याम् । नत्वामीति—वामन गोपीराधाभ्यां नुडामीति नुड्विधेः परनिमित्तस्य स्वल्पाश्रितत्वेनान्तरङ्गत्वाद् बलवत्त्वम्, अतएवामि नुडेव । कृतेतु नुकि किदागमस्य पूर्वं सम्बन्धित्वेन प्रत्ययेन सह मेलनाभावाद् वामनस्य त्रिविक्रमो न स्यात्, नाम्-परत्वविरहात्; इत्थञ्च वारिणामित्यनिष्टरूपमापद्येत ।

अमृता०—८७. दधीति । टादिसर्वेश्वरे परे दधिप्रभृतिचतुर्णामिरामस्य अन् इत्यादिश्यते । टादीतिकिम्—दधिनी । सर्वेश्वरे इति किम् दधिभ्याम् ।

अमृता०—८८. अकृष्णेति । कृष्णस्थानानि अब्रह्मपाण्डवाः शिश्रुः; तेभ्योऽन्यः लक्ष्मी-पुरुषोत्तमयोः पाण्डवेतरः शसादिः, ब्रह्मणः शिभिन्नः शेषश्च अकृष्णस्थानः । सचासौ

बाल०—ब्रह्मतः । कथमिति सिद्धान्तमाह,—तत्रेति गोकुलमिति द्वितीयैकवचनान्तं प्रथमैकवचने तु ब्रह्मकृष्णात् सोरम् इत्यम्—विधानसामर्थ्यादेव महाहरो न भवति, यद्यमो महाहरः स्यात्तदा पूर्वत्रैवेदं विदध्यात् तस्मादरामान्तान्महाहरो न भवति ॥८५॥

बाल०—सुगमम् ॥८६॥

बाल०—दधि । ब्रह्मेशान्तात् । आमि तु परे नुक् न भवति । अतो वारीणामित्यादौ वामनगोपीत्यादिना नुटि कृते वामनस्येत्यादिना त्रिविक्रमो भवति । नुकि सति त्रिविक्रमो न स्यात् ॥८७॥

८८. वम-सत्संगहीनस्यानोऽरामहरो भगवति नतु ये, ईड्योस्तु वा ।

दधना दधिभ्याम् दधिभिः । दधने दधिभ्याम् दधिभ्य इत्यादि । डौ दधिन दधनि ।

८९. ब्रह्मणो गोविन्दो वा बुद्धे ।

हेदधे हेदधि । एवं अस्थि सक्थि अक्षि । अतिक्रान्तं दधि येन यया वा अतिदधना, गोपालेन गोपाल्या वा । स्वभावतो ब्रह्मं वा दधिशब्दो गृह्यते । ततो दधातीति दधिः, तेन दधिना । इरामस्येति किम्—पद्माक्षेण । वारि वारिणी वारीणि । २।

सर्वेश्वरश्चेति तथा । अकृष्ण स्थानसर्वेश्वरो भगवत् संज्ञः स्यात् । तथा तद्धित यरामश्च तत्संज्ञः स्यात् । चकारात् तद्धित सर्वेश्वरश्च भगवत्संज्ञो ज्ञेयः । प्रकृते भसंज्ञेति—भगवत् संज्ञकः प्रत्ययो यस्याः प्रकृते उत्तरं विधीयते तस्याः प्रकृतेरेव भगवत् संज्ञा । भगोऽस्यास्तीति भगवान् षड्लक्षणान्वितः पुरुषो नारायणः । ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञान-वैराग्ययोश्चेति षण्णा भग इतीङ्गना ।

अमृता०—८८. वमसत्सङ्गेति । भगवति प्रत्यये परे वमयोः सत्सङ्गेन संयोगेन हीनस्य अनोऽनन्तशब्दस्य अनइति यावत् अरामहरो भवति, तद्धित यरामं वर्जयित्वा । ईड्योः परयोस्तु अरामहरो वा स्यात् । ईड्योरिति—राधा ब्रह्मभ्यामौ ई इत्यत्र तथा सप्तम्येकत्वे च । तद्धिते ईपि च । तेनराज्ञी, शुनीत्यादयश्च सिध्यन्ति । आमितु दधना-मित्येव । प्रकृत्याश्रितत्वेन अन् विधेरन्तरङ्गत्वाद् बलवत्त्वम्, नुड्विधेस्तु प्रकृते बहिराश्रितत्वाद् बहिरङ्गत्वमिति नुड्विधेरिह दुर्बलता । भगवतीति किम्—राजानौ । नतु येइति किम्—राजन्यः ।

अमृता०—८९. ब्रह्मण इति । सुगमम् । ननु अतिक्रान्तं दधि येन ययावेति विग्रहे अतिदधिशब्द स्तस्मात् टाप्रत्यये पुंसि—अतिगोपिनावत् अतिदधिना तथा लक्ष्म्यां प्रिय-हर्षावत् अतिदध्या इत्येवंरूपं हरिसंज्ञाकार्यं कथं न भवेदिति चेत्तदुच्यते—दधि अस्थीत्यादि

बाल०—अकृष्ण । कृष्णस्थानेभ्योऽन्यः सर्वेश्वरस्तद्धितः यश्च भगवत्संज्ञः स्यात् ।

अत्रेति । यो भगवत्संज्ञः सप्रत्यय एव यस्याः प्रकृतेः परे स विधीयते तस्या भसंज्ञा पाणिनीयानाम् ॥८८॥

बाल०—वम । व-म-सत्सङ्गः संयोगः अन इति अनन्तस्येत्यर्थः । ईड्योः परयोः ॥८९॥

बाल०—ब्रह्म । अतिदधनेति अतिक्रान्तो दधि अतिदधिस्तेन अतिक्रान्ता दधि अति-दधिस्तया वा । ननु अतिदधनेत्यत्र पुरुषोत्तमे अतिदधिना लक्ष्म्यामिति दध्या इति कृते

वारिणा वारिभ्याम् वारिभिः । वारिणे इत्यादि । वारीणाम् ।
मधु मधुनी मधूनि ॥२॥

६१. ब्रह्मान्त त्रिविक्रमस्य वामनः ।

विश्वनि विश्वनिनी विश्वनीनि । गोकुलाम्यामित्यादौ तु नवामनः,
त्रिविक्रमविधेरुभयाश्रितत्वेन वहिरङ्गत्वात् क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रिय-
माणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति वक्ष्यमाण न्यायेन तत्रा-
करणेन वा ।

सूत्रे 'ब्रह्मणीति' विशेषोक्तेरभावाद् ब्रह्मेतरलिङ्गयोरपि दधि प्रभृति चतुः शब्दानांसम्बन्धे
एतदेव कार्यं स्यान्नतु हरि संज्ञायाः कार्यम् । तत्तु वारि मधु प्रभृतिविषयकं ज्ञेयम् । यतो
नाम्ना तु क्वचिदिति तदन्तविधिरनुसरणीयः । दधातीति दधिः—“धाञ् कृम्” इत्यादिना
कि प्रत्ययान्तः । पद्माक्षेणेति—पद्मे इव अक्षिणी यस्येति “स्वाङ्गाभ्यामक्षि-सक्थिभ्या-
मित्यनेन केशवारांस्तद्धितः । संसारहरो भगवतीति इरामहरः । एवञ्च दीर्घसक्थः
असक्थ इत्यादावपि नान् ।

अमृता०—६१. ब्रह्मान्तेति । नपुंसकस्यान्तस्थित त्रिविक्रमस्य वामनो भवति ।
अन्तत्रिविक्रमस्येति किम्—मध्यस्य न सीधु । विष्णुभक्तायेव, तेन नेह—विश्वनीत्वम् ।
विधिवलेन गोकुलाम्यामित्यादावपि प्राप्तवामनाशङ्कां निराकरोति—क्वचिदित्यादिन्यायेन ।
अत्रवामनविधानमन्तरङ्गकार्यं, प्रकृत्याश्रितत्वात् । त्रिविक्रम विधानन्तु वहिरङ्गमिति
मूले हि प्रतिपादितम् । वामने क्रियमाणे त्रिविक्रमोऽसिद्धः स्यात्तदा कस्य वामनो विधेयः ?
अतो निष्फलत्वान्न तस्य प्रवृत्तिरिति । हेत्वन्तरमप्याह—तत्राकरणेनेति । असिद्धरूप
मित्यादि प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं तत्रैवकर्तुमुचितमपि यन्नकृतं तस्मान्न स्यादित्यर्थः ।

को दोषः ? यतोऽतिवोपिना प्रियहर्षा इत्यादौ समस्तत्वेऽपि पुरुषोत्तमलक्ष्मीवद्रूपं स्यादिति
चेत् सिद्धान्तमुच्यते—‘दधि अस्थि सक्थि अक्षिशब्दानामित्यादौ ब्रह्मणीत्यविशेषणत्वेनान्-
विधानसामर्थ्यदितेषां टादिसर्वेश्वरेपरे हरिसंज्ञत्वं न व्याख्यातम् । ततो न वाच्यानुसार-
रूपत्वमिति फलितार्थं स्यादेवेति भावः । अथवा समस्तत्वेनान्यलिङ्गत्वेऽपि दधिशब्दस्य
ब्रह्मत्वमस्त्येवेति वर्णेन विधौ तदन्तस्य कार्यं नाम्ना तु क्वचिदिति न्यायेन इरामस्यान् ।
दधिनेति किप्रत्ययान्तो दधिशब्दः । पद्माक्षेणेति । पद्मे इव अक्षिणी यस्येति स्वाङ्गा-
भ्यामक्षि-सक्थिभ्यामित्यनेन केशवारांस्तद्धितः, संसारस्य हरो भववतीत्यनेन
इरामहरः ॥६०॥

बाल०—ब्रह्मान्त । गोकुलाम्यामित्यादाविति वामनप्राप्तौ हेतुमाह, क्वचिदिति ।
क्वचिदन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति न्यायेन । अत्रान्तरङ्ग-
कार्यं वामनः प्रकृत्याश्रितत्वात्, त्रिविक्रमविधानं वहिरङ्गम् । वहिरङ्गत्वं प्रतिपादयति
त्रिविक्रमेति । उभयाश्रितत्वेन हेत्वन्तरमप्याह तत्रेति ॥६१॥

६२. समानार्थतया पुरुषोत्तमतार्हमौशान्तं ब्रह्म पुरुषोत्तमवद् वा
टादिसर्वेश्वरे ।

विश्वन्या विश्वनिना । आमि विश्वन्यां विश्वनीनाम् । अत्र पुरुषोत्तमे
ब्रह्मणि च विश्वप्रेरकत्वं समानम् । असमानार्थत्वे तु पुंसिवृक्षे यथा
पीलवे ब्रह्मणि फले च तथा न किन्तु केवलं पीलुने । पूर्वत्र तद्वृक्षत्व-
मुत्तरत्र तज्जातत्वमित्यर्थभेदः ।

कृष्णरै शब्दस्य वामनइरामएव; यतः

६३. एऐ स्थाने इरामः ओऔस्थाने उरामो वामनः स्यात् ।

कृष्णरि कृष्णरिणी कृष्णरीणि । कृष्णराया कृष्णरिणा । एकदेशविकृत-
मनन्यवत्—कृष्णराम्याम् । कृष्णरायाम्, सभोरन्यत्र नात्वं कृष्ण-
रीणाम् । टामोः कृष्णराणा कृष्णराणामित्येव जुमरमतम् । आमि तु

अमृता०—६२. समानार्थेति । समानार्थत्वेन पुरुषोत्तमतामर्हतीति पुरुषोत्तमतार्हं
पुंस्त्वयोग्यं ईशान्तं ब्रह्म, तल्लक्षितशब्द इत्यर्थः । टादिसर्वेश्वरे परे विभाषया पुरुषोत्तम-
वद् भवति । यस्य शब्दस्य पुरुषोत्तमे ब्रह्मणि च समानार्थो विद्यते तादृश शब्दस्य ब्रह्मणि
टादिसर्वेश्वरे विभाषया ब्रह्मवद्रूपं भवति पक्षे पुरुषोत्तमवच्च स्यादिति सरलार्थः ।
पुरुषोत्तमवदिति—अकृतवामनास्थायां स्वाभाविकपुरुषोत्तमवदित्यर्थः । ब्रह्मपक्षेहि वामनः ।
पुरुषोत्तमवत्त्वे टामोः विश्वन्या विश्वन्यामिति । वृष्णिष्वपि विश्वन्ये इत्यादिकं पुरुषोत्तम
वज् ज्ञेयं, ब्रह्मपक्षे नुक् च । पीलुशब्दस्य प्रवृत्ते निमित्तं पुंसि वृक्षः, ब्रह्मणि तुफलमिति
प्रवृत्तिनिमित्तभेदः (अर्थभेदः); तस्मात् समानार्थत्वाभावात् पुरुषोत्तमतार्हता । एवमियुक्-
वतामपि—कृष्णस्यभू जन्म यत्र तत् कृष्णभू गोकुलम्: कृष्णभुना कृष्णभुवेत्यादि । एवञ्च
प्रियश्चि वृन्दावनम्; प्रियश्चिणा प्रियश्चियेत्यादि त्रैयम् ।

अमृता०—६३. एऐ स्थान इति । परिभाषासूत्रम् । कृष्णगातृत्वस्य पुरुषोत्तमे
ब्रह्मणि च समानत्वात् कृष्णरैशब्दोऽपि पुरुषोत्तमतार्हं ब्रह्म । कृष्णराया कृष्णराये
इत्यादीनि पुरुषोत्तमवत्त्वात् । ननु ब्रह्मान्तत्रिविक्रमस्य वामने कृते कृष्णरि-भ्यामिति
स्थिते राय आ सभोरिति कथं प्रवर्तते तदा रैस्वरूपस्याभावादिति चेत्तत्राह—एकदेशेति ।
कृष्णरायामिति पुरुषोत्तमवत्त्वे आमि । सभोरन्यत्रेति—सभोरिति लिपिकार प्रमादः ।

बाल०—समा । टादिसर्वेश्वरे परे समानार्थत्वेन पुंस्त्वार्हमीशान्तं ब्रह्मपुरुषोत्तमवद्वा
भवति । पुरुषोत्तमवत्त्वे विश्वन्यामिति च । असमानार्थत्वे त्विति, पुंसि पुरुषोत्तमे वृक्षे
वाच्ये यथा पीलवे इति भवति, ब्रह्मणि फले वाच्ये तथा न भवति, किन्तु केवलं पीलुने
इति भवति । पूर्वत्र पीलव इत्यत्र तद्वृक्षत्वं पीलुवृक्षत्वम् । उत्तरत्र पीलुने इत्यत्र तज्जा-
तित्वं पीलुवृक्षजातित्वम् ॥६२॥

कृष्णराणामित्येवोज्ज्वलदत्तमतम् । येषां विष्णुजनादि विष्णुभक्तिमात्रेऽ
प्यात्वं तेषामपि सन्निपात लक्षणत्वेन नात्वमिति प्रक्रियाकारेण तत्र
गृहीतम् । सन्निपात लक्षणं वक्ष्यते ।

सुद्यो शब्दस्य सुद्यु सुद्युनो सुद्यूनि । टादौ सुद्यवा सुद्युना । हेसुद्यो
हेसुद्यु । कर्तृ; पृथक् विधानेन ब्रह्म कार्यस्य बलवत्त्वान्न वृष्णीन्द्रः,
कर्तृणी कर्तृणि । टादौ कर्त्रा कर्तृणा । हेकर्त्ताः हेकर्तृ । एवं
प्रियक्रोष्टु प्रियक्रोष्टुनी प्रियक्रोष्टूनि । अत्रापि तृभाव इति तस्यां भ्रमः ।

अन्यार्थादिभिर्योगे पञ्चमीविधानात् सभ्यामित्येव पाठः सङ्गतः । जुमरोज्ज्वलदत्तमतेन
एवकारात् कृष्णरीणामित्यस्वीकृतम् । तेनतन्मतस्यासमीचीनतां प्रमाणयति—येषा-
मित्यादिना । येषां मते विष्णुजनादिविष्णुभक्तिमात्रे परे आरामो भवति तेषां मतेऽपि
सन्निपात लक्षणत्वेन न स्यादिति हेतोः प्रक्रिया कारेण तन्मतमुपेक्षितम् । सन्निपात लक्षणं
वक्ष्यत इति—यं दृष्ट्वा यस्योत्पत्तिः स तस्य सन्निपातः । सन्निपातलक्षणोविधिरनिमित्तं
तद्विधातायेति । अत्र इरामं दृष्ट्वा नुक् नुटोत्पत्तिरिति तौ इरामस्य सन्निपातौ; अतश्च
नुट् नुक् वा जनकघातकवत् तस्य विनाशाय नप्रवर्तत इत्यर्थः । सुद्यो शब्दस्य सुन्दर
स्वर्गवत्त्वं प्रवृत्तिनिमित्तमभिधेयमुभयलिङ्गे तुल्यमिति पुरुषोत्तमताहम् । सुद्यवेति पुरुषोत्तम
वत्त्वे । एवंसुनौ शब्दस्य च—सूनु सुनुनी सुनूनि । सुनावा सुनुना इत्यादि बोध्यम् ।

ननु कर्तृणीत्यादौ नुकः पूर्वं स्वसृतृलृत्तित्यादिना वृष्णीन्द्रः कथं न स्यात्तद्वेतुं
निर्दिशति—पृथगिति । पूर्व-परयोः पर विधिर्वलवानिति तत्त्वम् । कर्त्रेति पुरुषोत्तम-
वत्त्वात् । एवं प्रियक्रोष्टिति—प्रियाः क्रोष्टारो यस्य तत् प्रियक्रोष्टु अरण्यम् । ब्रह्मकार्यस्य
बलवत्त्वान्नतुल्यप्रत्यान्तवद् रूपमित्यर्थः । प्रक्रिया कौमुद्याभ्रमं प्रतिपादयति प्राचां मत-
प्रदर्शनेन । विप्रतिषेधस्तुल्यबल-विरोधः । काशिकामते—विप्रतिषेधेपरं कार्यमित्याचार्य

बाल०—ए ए । परिभाषासूत्रमेतत् । पुरुषोत्तमवत्त्वात् कृष्णरायेति । ननु कृष्ण-
राभ्यामित्यत्र वामने कृते 'राय आ सभोरि'ति कथं प्रवर्ततामिति चेत्तत्राह,—एकदेशेति ।
पुरुषोत्तमत्वात् कृष्णरायामिति सभोरित्यत्र सभ्यामिति पाठः सभ्यः । अन्यार्थयोगे
पञ्चम्या विधानात् । टामोरिति कृष्णराणा कृष्णराणामित्येव, न तु कृष्णरिणा कृष्ण-
रीणामिति ।

आमि त्विति । टापरत्वे कृष्णराणेति नोज्ज्वलदत्तमतम् । येषामिति । येषां मते
विष्णुजनादिकविष्णुभक्तिमात्रे परे आद्भवति, तेषां मतेऽपि टामोः सन्निपातलक्षणत्वेन
आन्न भवति । इति प्रक्रियाकारेण तन्मतं न गृहीतम् । सन्निपातेति 'यं दृष्ट्वा यस्योत्पत्तिः
स तस्य सन्निपातः, सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधाताये'ति । अत्र इरामं दृष्ट्वा नुको
नुटश्च उत्पत्तिरतो नुक् नुट् च इरामस्य सन्निपातः । अतो नुक् नुट् च इरामस्य आरामा-
देशरूपविधाताय निमित्तं न भवति । पुरुषोत्तमवत्त्वात् सुद्यवेति । ननु कर्तृणी इत्यादौ

तृभावात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुम् नुटौ भवत इति काशिका । परत्वान्नुमा
क्रोष्टृभावो बाध्यत इति पदचन्द्रिका । आगमविधिर्वलवानिति
कातन्त्रो विस्तरश्च । प्रियास्तिस्रो यस्मिन् गोकुले तत्प्रियत्रि । महा-
हरत्वेऽपि तिसृभावः काशिकादौ दृश्यते, प्रियतिसृ । यद्येवं तर्हि विष्णु
भक्तावित्यस्य प्रत्युदाहरणन्तु त्रित्वमिति तद्धितादावेव ज्ञेयम् । प्रिय-
तिसृणी प्रियतिसृणि । प्रियतिस्रा प्रियतिसृणा । डसिडसोः प्रियतिस्रः,
रविधानस्य नित्यत्वात् । एवंप्रियचतसृ । विस्तरकारस्तु विकल्पयति ।
तेन प्रियत्रि प्रियचतुरित्यपि ।

सूत्रात् परौ नुम् नुटावेव भवतो नतु तृभाव इति । पदचन्द्रिकामते—पूर्वपरयोः परविधि
र्वलवानिति न्यायेन नुमः परत्वात् तदेव भवतीति । कातन्त्र-विस्तरयोर्मते—विरिञ्चितो
विष्णु र्वलवानिति न्यायेन नुग्विधेर्वलवत्त्वान्न हि तृभाव इति । तदेतत्सर्वं स्व-मत-समर्थकं
प्रक्रियामतविधातकञ्च । तेन काशिकादिमत-सम्मतस्मन्मते—यत्र नुको नुटश्च विषय
स्तत्र तृभावो न स्यात् । अर्थात् ब्रह्म पक्षीयपदसाधने नुका तृभावो बाध्यते—प्रियक्रोष्टुना
प्रिय क्रोष्टुने इत्यादीनि । पुरुषोत्तमवत्त्वे तु पुरुषोत्तमवदेव भवन्ति रूपाणि आसुवर्जम्—
प्रियक्रोष्टुना प्रियक्रोष्ट्रा, प्रियक्रोष्टवे प्रियक्रोष्ट्रे इत्यादीनि । आसि तु नुटस्तृभाव-
बाधकत्वात् प्रियक्रोष्टूनामित्येकमेव पक्षत्रयेऽपि ।

महाहरत्वेऽपि तृभाव इति—काशिकादौ लुक्-लोपयोः सतोः प्रत्ययकार्यं निषेधस्य
अनित्यता मन्यते । एवञ्च सति तिसृ चतस्रादेशसूत्रे विभक्तावित्यनुवृत्तेः कुतस्तद्
व्यावृत्तिः ? अतस्तदुपपत्तिं दर्शयति—यद्येवमित्यादिना । स्वमते तु महाहरे सति प्रत्यय-
लक्षण कार्यस्यानुपपत्तेः प्रियत्रि इत्येव । विष्णुभक्त्यामेव त्रिचतुरोस्तिसृचतसृभाव इष्टः,
यदितौ स्त्रियां वर्त्तन्ते । समस्तस्यावयवस्यलक्ष्मीत्वेऽपि तयोरन्यलिङ्गस्थयोस्तु तत्तदादेशौ
नैवेष्टौ । यथा प्रियास्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिरिति भक्तिवत् ।

नुकः पूर्वं 'स्वसृ-तृल्-तृणप्रत्ययानां वृष्णीन्द्रं सुवर्जं पाण्डवेष्वि'त्यनेन वृष्णीन्द्रः कस्मान्न
स्यादिति चेत्तत्राह । पृथगिति पुरुषोत्तमवत्त्वात् कर्त्रेति । अत्रापीति । तस्यां प्रक्रिया-
कौमुद्याम् । तृभावाभावे शास्त्रान्तराणि प्रमाणयति तृभावादिति । परत्वादिति । आगम
इति च । विप्रतिषेधेन उभयप्राप्तिविरोधेन नुम्-नुटौ भवतः परत्वादिति शेषः । प्रियक्रोष्टि-
त्यत्रापि परत्वात् । प्रथमं महाहर एव भवतीति ज्ञेयम् । प्रिया इति प्रियास्तिस्रो यस्मिन्
तत् प्रियत्रीति स्थिते सोर्महाहरत्वेऽपि तिसृभावो दृश्यते । अत्र त्रिशब्दस्य लक्ष्मीस्थत्वं
विद्यत एवेति 'लक्ष्मीस्थयोस्त्रिचतुरोस्तिसृ-चतसृ विष्णुभक्तावि'त्यनेन तिसृभावः । यद्येव-
मिति यदि महाहरत्वेऽपि तिसृभावः स्यादित्यर्थः । तिसृणां भावस्त्रित्वम् । अत्रेति शब्द
आद्यर्थः । अन्यथा तद्धितादावित्यनेन सहासङ्गतिः स्यात् । इति हेतुप्रकरणप्रकाशादि-
समाप्तिष्विति नानार्थवर्गः । पुरुषोत्तमवत्त्वात् प्रियतिस्रेति । डसि-डसोः प्रियतिस्र इति,

सान्वादिषड्दानां स्वत एव द्विलिङ्गता, सानुने सानवे । स्नुप्रस्थ-
सानुरस्त्रियामित्यमरः । मधुशब्दानन्तरमेवम् अम्बुसान्वादय इति प्रक्रिया
तु चिन्त्या ।

॥ इति सर्वेश्वरान्त-नपुंसकलिङ्गाः ॥

पुरुषोत्तमवत्त्वपक्षे इति शेषः । पक्षे प्रियतिमृण इत्यपि भवतीति ज्ञेयम् । ननु प्रियतिस्र
इत्यत्र 'ऋरामतो डसि डसोरस्य उच्' इत्यनेन उच् कथं न स्यादिति चेत्तत्राह,—र वि-
धानस्य नित्यत्वादिति । उच्चि कृते न कृतेऽपि रः प्राप्नोतीति रविधानस्य नित्यत्वमतो
वलवत्त्वञ्च, अतः प्रथमं रराम एव भवति । ननु रविधानसूत्रे गोविन्दत्रिविक्रमोरामाणाम-
पवाद इत्युक्तम् । अत उच् न प्राप्नोत्येव तर्हि रविधानस्य नित्यत्वादिति कथमत्रोच्यते
इति चेत्तत्रोच्यते सिद्धान्तसमुच्चयोऽयम् । प्रियचतस्रिति प्रियाश्चतस्रो यस्मिन् तत् ।
सान्वादीति स्वत एव स्वस्मिन्नेव स्वभावत एवेत्यर्थः ।

मध्विति । मधुशब्दस्य ब्रह्मत्वमेव सान्वादीनान्तु द्विलिङ्गता । अतःप्रक्रिया न
सङ्गच्छते ॥६३॥

॥ इति सर्वेश्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥

रविधानस्य नित्यत्वादिति हेतुस्तु उच्वाधपरः । गोविन्द-त्रिविक्रमोरामाणामपवाद इति
प्रागुक्तेरेव प्रपञ्चोऽयम् । नहि सनुक्वाधकपरः, पुरुषोत्तमताहंत्वात् तत् पक्षेहि रविधिः,
पक्षान्तरे तु नुकोऽवाध्यत्वात् प्रियतिमृण इत्यपि । मधु शब्दस्य ब्रह्मत्वं सान्वादीनान्तु
द्विलिङ्गता कोषसिद्धा । अतो मधुशब्दवदेषां रूपमसङ्गतम् चिन्त्या पदेन प्रक्रियाया
अनवधानता बोधिता ।

॥ इति व्याख्याताः सर्वेश्वरान्तनपुंसकलिङ्गाः ॥



अथ विष्णुजनान्तपुंलिङ्गाः ।

तत्र च रामान्ताः केचनशब्दा वाच्यलिङ्गाः ।

तत्र प्रत्यक् । प्रतिपूर्वादिञ्चुधातोः क्विप्प्रत्ययः ।

क्विप्लोपो नलोपश्च । यत्वं, ततः प्रत्यच् शब्दात् स्वादयः ।

६४. अचश्चतुर्भुजानुवन्धानाश्च नुमूकृष्णस्थाने ।

राधाविष्णुजनान्ताम्यामिति सोर्हरः ।

६५. तवर्गस्य चवर्गश्चवर्गयोगे ।

६६. सत्संगान्तस्य हरो विष्णुपदान्ते ।

अथ विष्णुजनान्तपुंलिङ्गाः शब्दा दृश्यन्ते ।

तत्र विष्णुजनान्तेषु । तत्रपुनश्चरामान्तेषु । क्विप् लोप इति—केवलस्य प्रत्यय वेर्हर इत्यनेन । न लोपइति—“अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामुद्धवनरामहरः कंसारौ” इत्यनेन । यत्वं सर्वेश्वरसन्धिनेत्यर्थः ।

अमृता०—६४. अच इति । कृष्णस्थानेपरे अञ्चुधातोः क्विवन्तस्य, चतुर्भुजः अनुवन्ध इत् येषां तेषाञ्च शब्दानां नुमागमो भवति । अन्त्य सर्वेश्वरात् परं मितः स्थान-मित्यनेन प्रत्यञ्च् इति स्थितम् । अञ्चुधातोःरामेत्त्वेन चतुर्भुजानुवन्धत्वेऽपि पृथगुपादानं ज्ञापयति—चतुर्भुजानुवन्धानामधातनां शब्दानां हि नुमागमः स्यात् धातूनां मध्ये अञ्चतेरेव नान्यस्येति नियमः । एतच्चाग्रे मूले एवव्यक्तीभविष्यति । नचात्र सोर्हरे कृष्णस्थानरूप-निमित्तापायान्नैमित्तिकस्य नुमोऽपायः शङ्क्यः, सोर्हरत्वेन तस्य स्थानिवद्भावइष्ट इति ।

अमृता०—६५. तवर्गस्येति । चवर्गेण सहयोगे सति तवर्गस्य चवर्गः स्यात् । चवर्गयोगश्च पूर्वस्थेन परस्थेन वेति ज्ञेयम् । पूर्वस्थितेन प्रियपञ्च; इत्यादि । इह तु परस्थितेन चरामेण चहयोगे नरामस्य ग्रामः ।

अमृता०—६६. सत्संगेति । विष्णुपदान्ते विषये सत्सङ्गस्यान्तस्य हरो भवति । विष्णुपदान्त इति किम्—प्रत्यञ्चौ ।

तत्रेति । तत्र विष्णुजनान्तेषु । तत्रेति तत्र चरामान्तेषु । नलोपश्चेति ‘अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामुद्धवनरामहरः कंसारावि’त्यनेन । ‘इद्वयमेव यः सर्वेश्वर’ इत्यनेन यत्वम् ।

बाल०—अचः । अञ्चुधातोः क्विपि तल्लोपे नलोपे च कृते यदच इति भवति तस्य । चतुर्भुजानुवन्धा इतो येषां तेषाञ्च ॥६४॥

बाल०—तवर्गस्य । अत्रानेन नरामस्य ग्रामः ॥६५॥

बाल०—सत्सङ्गान्त । विष्णुपदान्ते विषये ॥६६॥

६७. चवर्गस्य कवर्गो विष्णुपदान्ते वैष्णवेत्वसवर्गे ।

प्रत्यङ् ।

६८. विष्णुजनस्यद्वित्वं वा विरामे ।

विरामो परवर्णादर्शनम् । प्रत्यङ् । सवर्गे तु प्रत्यञ्चौ प्रत्यञ्चः । प्रत्यञ्चम् प्रत्यञ्चौ । कथं तच् शौरेः भवगाञ्चशूरः ? तत्राकरणात् ।

६९. अचोऽरामहरो भगवति पूर्वस्य त्रिविक्रमश्च ।

निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय इति न्यायेन यरामस्य इरामस्ततस्त्रिविक्रमः । प्रतीचः प्रतीचा ।

१००. पूर्वस्य विष्णुपदवत्त्वं स्वादितद्वितयो रय-सर्वेश्वराद्योः ।

प्रत्यगभ्यामित्यादि । चवर्गस्य त्यादौ वैष्णवग्रहणं केवलधात्वर्थम्, अन्येषामपि सूत्राणांतत्पर्यन्तव्याप्तेर्ज्ञापकम् । एवं प्राचः । तथा पित्रच्

अमृता०—६७. चवर्गस्येति । विष्णुपदान्ते विषये चवर्गस्य कवर्गो भवति; वैष्णवे परेत्वसवर्गे तस्मिन् सति चवर्गस्य कवर्गः स्यात् । तेनात्र अरामस्य इरामः ।

अमृता०—६८. विष्णुवति । विरामेसति विष्णुजनस्य द्वित्वं वा स्यात् । ननु तच् शौरेरित्यादौ छत्वाभावपक्षे असवर्गं वैष्णवस्य परत्वेऽपि कथं न कवर्गत्वमित्याशङ्कायां समादधाति—तत्राकरणादिति । विकल्पविधानसामर्थ्यादेव तत्र न स्यादिति भावः ।

अमृता०—६९. अच इति । भगवति प्रत्यये परे लुप्तनरामस्य अञ्चते ररामस्य हरो भवति, सञ्जातहारात् अरामात् पूर्वस्थस्य वामनस्य त्रिविक्रमश्च भवति । प्रतीच इत्यादौ अन्तरङ्गे त्रिविक्रमे कर्तव्यः वहिरङ्गः अरामहरो नासिद्धः, अतोमहरं मत्वेव त्रिविक्रमस्य प्रवृत्तेः । अतश्च निमित्तापाये नैमित्तिकस्यापायो युज्यत एव । अत्र निमित्तं अरामः, नैमित्तिको यरामः । भगवति किम्—प्रत्यञ्चौ ।

अमृता०—१००. पूर्वस्येति । विष्णुपदमस्यास्तीति विष्णुपदवत्, तस्य भावः तत्त्वम् । पूर्वशब्दस्य प्रकृतिबोधकत्वेऽपीह-नामबोधकत्वमनिलक्ष्य ब्रह्मत्वम् । य-सर्वेश्वरादिभिन्नयोः स्वादि तद्वितयोः परयोः पूर्वस्य नाम्नो विष्णुपदवत्त्वं स्यात् । तत्र यावत्सम्भव विधिना

बाल०—चवर्गस्य । विष्णुपदान्ते विषये चवर्गस्य स्थाने कवर्गो भवति । वैष्णवे तु परे तस्मिन् वैष्णवे असवर्गे सति चवर्गस्य स्थाने कवर्गो भवति । अत्रानेन अरामस्य इरामः ॥६७॥

बाल०—विष्णु । कथमिति सिद्धान्तमाह, तत्राकरणादिति ॥६८॥

बाल०—अचोऽराम । निमित्तापाय इति निमित्तमत्रारामः नैमित्तिको यरामः ॥६९॥

बाल०—पूर्वस्य । य-सर्वेश्वरादिभिन्नयोः स्वादि-तद्वितयोः परयोः पूर्वस्य विष्णुपदवत्त्वं भवति । प्रत्यगभ्यामिति । विष्णुपदवत्त्वात् 'चवर्गस्ये'त्यादिना चरामस्य करामः,

इत्यस्य शसि पितृचः । अनन्तस्यैव त्रिविक्रम इति तस्यां भ्रमः,
तदधिकार निवृत्तोः । तिर्यच् । तिर्यङ् तिर्यश्चौ तिर्यश्चः । तिर्यञ्चम्
तिर्यश्चौ ।

१०१. तिर्यचस्तिरश्चिरुदग उदीचिर्भगवति ।

इराम इत् । तिरश्चः । तिरश्चा तिर्यग्भ्याम् तिर्यग्भिः । एवं उदच् ।

स्वादौ सर्वेश्वरादि प्रत्यय वर्जनं, तद्धिते तु यराम-सर्वेश्वरादि प्रत्ययवर्जनं बोध्यम् । व्युत्क्रम
निर्देशस्तु स्वल्पाक्षरस्य पूर्वनिपातानुरोधात् । विष्णुभक्तिसिद्धेः प्राग् विष्णुपदत्वं नैव
सम्भवेदिति तदघटनार्था परिभाषेयम् । विधीयमाना नराम हरादिकार्यविशेषाः पूर्वस्य
विष्णुपदवत्तां मत्वैव सिध्येयुः, ततश्च तत्तत्कार्याणि समपेक्ष्य हि शब्दस्य विष्णुपदत्वं
मन्यते, नकिन्तु सिद्धविष्णुपदत्वं तस्य विधीयत इति विभाव्यम् । विष्णुपदत्वमननेन यथा
हि नलोपः—राजभ्याम्; मोनः—प्रशान्; दरामः—विद्वत् सु, करामः—गोरक्षु, विष्णुसर्गः—
पयःसु अहोभ्यामित्यादीनि दर्शयिष्यन्ते । एवञ्च तद्धिते राजत्वं पयस्विनीत्यादौ विष्णु
पदत्व कार्यं द्रष्टव्यम् । अ-य-सर्वेश्वराद्यो रिति किम्—प्रत्यञ्चः राजानौ । तद्धिते—राजन्यः
सुप्रेम्नीत्यादि ।

ननु प्रत्यग्भ्यामित्यत्र वैष्णवपरतास्त्येव, तयैवेष्टसिद्धौ पूर्वस्य विष्णुपदवत्त्वविधान-
मिह निष्फलमिति चेत्तत्राह—चवर्गस्येति चवर्गस्य कवर्गविधानसूत्रे यद् वैष्णव इति
परनिमित्तमुक्तं तत्तु केवलधातुविषयकम् । अनेन च वैष्णवग्रहणेन ज्ञाप्यते—अन्यानि च
नामप्रकरण सूत्राणि धातुपर्यन्तं व्याप्नुवन्तीति । ननु च कथं तर्हि—सर्वगतु प्रत्यश्चौ प्रत्यञ्च
इति प्रत्युदाहरणं सङ्गच्छते ? मैवम्, अञ्चतेः किवन्तस्य धातुत्वसत्त्वान्नासङ्गतमिति ।
प्रत्यग्भ्यामित्यत्र विष्णुपदवत्त्ववर्गस्य कवर्गं स्ततो विष्णुदासो विष्णुपदान्त इति हरिगदा ।
प्राच—प्राङ् प्राश्चौ प्राश्चः । शसादौ प्राचः प्राचा इत्यादि । पितृचिति पितरमञ्चतीति
पितृपूर्वादिञ्चु धातोः किवप् । शसि-अचोऽरामे हरे नैमित्तिकस्य ररामेस्य चापाये ऋराम
एव, ततस्त्रिविक्रमः—पितृच इति । तस्यां प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमइति सर्वेषाममतत्वात् ।
तदधिकारनिवृत्तोः अनन्ताधिकारनिवृत्तो रित्यर्थः । वस्तुतस्तत्र 'चौ' इतिपाणिनिसूत्रस्य-
त्रितयोपरिष्ठात् 'इकः सुत्रि' इत्यस्मादिक एवानुवृत्तिर्युक्ता ।

अमृता०—१०१. तिर्यच् इति । भगवति परे तिर्यच्स्थाने तिरश्चि स्तथा उदच्

'विष्णुदासो विष्णुपदान्ते' इत्यादिना करामस्य गरामः । ननु प्रत्यग्भ्यामित्यादौ यदि
विष्णुपदवत्त्वेनैव चवर्गस्य कवर्गः कृतस्तर्हि चवर्गस्येत्यादौ वैष्णवग्रहणम् किमर्थं कृतमिति
चेत्तत्राह चवर्गस्येत्यादाविति । 'चवर्गस्य कवर्गो विष्णुपदान्ते वैष्णवे त्वसवर्ग' इत्यस्मिन्
लक्षणे वैष्णवग्रहणं केवलधात्वर्थम् । अन्येषां नामजविष्णुपदसम्बन्धिनां सूत्राणामपि
धातुपर्यन्तप्राप्तेर्जापिकञ्च तथेति । तथा तेन पूर्वोक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः । पितृच इति 'अचोऽ-
रामहर' इत्यादिना अरामहरे कृते 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय' इति न्यायेन
रराम य ऋरामस्ततस्त्रिविक्रमः । तदधिकारनिवृत्तेरनन्ताधिकारनिवृत्तिः ॥१००॥

उदङ् उदञ्चौ, उदश्चम् उदीचः उदीचा इत्यादि । कुञ्च् कुङ् कुञ्चौ
कुञ्चः । कुञ्चम् कुञ्चौ कुञ्चः । कुञ्चा कुङ्भ्याम् कुङ्भु । एवमञ्चुपूजार्थे
प्रत्यञ्चः प्राञ्चः ।

ओदृश्च छेदने धातुर्दन्त्यमध्यः । ओऊरामावितौ ।

१०२. सस्य शश्चवर्गयोगे ।

ततो व्रश्च् इतिस्थिते तस्य दैत्यशब्दपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययलोपे ररामस्य
ऋरामः—दैत्यवृश्च् सोर्हरः ।

१०३. छशो राज् यज् भ्राज् परिव्राज् सृज् मृज् भ्रसृज् व्रश्चां च

स्थाने उदीचिरादिश्यते । भगवति किम्—तिर्यञ्चौ तिर्यग्भ्याम् । कुञ्च् इति कुञ्च्
कौटिव्यात्पीभावयोः धातुर्नलोपाभावेन क्विपि निपातः । कुङ् पक्षि विशेषः । कुङ्प्विति—
ईश्वर हरिमित्रेत्यादिना पत्वम् । शौरीण्डाम्यां टकौ वेति कुङ्क्षु इत्यपि । पूजार्थे प्रत्यञ्च
इति—अञ्चेः पूजायां नलोपाभाव इति नलोपनिषेधः । नुम्विधानसूत्रे अरामहर सूत्रे च
लुप्तनरामस्यैव अच उपादानान्नात्र नुम् नवा अचोऽराम हरः । सुपि प्रत्यङ्पु प्रत्यङ्क्षु ।
एवं पित्रङ्पु पित्रङ्क्षु, तिर्यङ्पु तिर्यङ्क्षु गत्यर्थे तु केवल प्रत्यङ्क्षु इत्यादि । खजिधातोः
क्विपि खन्ज् शब्द स्तस्य सत्सङ्गान्तहरे—खन् खञ्जौ खङ्भ्याम् खङ्पु खङ्क्षु ।

अमृता०—१०२. सस्येति । चवर्गयोगश्च पूर्वतः परतो वेति ज्ञेयम्, इदयोः परतः ।
अचश्चु इत्यादौ तु पूर्वतः । ररामस्य ऋराम इति—ग्रहिज्या व्ययि व्यधि वशि व्यचि
व्रश्चि प्रच्छि भ्रसृजीनां सङ्कर्षणः कंसारावित्यनेन सोर्हर इति—राधाविष्णुजनाभ्या-
मित्यादिना ।

अमृता०—१०३. छशोरिति । विष्णुपदान्तेविषये वैष्णवे च परे छराम-शरामयोः
स्थाने राजादीनामन्तवर्णस्थाने च पराम आदिश्यते । तत्रछस्य शोवस्य ऊदित्यादिना

बाल०—तिर्यच् । भगवति परे तिर्यचः स्थाने तिरश्चिर्भवति, तस्मिन्नेव परे उदचः
स्थाने उदीचिर्भवति । कुङ्प्विति 'ईश्वर-हरिमित्र-क-ङ्भ्य' इत्यादिना पत्वम् । पूजार्थे
इति 'अञ्चेः पूजायां नलोपाभाव' इत्यनेन, पूजार्थे नलोपनिषेधः, प्रत्यगादिशब्दानां
सप्तमीबहुवचने प्रत्यङ्क्षु प्रत्यङ्प्वित्यादयः प्रयोगाः प्रसिद्धाः । अन्येषां मतन्त्वेवं शपसे
वर्गाद्यास्तद्वितीय इत्यनुपदकारा आहुः, तन्मते प्रत्यक्खु इत्यादयः । पक्षे यथासम्भवं
द्वित्वादिकं ज्ञेयम् । केचिन्मते वर्गादिस्तद्वितीयः शपसे वा इत्यनेन, तन्मते प्रत्यक्खु
प्रत्यक्खु सु इत्यादिकमिति । दन्त्यमध्यो दन्तवर्णमध्यः ॥१०१॥

बाल०—सस्य । तस्य व्रश्च इत्यस्य । ररामस्य ऋरामः । इति 'ग्रहि-ज्या-व्ययि-
व्यधि-वशि-व्यचि-व्रश्चि-प्रच्छि-भ्रसृजीनां सङ्कर्षणः कंसारावि'त्यनेन । 'सपरसर्वेश्वर-
यवराणामि-उरामदेशः सङ्कर्षणसंज्ञ' इति । सोर्हर इति 'राधाविष्णुजनाभ्या'मि-
त्यादिना ॥१०२॥

शोविष्णुपदान्ते वैष्णवे च ।

अथ नैमित्तिकापाये दन्त्यमध्य एव ।

१०४. स्कोः सत्संगाद्यो हरो विष्णुपदान्ते वैष्णवे च ।

१०५. षस्य डो विष्णु पदान्ते हरिघोषे च ।

१०६. विष्णुदासस्य हरिकमलं वा विरामे ।

दैत्यवृट् दैत्यवृड् दैत्यवृश्चौ दैत्यवृश्चः । दैत्यवृड्भ्यां दैत्यवृट्सु । जलमुच् ।
सत्सङ्गान्त हरेणैव सुलोपसिद्धौ राधाविष्णु जनाभ्यामित्यत्र विष्णुजन-
ग्रहणवलात् नात्रस्कोरिति हरः । जलमुक् जलमुग् जलमुचौ जलमुचः ।

छरामस्य शरामे प्राप्तेऽपि पुनरिह द्वग्रहणं पृच्छादीनां प्रष्टा प्रष्टु मित्यादि सिध्यर्थम् ।
अन्यथा तत्र कंसारि वैष्णवस्यनिमित्तत्वनिर्देशात् पृष्टः पृष्टवानित्याद्येव सिध्येत् नतु
प्रष्टादि । अतइह छरामस्य कंसारीतर वैष्णवेहि पविधानं ज्ञेयम् । निज्भ्यामिति वत्
शरामस्य जरामे प्राप्ते, राजादीनाञ्च वक्ष्यमाणसूत्रेण कत्वेप्राप्ते तत्तदपवादो परामोऽयं
विहितः । छशोरिति धातोरेव, तथाराजादीनामष्टानामिह धातुस्वरूपो निर्दिष्टः । प्रच्छ-
प्राट्, विश-विट् । राजादीनां—सम्राट् देवेट् परिभ्राट्, विश्वमृट्, मन्दिरमृट्, धानाभृट्,
दैत्यवृट् । नैमित्तिकः शरामः, निमित्तां चरामः, अत्रापि वैष्णवग्रहणं धात्वर्थम् । विष्णु-
पदान्त इति किम्—दैत्यवृश्चौ । वैष्णवे किम्—वृश्चति ।

अमृता०—१०४. स्कोरिति । विष्णुपदान्तेविषये वैष्णवे वा परे सत्सङ्गाद्य स्थि-
तयोः सरामकरामयो हरो भवति । चकारो विभाषार्थकः । विषयेइति प्रायःशब्दसाधनपरं
परे इतितु प्रायोधातुपरं ज्ञेयम् वैष्णवे—अभाक्षीत्, अमांक्षीत् । सत्सङ्गाद्योरिति किम्—
अमाक्षीत्, हिंस्तः । विष्णुपदान्ते किम्—प्रत्यक्षु । वैष्णवे किम्—वक्ष्यति शिक्षते ।

अमृता०—१०५. षस्येति । विष्णुपदान्ते विषये हरिघोषे चपरे परामस्य डरामः
स्यात् । हरिघोषे—अकृड्ढ्वम् ।

अमृता०—१०६. विष्ण्विति । परवर्णस्यादर्शने सति विष्णुद सस्य स्थाने हरिकमलं
वादिष्यते । विष्णुदासस्येति किम्—प्रत्यङ् । विरामे किम्—दैत्यवृड्भ्याम् । दैत्यवृट्सु
इति—षस्य डे कृते यादवमात्रे हरिकमलमिति डरातस्य डरामः । पक्षे तुकि च दैत्य
वृट्सु । ननुजलमुच्शब्दस्यसौ चरामस्य करामेकृते सुलोपात् प्राक् स्कोरित्यादिना

बाल०—छशो राज् । विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे च परे छशोः स्थाने राज-
यजादीनामन्तस्य च स्थाने पो भवति । अथेति । नैमित्तिकोऽत्र शरामः ॥१०३॥

बाल०—विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे च परे सत्सङ्गादिस्थितयोः सराम-कराम-
योहरो भवति ॥१०४॥

बाल०—षस्य । विष्णुपदान्ते विषये हरिघोषे च परे षस्य स्थाने डो
भवति ॥१०५॥

जलमुग्ध्याम् । पाणिनीयाः प्रत्याहार वाचिनामच् शब्दादीनां उज्
नञ् अनुकरणस्य च न कवर्गादित्वम् । अच् अचौ अचः । अज्भ्याम्,
सस्य शः अच्शु, छत्वे-अच्छु । उज् उजौ उजः । यदुराज्—यदुराट्
यदुराड् यदुराजौ यदुराजः । भ्रस्ज् धातोः क्विपि भृज्—भृट् भृड्
भृजौ भृज्जः ।

करामहरः कथं न प्रवर्तते ? तत्राह—सत्सङ्गान्तेति । सत्सङ्गान्तस्य हरो विष्णुपदान्त
इत्यनेनैव विष्णुजनात् परस्य सोर्हरः सिध्यतीति राधाविष्णुजनाभ्यामित्यत्र विष्णुजन
ग्रहणमनर्थकं स्यात् । अतस्तत्र विष्णुजनग्रहणसामर्थ्यात् प्रथममेव विष्णुजनात् परस्य
सोर्हरो भवति, तदा च करामस्य तत्सङ्गाभावः । तत्र विष्णुजनग्रहणस्यायमाशयः—
सत्सङ्गान्तहरलक्षणस्य बह्वाश्रितत्वाद् बहिरङ्गता, स्कोरित्यस्य तु स्वल्पाश्रितत्वादन्त-
रङ्गता । इतिस्थिते यदि तत्र विष्णुजनग्रहणं न क्रियेत तदा अन्तरङ्गस्य बलवत्त्वेन स्कोरिति
सत्सङ्गाद्यहरस्य प्रवृत्तेः जलमुरित्येवमनिष्टरूपमपद्येतेति । जलमुग् मेघः । जलमुगिति—
चवर्गस्यकवर्गे कृते विष्णुदासो विष्णुपदान्त इत्यादि सन्धिसूत्रेण करामस्य गरामः, ततो
विष्णुदासस्य हरिकमलं वाविरामे, पक्षे गरामस्य च स्थितिः । एवमग्रेऽपि योज्यम् ।
पाणिनीया इति—अल्पाक्षरेण बहुवर्णानां ग्राहकरूपा संज्ञैव प्रत्याहार उच्यते, तंवक्तुं
शीलमेवामिति प्रत्याहार वाचिनः, अच् इच् हल् प्रभृतयः, तेषां, उज् नञ् इत्यव्यययोस्तथा
अनुकरणशब्दानाञ्च कवर्गादिकं न मन्यन्ते पाणिनीयाः ।

कवर्गादित्वामिति—आदिपदेन हरिगदानिपेधादिर्वोध्यः । तेनअच्भ्यामित्यत्र न
कवर्गो न वा हरिगदा । अजन्त इत्यादौ तु सूत्रनिर्देशवलात् सन्धिनिपेधस्यानित्यता ।
अनुकरणं तावद् द्विविधम्, शब्दानुकरणमर्थानुकरणञ्च । व्यक्ताव्यक्तभेदेन शब्दानुकरणं पुन
द्विविधम् । व्यक्तञ्च पुन भेदाभेदविवक्षया द्विविधम् । यथा—रिपवः पडिति भेदे, अभेदे—
अयमाहगविति । अव्यक्तम्—पटपटिति शिलावर्पति । अर्थानुकरणन्तु तुल्यशब्दयोजनम् ।
तत्रशब्दानुकरणस्येह निषेधः कृतः । सस्य शः—चवर्गयोग इति शेषः । छत्वे इति—ततः
शश्छोवेत्यनेन । भृजिति—ग्रहिज्येत्यादिना सङ्कर्षणः, सस्यजो जे नतु वैष्णव इत्यनेन
सरामस्य जत्वम् । भृडिति—छशोरिति पत्वं, निमित्तापायात् जरामस्य पुनः सरामः, ततः
स्कोः सत्सङ्गाद्यो हरे धस्य डः, हरिकमलञ्च ।

बाल०—विष्णु । विरामे परवर्णदर्शने । दैत्यवृट्स्विति पस्य डे कृते 'यादवमात्रे
हरिकमलमि'त्यनेन डरामस्य डरामः । ननु जलमुगित्यत्र चवर्गस्येत्यादिना चरामस्य
करामे कृते स्कोरित्यादिना करामहरः कस्मान्न—स्यादिति चेत्तत्राह,—सत्सङ्गान्तेति ।
'सत्सङ्गान्तस्य हरो विष्णुपदान्ते' इत्यनेनैव विष्णुजनात् परस्य सोर्हरः सिध्यतीति ।
'राधाविष्णुजनाभ्यामि'त्यत्र विष्णुजनग्रहणमनर्थकं भूतं, तस्मात्तत्र विष्णुजनग्रहण-
सामर्थ्यात् प्रथमं सोर्हरो भवतीति । जलमुगिति चरामस्य करामे कृते 'विष्णुदासो
विष्णुपदान्त' इत्यादिना करामस्य गरामः । पक्षे गरामस्यैव स्थितिः । एवमन्यत्रापि ।

१०७. स्रज् दिश् दृश् ऋत्विज् उणिह् दधृष् अनुदकपूर्व स्पृश्
तादृश् इत्यादीनां को विष्णुपदान्ते ।

ऋतौ यजति ऋत्विक् ऋत्विग् ऋत्विजौ । युजः पुंसि ।

१०८. युजोऽसमस्तस्य नुमृकृष्णस्थाने नतु समाधौ ।

अत्र सुटीति तस्यां भ्रमः । युङ् युञ्जौ युञ्जः । युग्भ्याम् । समस्तरय
समाध्यर्थस्य च न नुम् । कृष्णयुक् कृष्णयुग् कृष्णयुजौ कृष्णयुजः । कृष्ण-
युग्भ्याम् । युक् युग् युजौ ।

ऊर्जः पुंसि ।

अमृता०—१०७. स्रजिति । विष्णुपदान्तेविषये स्रजादीनामन्त्यवर्णं स्थाने करामो
भवति । उदकशब्देतरशब्दपूर्वस्य स्पृशः अन्त्यस्थाने करामः स्यादित्यर्थः । एते सर्वे एव-
क्विवन्ताः । तत्र स्रजिति क्विवन्तनिपातस्य मालार्थस्य ग्रहणम् । सामान्यक्विवन्तस्य तु
छशोरित्यादिना पराम एवेति दर्शितम् । इत्यादिपदेन ईदृश् कीदृश् अमूदृश् सदृश्
अन्यादृशादयोग्राह्याः । छशोरित्यादिना परामे प्राप्ते विधिरयं करामार्थः ।

अमृता०—१०८. युज इति । कृष्णस्थाने परे असमस्तस्य युजो नुमागमो भवति ।
किन्तु युजसमाधावित्यस्य क्विवन्तस्य समस्तस्य च स न स्यात् । सुटीतितस्यांभ्रमइति—
तन्मते पाण्डवस्य सुट्संज्ञा । तेन च ब्रह्मणिशिपरे अश्यान्तेः; सुटीति विधानसामर्थ्याच्च
सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयोरिति ब्रह्मकार्यं नुमपि न स्यात् । ततो 'युजि' इत्येवमनर्थरूपं सम्पद्ये-
तेति भ्रमएव । तत्र सर्वेरेव नुमइष्टत्वात् सर्वनामस्थानरूपं निमित्तं निवेशितम् । ततो
'युञ्जि' इत्येव शुद्धरूपम् । कृष्णयुगिति—कृष्णयुनत्तीति विग्रहेकृतसमासः । संयोजनार्थं
इह युज्धातुः । युगिति—समाधिवाची । ऊर्जं बलप्राणनयोर्धातोः क्वपि ऊर्क्
कार्तिकमासः । "बाहुलौज्जौ कार्तिकिक" इत्यमरः । ऊर्जं इत्यरामान्तोऽपि दृश्यते ।

पाणिनीयेति । अच् शब्दादीनामिति आदिशब्देन इच् एच् प्रभृतीनां ग्रहणम् । उञो
नञ् इत्येव पाठः । अनुकरणस्य अनुकरणशब्दस्य । अच्भ्यामिति लिपिकारप्रमादः;
अज्भ्यामिति पाठः सभ्यः; कवर्गादित्वनिषेधात् । 'सस्य शश्ववर्गयोगे' इत्यनेन शत्वम्,
'ततः शश्वो वे'त्यनेन छत्वम् इति । भृजिति 'ग्रहिज्या व्ययि व्यधि वशी'त्यादिना
सङ्कर्षणः । 'सस्य जो जे, न तु वैष्णवे' इत्यनेन सस्य जः ॥१०६॥

बाल०—स्रज् दिश् । विष्णुपदान्ते विषये स्रज् दिश् दृशादीनामन्तः को भवति ।
अनुदकेति । उदकशब्देतरशब्दपूर्वस्पृशोऽन्तः को भवतीत्यर्थः । ऋत्विगिति, 'वचि स्वपि
यजादीनां सङ्कर्षण कपिल' इत्यनेन सङ्कर्षणः । छशोरित्यादिना परामे प्राप्ते कराम-
विधानम् । युजः पुंसीति रूपं निरूप्यते इति शेषः ॥१०७॥

बाल०—युजो । कृष्णस्थाने परे असमस्तस्य युजो नुम् भवति, न तु समाधाविति ।
युज् समाधावित्यस्य क्विवन्तस्य युजो नुम् न भवतीत्यर्थः । युङिति, युजिर् योग इत्यस्य

१०६. रात् सस्यैव सत्सङ्गान्तहरविधिः ।

नियमोऽयम् । बहुत्र प्राप्नो सङ्कोचनं नियमः ।

ऊर्क् ऊर्ग् ऊर्जो ऊर्जः । विश्वसृज्- विश्वसृट् विश्वसृङ् विश्वसृजौ विश्व-
सृजः । पत्वं नेति केचित्—विश्वसृक् । कंसजित् कंसजितः कंस-
जिद्भ्याम् कंसजित्सु ।

उरामानुबन्धो महत्; तस्य पुंसि—नान्त धातुवर्जितेति त्रिविक्रमः,
अचश्चतुर्भुजेति नुम्, सोर्हरः । सत्सङ्गान्तस्य हरः । अत्राकरणात्;
क्वचिदन्तरङ्ग इत्यादि वक्ष्यमाणन्यायात् । ब्रह्मेशान्तानुगित्यत्र

अमृता०—१०६. रादिति । ररामादुत्तरं सत्सङ्गान्तहरविधौ प्राप्ते सरामस्यैव
हरो भवति नान्यस्य । नियमलक्षणमाह—बहुत्रेति । अत्र ररामादुत्तरश्च सर्वेषां विष्णु-
जनानां हरेप्राप्ते सराममात्रस्य तद्विधानादेव नियमः । तेनजरामस्य लोपाभाव इत्यर्थः ।
पत्वं नेतिकेचिदिति—कालापाः कत्वमेव मन्यन्ते । केचित्तुविकल्पमिच्छन्ति । मस्तु भूभृत्
विपश्चित् बृहत् हरित् प्रभृतयः कंसजित् शब्दवत् । महानित्यस्य साधने क्रमो लक्षितव्यः ।

प्रथमतो नुमिकृते उद्धव विधातान्नहि त्रिविक्रमः सम्भवेदिति त्रिविक्रम एवादा-
विष्टः । प्रकृतावपि पूर्वस्य त्रिविक्रमस्यान्तरङ्गत्वात् । ननु महानित्यत्र नामान्तस्य नस्य
हरो विष्णुपदान्त इति वक्ष्यमाणेन नरामहरः कथं न स्यादिति शङ्कायां समादधाति—
तत्राकरणादित्यादि हेतुत्रयेण । यद्यत्र नस्यहरः स्यात्तदा नामान्तस्येत्यादि नरामहर
विधायकं लक्षणमत्रैव विधीयेत, गङ्गास्रोतोवद् विधेः प्रवर्तनात् । तस्मादत्राकरणान्नेह
नरामहरः । हेत्वन्तरं क्वचिदिति—अन्तरंगे कार्यं क्रियमाणे तदनिमित्तं बहिरङ्गमसिद्धं
स्यात् । अत्रनरामहरोऽन्तरङ्गम्, स्वल्पाश्रितत्वात्; सत्सङ्गान्त हरो बहिरङ्गम्, बहुलाश्रित-
त्वात् । “नरामादिहरो नासिद्धस्तुगादि विधेरन्यत्र” इति वक्ष्यते नामधातौ । तत्र तुगादीति
आदिशब्देन सुप्विधौ, नरामादीति आदिना तरामादि हरश्च असिद्ध एवेति टीकायां व्यक्ती
भविष्यति । तेनच सत्सङ्गान्त-तराम हरस्यात्र असिद्धत्वान्न नरामहर इत्याशयः ।

क्विवन्तस्य रूपम् । असमस्तस्येति न तु समाधाविति च यदुक्तम्, तदेव व्याचष्टे समस्त-
स्येति । युगिति युज् समाधावित्यस्य क्विवन्तस्य रूपम् ॥१०८॥

बाल०—रात् । रात् परस्य सत्सङ्गान्तस्य हरविधिर्भवन् सस्यैव भवति नान्य-
स्येत्यर्थः । नियमलक्षणमाह—बहुत्रेति । संकोचनं स्थापनविशेषेण स्थानम् । ननु
महानित्यत्र ‘नामान्तस्य नस्य हरो विष्णुपदान्ते बुद्धं विने’त्यनेन नस्य हरः कस्मान्न-
स्यादिति चेत्तत्र सिद्धान्तमाह—अत्राकरणादित्यादि । तत्रात्रेति यद्यत्र नस्य हरः स्यात्,
तदा नामान्तस्येति लक्षणमत्रैव विदध्यात् तस्मादत्राकरणान्न नस्य हर इति । क्वचिदिति
क्वचिदिति क्वचिदन्तरंगे कार्यं क्रियमाणे तदनिमित्तं बहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति तत्रान्तरङ्ग-
कार्यं नस्य हरः । बहिरङ्गं नुम्विधानम् उभयाश्रितत्वात् । ‘ब्रह्मेशान्त’दिति । नुकि कृते

ज्ञापकेन सर्वेश्वरेण त्वागम नराम हराभावस्य नास्मि निश्चयात् नस्य
हरो न स्यात् । महान् महान्तौ महान्तः । महातन्म् महान्तौ महतः ।
महता-महद्भ्याम्; हेमहन् ।

भगवतु ।

११०. अत्वसन्तोद्धवस्य त्रिविक्रमो बुद्धवर्जितसौ धातुं विना ।
भगवान् भगवन्तौ भगवन्तः । भगवन्तम् भगवन्तौ भगवतः । भगवता
भगवद्भ्याम् ।

१११. भगवतु अघवतु भवतूनां भगोस् अघोस् भोस् इति निपाता
वा बुद्धे ।

पूर्वपरयोः सहैवादेशो निपातः ।

हेभगोः हेभगवन् । हेअघोः हेअघवन् । हेभोः हेभवन् । कथंभो

युक्त्यन्तरश्चाह—ब्रह्मेशान्तादिति । तत्र नुग्विधानसूत्रे परनिमित्तमनुक्त्वा नुकि कृतेऽपि
विष्णुजनादि विष्णुभक्तौ विष्णुपदत्वाद् नामान्तस्येत्यादिना नरामहरे दधिभ्यामित्यादि
सिध्येतैव, तथापि तत्र यत्सर्वेश्वराइति परनिमित्तमुक्तं तेन सर्वेश्वरपदेन नास्मि आः म
नरामस्य हरो नहि भवेदिति ज्ञापितम् । तस्मादत्रापि नुम आगत्त्वान्नहर इति फलितम् ।

किञ्च उद्धवस्य त्रिविक्रमविधानसूत्रे नान्तग्रहणेन हीष्ट सिद्धौ पृथक्तया महच्च उद्धो-
पादानमेतज् ज्ञापयति—कृतसत्सङ्गान्तहरस्य नुमो नरामस्य नान्तत्वं न मन्तव्यमिति ।
अतएवभगवतुप्रभृतिशब्दानां नान्तेति सूत्रेण सौ त्रिविक्रमाप्राप्तिं निश्चित्य पुनरत्वसन्तोद्धव-
स्येति त्रिविक्रमाय पृथग् लक्षणं करोति, अन्यथा सुवर्जं कृष्णस्थाने तन्निषेध एव युज्येत ।
हेमहन्निति—बुद्धं विनेति निषेधान्नोद्धवस्य त्रिविक्रमः ।

अमृता०—११०. अत्वसन्तेति । बुद्धवर्जित सौ परे अतुअन्तस्य, धातुं विना
असन्तस्य च शब्दस्योद्धवत्रिविक्रमो भवति । धातुं विनेति किम्—पीतवः । भगवानित्यत्र
च नित्यमपि नुमं बाधित्वादावेव त्रिविक्रमः; पूर्वस्थस्य त्रिविक्रमविधेरन्तरङ्गत्वात् । यतो
नित्यादप्यन्तरङ्गस्य बलवत्त्वं सिद्धान्तितम्—तेषुचोत्तरोत्तर इत्यादिना । अन्यथा उद्धव-
विधातेन त्रिविक्रमबाधः स्यादिति ।

अमृता०—१११. भगवत्विति । भगवतु अघवतु भवतु शब्दानां बुद्धे क्रमात् भगोस्
अघोस् भोस् इतिवा निपात्यन्ते । इह भवतुशब्दो मध्यमपुरुषवाची, [क्रिययान्वयस्तु

नामान्तस्येत्यादिना तस्य हरे च कृते दधिभ्यामित्यादीनां सिद्धत्वात् सर्वेश्वरस्योद्धृतत्वमतो
ज्ञापकत्वम् । निश्चयादित्यनन्तरं चशब्दप्रयोग उचितः ॥१०६॥

बाल०—अत्व । अत्वन्तस्य असन्तस्य च सम्बन्धिन उद्धवस्य त्रिविक्रमो
भवति ॥११०॥

वैष्णवाः ? अव्ययत्वात् । भगवत् शब्दात् भगवानिवाचरति वक्ष्यन्तात्
 विप्रि भगवत् । तस्मात् स्वादौ प्रकृतवदेव रूपं स्यात्, नामावस्थायां
 चतुर्भुजानुबन्धत्वात् भगवान् । ददतृ जक्षतृ इत्यादि शब्दानान्तु कृत्-
 प्रकरणे नुमनिषधो वक्ष्यते । ददत् ददतौ ददतः । ददद्भ्याम् । जक्षत्
 जक्षतौ जक्षतः । जक्षद्भ्याम् । ऋरामानुबन्धो भवतृ, तत्पुंसि ।
 भवान् भवन्तौ भवन्तः । भवद्भ्याम् । हेभवन् ।

मुरं मश्नातीति मुरमत् मुरमद् मुरमथौ ।

कृष्णं वेत्तीति कृष्णविद्, तत्पुंसि । कृष्णवित् कृष्णविद् कृष्णविदौ ।

सुपाच्छब्दस्य सुपात् सुपाद् ।

११२, पाच्छब्दस्य वामनो भगवति ।

सुपदः । एवंपादशब्दस्य पदादेशोऽपि पद इत्यादि ।

आमि नुटं बाधित्वा विरिञ्चिरेव, विरिञ्चितो विष्णुर्वलवान् विष्णुतः
 सर्वविरिञ्चिरिति न्यायेन । पदाम् ।

प्रथमपुरुष बोधिकया सह] । अतु अन्तत्वादुद्धवस्य त्रिविक्रमः—भवान् । निपातलक्षणमाह—
 पूर्व्वेति । पूर्वपरयोः प्रकृति-प्रत्यययोः सहैव युगपद् मिलित्वैव आदेशो निपात उच्यते ।
 पक्षे बुद्धवर्जितेति निषेधान्नत्रिविक्रमः—भगवन् इत्यादि । भो वैष्णवा इति—भोशब्दः
 सम्बोधनद्योतकाव्ययम् । तथाच भाष्यम्—अव्ययमेव भो शब्दो नैव भवत्प्रकृतिरिति ।
 भूतपूर्वस्यापि अत्वन्तस्य त्रिविक्रमइष्ट इत्याह—भगवदिति । प्रकृतवत् मूलभगवच्छब्दवत् ।
 तत्र हेतुः—नामावस्थायामित्यादिः । नुमनिषधो वक्ष्यत इति—न नारायणाच्छतुर्भुजं
 ब्रह्मणस्तु कृष्णस्थाने वेत्यनेन । तत्र ददतृ प्रभृतीनां द्विर्वचनार्हत्वेन नारायणत्वात्
 जक्षादीनाञ्च नारायणत्वातिदेशाच्चनुमिति भावः । एवं सुहृद् गोत्रभिद् दिविपद् तमोनुद्
 प्रभृतयः कृष्णविद्वत् । सुपादिति—शोभनौ पादौ यस्य सः । संख्यासूपमानेभ्यः
 पादस्यान्त हर इत्यनेन समासे अन्त्यारामहरी वक्ष्यते ।

अमृता०—११२. पाच्छब्दस्येति । भगवति परे समासे लुप्तान्तस्य पाच्छब्दस्य
 उद्धवोवामनः स्यात् । इहवर्द्धमानेन विष्णुजने परे निशादीनां विरिञ्चित्वाभावे यद्

बाल०—भग । निपातलक्षणमाह—पूर्व्वेति । सहैवेति एकदैवेत्यर्थः । कथमिति ?
 कथं भो वैष्णवा इति भवतु भवन्तो वैष्णवा इत्येव भवितुमर्हति । तत्र सिद्धान्तमाह,
 अव्ययत्वादिति । तथाच भाष्यम् । अव्ययमेव भोः शब्दो नैव भवत्प्रकृतिरिति ।
 भगवत्शब्दादिति । स्वादाविति स्वादौ सतीत्यर्थः । प्रकृतवत् उक्तभगवच्छब्दरूपवत् ।
 अत्र हेतुमाह,—नामेति । नुमनिषधो वक्ष्यत इति 'न नारायणाच्छतुर्भुजं ब्रह्मणस्तु कृष्ण-
 स्थाने वेत्यनेन ॥१११॥

निशा हृदय मास यूष दोषाणां विष्णुजने विरिञ्चि नास्ति भाष्य-
चान्द्रादिष्वधृतत्वादिति वर्द्धमानः । विरिञ्चिसद्भावे तु षस्य डइति
वत् शस्य जो मन्तव्यः ।

छशो राजेत्यादिकञ्च धातुपरमेव । निज्भ्याम् निक्शु निच्छु । कृष्ण-
पूर्वस्य बुध्धातोः कृष्णं बुध्यते इति विवपि कृष्णबुध् तत्पुंसि,—

११३, जवर्जं हरिगदादेरेकसर्वेश्वरस्य धातो हरिघोषान्तस्यादौ
हरिघोषत्वं विष्णुपदान्ते सध्वोश्च ।

कृष्णभुत् कृष्णभुद् कृष्णबुधौ कृष्णबुधः । एवंतत्त्वबुधादयः । जवर्जेति
किम्—जभ् जप् जभौ जभः इत्यादि । एकसर्वेश्वरस्येति किम्—क्यन्
विववन्तस्य धातोर्दामरुधः दामरुत् । धातुपदेन धात्ववयवोऽपि गृह्यते ।

भाष्यमतमुपन्यस्तं तन्न समीचीनं, तत्रशसादावपि तदादेशस्वीकारात् । तथाहि भाष्यम्—
शस् प्रभृतिष्वित्युच्यते, अशस् प्रभृतिष्वपि दृश्यत इति । तेन वर्द्धमानमतं ग्रन्थकृतोऽ-
सम्मतमिति विरिञ्चिसद्भावे रूपाणि दर्शितानि ।

ननु विरिञ्चौ कृते छशोरित्यादिना शस्य षः कथं न प्रवर्तते तत्राह—छशोराजेति ।
निच्छु इति यादवमात्रे हरिकमलम् । निच्छु इति—ततःशच्छोवेति छत्वं वा ।

अमृता०—११३. जवर्जेति । विष्णुपदान्तेविषये सध्वोश्च परयोः जवर्जं हरिगदादे
धातो हरिगदास्थाने हरिघोपो भवति । पुनः कथम्भूतस्य धातोः ? हरिघोपान्तस्य, एक-
सर्वेश्वरविशिष्टस्य च । चतुर्णां विशेषणानां युगपत्सद्भावे एवादेशः स्यादिति पदकृत्यं-
दर्शयति—जवर्जेति किमित्यादिभ्याम् । दामरुधमिच्छति तमिवाचरति वेत्यर्थे क्यन् ततः
विवपि यवयो हरो वले इति क्यनो यलोपे विवप् लोपे च दामरुध् । हरिगदादेरितिकिम्—
कंसक्रुधः कंसक्रुत् । हरिघोपान्तस्येति किम्—कृष्णगुप् । गोविन्देन भातीति—
अकर्मण्यारामात् क इत्यनेन कप्रत्ययः कृत् । आरामहरः कंसारि सर्वेश्वररामधातुके इटि
उपि चेत्यारामहरः । ततो गोविन्दभमाचष्टे इत्यर्थे गोविन्दभ शब्दात् “अन्येभ्य स्तत्

बाल०—पाच्छब्दस्य । आमि नुटं वाधित्वा विरिञ्चिरेवेति अत्र हेतुमाह,—
विरिञ्चित इति । निशेति । नास्ति न भवति । अत्र वर्द्धमानमतन्तु नास्माकं मतम् ।
विरिञ्चीति । सद्भावः सत्ता विद्यमानता विरिञ्चिविद्यमानतायामित्यर्थः । ननु विरिञ्चौ
कृते छशोराजेत्यादिना शस्य यः कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्राह,—छशोराजेत्यादिकञ्च धातु-
परमेवेति ॥११२॥

बाल०—जवर्जं । विष्णुपदान्ते विषये सध्वोश्च परयोः एकसर्वेश्वरस्य जवर्जं-
हरिगदादेर्हरिघोपान्तस्य धातोरादौ हरिघोषत्वं भवति । गोविन्दविति गोविन्देन भातीति

तेन गोविन्देन भातीति कप्रत्ययान्तो गोविन्दभः । तस्य णि क्विवन्तस्य गोविन्दम् गोविन्धप् गोविन्दभौ गोविन्दभः । एवं पुण्ड्रम् पुण्ड्रप् । अत्र प्रक्रिया कलाप काशिका वृत्तयो विचार्याः । किन्तु प्रक्रियायामधोक् गोविन्धप् च प्रश्नपदं भवेत् । कालापे दामरुज्जप् च । काशिकादौ नसंशयः ।

राजन् नान्तेति त्रिविक्रमः, सोर्हरः ।

करोति तदाचष्टे" इत्यनेन णिः, भू सनन्ताद्याधातव इति धातुत्वम् । अरामहरो रामधातुक इत्यरामहरः । ततः क्विपि "गेर्हरोऽनिडादौ रामधातुक" इति गेर्हरः । अत्र गोविन्दम् धातोरवयवस्य दम् इति भागस्य हरिगदादि लक्षणवत्त्वादादौ हरिघोषत्वम् । एवंपुण्ड्र-भिति—पुण्ड्रेण ऊर्द्धपुण्ड्रतिलकेन भातीति कप्रत्ययान्तः पुण्ड्रभ शब्दः । तस्मात् णिक्विवन्तेन पुण्ड्रभिति पूर्ववत् । अत्रापि पुण्ड्रमधातोरवयवस्य ड्रम् इत्यंशस्य हरिगदादि-लक्षणान्वितत्वादायस्य हरि घोषत्वम्—पुण्ड्रपिति ।

प्रक्रियायामधोक् गोविन्धप् च प्रश्नपदं भवेदिति—'एकाचोवशो भप् झपन्तस्य सध्वो"रिति पाणिनीय सूत्रे पूर्वतो धात्ववयवेति पदान्त इतिचानुवर्तते । प्रक्रियायान्तु तत्तदनुवृत्तिर्न दर्शिता । अतौ धात्ववयव-ग्रहणाभावाद् गोविन्धप् इति तथा पदान्त-ग्रहणाभावात् अधोक् इति च पदद्वयस्य नहि सिद्धिर्भवेदित्यभिप्रायः ।

कालापे दामरुज्जप्चेति—प्रश्नपदं भवेदित्यनुपपन्नः । तत्र "हचतुर्थान्तस्य धातो स्तृतीयादे रादिचतुर्थत्वमकृतवदिति" सूत्रे एकसर्वेश्वरत्वस्य जवर्जत्वस्य चानुक्तिः पदद्वय-सिद्धौ संशय एवास्ति । काशिकायां सम्पूर्ण लक्षणसद्भावान्न कोऽपि सन्देह इत्यर्थः । आदिपदेन उक्तेतरव्याकरणानां ग्रहणम् ।

अधोगिति—दुहधातो दिप्-सिपो रूपम् । दादेस्तुधातोर्घ इति दुध् स्थितम्, ततो विष्णुजनादिस्यो हरे विष्णु पदान्तत्वाद् जवर्जेति लक्षणेनादौ हरिघोषत्वम् ।

'अकर्मण्यारामात् क' इत्यनेन कः । 'आरामहरः कंसारि सर्वेश्वर रामधातुके इति उचि चेत्यनेन आरामहरः, ततो गोविन्दभमाचष्टे इत्यर्थे गोविन्दभशब्दात् मुण्डमिश्रेत्यादिना णिः 'अरामहरो रामधातुके' इत्यनेन अरामहरः, ततः 'क्विप् गेर्हरोऽनिडादौ रामधातुके' इत्यनेन गेर्हरः । अत्र क्विवन्तस्य गोविन्दभो धातोरवयवस्य दम् आदौ हरिघोषत्वम् । पुण्ड्रविति पुण्ड्रेण भातीति क-प्रत्ययान्तः पुण्ड्रभस्तस्य णि क्विवन्तस्य पुण्ड्रमः पुण्ड्रविति पूर्ववत् । अत्रेति । अत्र हरिघोषत्वविधाने प्रक्रियाकलाप-काशिकावृत्तय इति प्रक्रिया-कलापः काशिकावृत्तिश्चेत्यर्थः । पाठकैरेता विचार्याः । किन्तु प्रक्रियायां अधोगिति गोविन्दविति च प्रश्नपदं भवेद्भवति तस्मात् प्रक्रियायां संशयो वर्तते इत्यर्थः । कलापे दामरुद् जप् च प्रश्नपदं, तस्मात्तत्रापि संशयो वर्तते । काशिकादावित्यादिशब्देन वृत्तेर्ग्रहणम् । अधोगिति दुहप्रपुरणे भूतेश्वरभूतेशाजितेष्विति धातोः पर्वतम्, 'लघूद्वयस्य गोविन्द' इत्यनेन गोविन्दः, 'दादेस्तु धातोर्घ' इति हस्य घः, 'विष्णुजनात् दिस्योर्हर'

११४. नामान्तस्य नस्य हरो विष्णुपदान्ते बुद्धं विना ।

प्रथमतो नलोपाभावः, पथिन्मथिन् इत्यादौ वक्ष्यमाण नलोपवैयर्थ्यात् । राजा राजानौ राजानः । राजानं राजानौ । वमसत्सङ्गहीनस्य इत्यरामहरः । तवर्गस्य कवर्गः । जज्ञोः सत्संगे ज्ञः । राज्ञः, राज्ञा । क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं बहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति न्यायेन नस्यहरासिद्धेः कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इत्यादिकं प्राप्नोतीत्यर्थः । किञ्च न-वयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्या । राजम्याम् राजभिः । राज्ञे राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राज्ञोः राज्ञाम् । ईड्योस्तु वा, राज्ञि राजनि राज्ञोः राजसु । हेराजन् ।

अमृता०—११४. नामान्तस्येति । विष्णुपदान्ते विषये नाम्नोऽन्तेस्थितस्य नस्य हरो भवति बुद्धेतु स न स्यात् । प्रथमतो नलोपाभाव इति—अत्रायमाशयः,—पथिन्मथिन्त्रित्यादि वक्ष्यमाण लक्षणं विनापीष्टपदं साधयितुं शक्यते । यथाहि—पथ्यादीनामिरामस्यारामः, थातपूर्वं नुक् च; ततो नामान्तस्येति नस्य हरे, स-र-रामयोरिति विष्णुसर्गे च पन्थाः । तदेवंप्रथमतो नलोपमन्तरेणापीष्टरूपं नितरां सिध्यति । तथापि “पथिन्मथिन्”त्यादि पृथक्लक्षणेन यत् प्रथमं नलोपः कृतस्तेनेदं ज्ञाप्यते—नान्तानां मध्ये पथ्यादि त्रयाणामेव प्रथमतो नलोपोभवति, अन्येषां नान्तानान्तु पश्चादिति । अन्यथा सिद्धेऽपीष्टे साधनप्रयासः । पिष्टपेणवन्निष्फलः स्यात् । अथान्येषां राजन् शार्ङ्गिन् प्रभृतीनां प्रथमं नलोपेकृते तु विष्णुजनान्तत्वाभावात् सुलोपाभावे राजाः शार्ङ्गीः इत्येवमादि सविष्णुसर्गानिष्ठरूपमपतेदिति दोषएव ।

ननु राजभ्यामित्यादौ नरामहरे कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इतिकथं न प्रवर्तते ? तत्राह—क्वचिदिति । अत्रोभयोः प्रकृत्याश्रितत्वेऽपि पूर्वस्थित कार्यस्य त्रिविक्रमस्यान्तरङ्गता । तत्परस्थितस्य नरामहरस्य बहिरङ्गतेति स्थिते त्रिविक्रम विधौ क्रियमाणे तदनिमित्तं नरामहरः असिद्धः । सुप्विधौ नरामादिहरोऽसिद्ध एवेति भाविवचनानुसारात् । ततो नरामस्यासिद्धत्वेन स्यानिवत्त्वात् त्रिविक्रमस्य न हि प्रसङ्ग इति मर्म । सिद्धान्तएव

इत्यनेन दिपसिपोर्हरः, ततो ‘जवर्जे’त्यादिना दस्य घः ‘विष्णुदासो विष्णुपदान्ते’त्यादिना गरामः ‘विष्णुदासस्य हरिकमलं वे’त्यनेन करामः ॥११३॥

बाल०—नामान्तस्य । नामान्तस्य नाम्नोऽन्तेस्थितस्य । प्रथमतो न लोपाभाव इति त्रिविक्रमानन्तरं प्रथमतो न लोपे सति न लोपस्य महाहरत्वात् राजा इति सविष्णुसर्गरूपं स्वात् । प्रथमतो नलोपाभावे वेतमाह पथिन्त्रिति । ‘पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन्नित्येष नस्य हरः सा’वित्यस्मिन् लक्षणे वक्ष्यमाणस्य नलोपस्य वैयर्थ्यादिति तस्मात्तत्र प्रथमतो न लोपः, अतः पन्था इत्यादि सविष्णुसर्गरूपं भवति । क्वचिदिति अत्रान्तरङ्गकार्यं त्रिविक्रमादि । बहिरङ्गं नस्य हरः । न प्राप्नोतीत्यर्थः । इति बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते

यूष शब्दस्य यूषन्नादेशो आदेशः स्थानिवत् क्वचित् । नामधातु प्रत्यय विष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिवद्भावः सर्वत्रैव । वर्णानां तद्व्यक्तिवद् भावश्च यत्र मंस्यते तत्रैवेत्यर्थः । तेन नामत्वे सत्यनोऽरामहरः । यूष्णः यूष्णा । एवं यज्वन् आत्मन् सुधर्मन् इत्यादयः । किन्तु वमसत्सङ्ग- हीनस्येति विशेषणादरामहरो नास्ति । यज्वनः यज्वना ।

एवं श्वन् युवन् मघवन् । क्वचिद्विशेषः,—

११५. श्वन् युवन् मघवन् इत्येषां वस्य उर्भगवति ।

ईव्वर्जित-तद्धिते तु न युवतीत्येतद्वर्जम् ॥*

वस्येति सरामनिर्देशः । शुनः शुना श्वभ्याम् श्वभिः ।

यूनः यूना युवभ्याम् युवभिः । एवं मघोनः मघोना ।

कृष्णसंज्ञत्वमभ्युपगम्य ज्ञेयः । तदनङ्गीकारोऽपि सम्मत इत्याह—किञ्चेति । एकेनैव सिद्धेऽपि पक्षयुगलस्य प्रपञ्चशृङ्गाणां बुद्धिवैचित्र्यार्थः । एवं प्रेमन् गरिमन् प्रभृतयश्च आदेशः स्थानिवत् क्वचिदित्यादिसन्दर्भो यूषन्नित्यादेशस्य नामत्वप्रतिपादनार्थः । अत्र- क्वचित्पदं विशदयति—नामेत्यादिभिः । नाम्नो धातोः प्रत्ययस्य तथाविष्णुपदस्य चादेशस्य तत्तज्जातिवद्भावोऽर्थान्नामत्व-धातुत्वादिकं सर्वत्रैव मन्यते । वर्णानामादेशस्य तु तद्व्यक्तिवद्भावोऽर्थात्तद्वर्णत्वं कार्यानुरोधेन यत्रप्रयोजनं तत्रैवमंस्यते नतुसर्वत्र । तेन- यूषशब्दस्य यो यूषन्नादेशस्तस्यापि नामत्वात् नामविहितकार्यं भवतीतिदर्शयन्नाहफलम्— अनोऽरामहरइति ।

अमृता०—११५. इननिति । भगवति परे श्वन् युवन् मघवन् शब्दानां वरामस्य उराम आदिश्यते । ईव्वर्जित तद्धितेतु तेषां वस्य उर्भगवति । यथाहि—शौनवं यौवनं माघवानः । ईपि तु भवत्येव उरामः—शुनी यूनी मघोनी । तत्रपुनरीवन्तेषु युवतिशब्दो वर्जयितव्यः—

तत्तु लिपिकरप्रमादकृतम् । न प्राप्नोतीत्यन्य इत्येव ज्ञेयम् । अत्र क्वचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायाङ्गीकारमकृत्वा कृष्णसंज्ञत्वमेव निषिध्यते किन्तु यवयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्येति । सूत्रे प्रत्ययरूपनिमित्तादन्यस्य हरोऽपि महाहर इति महाहरत्वात् त्रिविक्रमादिकं न स्यादिति ज्ञेयम् । आदेशः स्थानिवत् क्वचिदिति अर्थमाह नामेति नाम्नोः धातोः प्रत्ययस्य विष्णुपदस्य च आदेशस्य तज्जातिवद्भावः नामादिस्वरूपवद्भावः सर्वत्रैव भवति । वर्णानामादेशस्य तद्व्यक्तिवद्भाव आदेशि-वर्णस्वरूपवद्भावश्च । यत्र मन्तव्यस्तत्रैव, न तु सर्वत्रेति । अतो अत्र युष्मन्नादेशस्यापि नामत्वं क्वचिद्विशेष इति विशेषमाह ॥११४॥

बाल०—श्वन् युवन् ईव्वर्जित । युवती इति आदियेषां तान् वर्जयित्वा ईव्वर्जिततद्धिते तु परे वस्य उर्भगवति । ईव्वर्जिततद्धिते निषेधात् नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि

११४. नामान्तस्य नस्य हरो विष्णुपदान्ते बुद्धं विना ।

प्रथमतो नलोपाभावः, पथिन्मथिन् इत्यादौ वक्ष्यमाण नलोपवैयर्थ्यात् ।
 राजा राजानौ राजानः । राजानं राजानौ । वमसत्सङ्गहीनस्य
 इत्यरामहरः । तवर्गस्य कवर्गः । जज्ञोः सत्सङ्गे ज्ञः । राज्ञः, राज्ञा ।
 क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धं स्यादिति
 न्यायेन नस्यहरासिद्धेः कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इत्यादिकं प्राप्नोती-
 त्यर्थः । किञ्च न-वयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्या । राजभ्याम् राजभिः ।
 राज्ञे राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राजभ्याम् राजभ्यः । राज्ञः राज्ञोः
 राज्ञाम् । ईड्योस्तु वा, राज्ञि राजनि राज्ञोः राजसु । हेराजन् ।

अमृता०—११४. नामान्तस्येति । विष्णुपदान्ते विषये नाम्नोऽन्तेस्थितस्य नस्य
 हरो भवति बुद्धेतु स न स्यात् । प्रथमतो नलोपाभाव इति—अत्रायमाशयः,—पथिन्
 मथिन्नित्यादि वक्ष्यमाण लक्षणं विनापीष्टपदं साधयितुं शक्यते । यथाहि—पथ्यादीनामि-
 रामस्यारामः, थातपूर्वं नुक् च; ततो नामान्तस्येति नस्य हरे, स-र-रामयोरिति विष्णुसर्गे
 च पन्थाः । तदेवंप्रथमतो नलोपमन्तरेणापीष्टरूपं नितरां सिध्यति । तथापि “पथिन्
 मथिन्नि”त्यादि पृथक्लक्षणेन यत् प्रथमं नलोपः कृतस्तेनेदं ज्ञाप्यते—नान्तानां मध्ये पथ्यादि
 त्रयाणामेव प्रथमतो नलोपोभवति, अन्येषां नान्तानान्तु पश्चादिति । अन्यथा सिद्धेऽपीष्टे
 साधनप्रयासः । पिष्टपेपणवन्निष्फलः स्यात् । अथान्येषां राजन् शार्ङ्गिन् प्रभृतीनां प्रथमं
 नलोपेकृते तु विष्णुजनान्तत्वाभावात् सुलोपाभावे राजाः शार्ङ्गीः इत्येवमादि सविष्णुसर्गा-
 निष्टरूपमपतेदिति दोषएव ।

ननु राजभ्यामित्यादौ नरामहरे कृष्णस्य त्रिविक्रमो गोपाल इतिकथं न प्रवर्तते ?
 तत्राह—क्वचिदिति । अत्रोभयोः प्रकृत्याश्रितत्वेऽपि पूर्वस्थित कार्यस्य त्रिविक्रम-
 स्यान्तरङ्गता । तत्परस्थितस्य नरामहरस्य वहिरङ्गतेति स्थिते त्रिविक्रम विधौ क्रियमाणे
 तदनिमित्तं नरामहरः असिद्धः । सुप्विधौ नरामादिहरोऽसिद्ध एवेति भाविवचनानुसारात् ।
 ततो नरामस्यासिद्धत्वेन स्यानिवत्त्वात् त्रिविक्रमस्य न हि प्रसङ्ग इति मर्म । सिद्धान्तएव

इत्यनेन दिपसिषोर्हरः, ततो ‘जवर्जे’त्यादिना दस्य घः ‘विष्णुदासो विष्णुपदान्ते’त्यादिना
 गरामः ‘विष्णुदासस्य हरिकमलं वे’त्यनेन करामः ॥११३॥

बाल०—नामान्तस्य । नामान्तस्य नाम्नोऽन्तेस्थितस्य । प्रथमतो न लोपाभाव
 इति त्रिविक्रमानन्तरं प्रथमतो न लोपे सति न लोपस्य महाहरत्वात् राजा इति सविष्णु-
 सर्गरूपं स्वात् । प्रथमतो नलोपाभावे वेतमाह पथिन्निति । ‘पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन्नित्येषां
 नस्य हरः सा’वित्यस्मिन् लक्षणे वक्ष्यमाणस्य नलोपस्य वैयर्थ्यादिति तस्मात्तत्र प्रथमतो न
 लोपः, अतः पन्था इत्यादि सविष्णुसर्गरूपं भवति । क्वचिदिति अत्रान्तरङ्गकार्यं
 त्रिविक्रमादि । वहिरङ्गं नस्य हरः । न प्राप्नोतीत्यर्थः । इति बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते

यूप शब्दस्य यूपन्नादेशो आदेशः स्थानिवत् क्वचित् । नामधातु प्रत्यय विष्णुपदानामादेशस्य तज्जातिवद्भावः सर्वत्रैव । वर्णानां तद्व्यक्तिवद् भावश्च यत्र मंस्यते तत्रैवेत्यर्थः । तेन नामत्वे सत्यनोऽरामहरः । यूपः यूपणा । एवं यज्वन् आत्मन् सुधर्मन् इत्यादयः । किन्तु वमसत्सङ्ग-हीनस्येति विशेषणादरामहरो नास्ति । यज्वनः यज्वना ।

एवं श्वन् युवन् मघवन् । क्वचिद्विशेषः,—

११५. श्वन् युवन् मघवन् इत्येषां वस्य उर्भगवति ।

ईव्वर्जित-तद्धिते तु न युवतीत्येतद्वर्जम् ॥*

वस्येति सरामनिर्देशः । शुनः शुना श्वभ्याम् श्वभिः ।

यूनः यूना युवभ्याम् युवभिः । एवं मघोनः मघोना ।

कृष्णसंज्ञत्वमभ्युपगम्य ज्ञेयः । तदनङ्गीकारोऽपि सम्मत इत्याह—किञ्चेति । एकेनैव सिद्धेऽपि पक्षयुगलस्य प्रपञ्चशृङ्गाणां बुद्धिवैचित्र्यार्थः । एवं प्रेमन् गरिमन् प्रभृतयश्च आदेशः स्थानिवत् क्वचिदित्यादिसन्दर्भो यूपन्नित्यादेशस्य नामत्वप्रतिपादनार्थः । अत्र-क्वचित्पदं विशदयति—नामेत्यादिभिः । नाम्नो धातोः प्रत्ययस्य तथाविष्णुपदस्य चादेशस्य तत्तज्जातिवद्भावोऽर्थात्नामत्व-धातुत्वादिकं सर्वत्रैव मन्यते । वर्णानामादेशस्य तु तद्व्यक्तिवद्भावोऽर्थात्तद्वर्णत्वं कार्यानुरोधेन यत्रप्रयोजनं तत्रैवमंस्यते नतुसर्वत्र । तेन-यूपशब्दस्य यो यूपन्नादेशस्तस्यापि नामत्वात् नामविहितकार्यं भवतीतिदर्शयन्नाहफलम्—अनोऽरामहरइति ।

अमृता०—११५. श्वनिति । भगवति परे श्वन् युवन् मघवन् शब्दानां वरामस्य उराम आदिश्यते । ईव्वर्जित तद्धितेतु तेषां वस्य उर्भगवति । यथाहि—शौनवं यौवनं माघवानः । ईपि तु भवत्येव उरामः—शुनी यूनी मघोनी । तत्रपुनरीवन्तेषु युवतिशब्दो वर्जयितव्यः—

तत्तु लिपिकरप्रमादकृतम् । न प्राप्नोतीत्यन्य इत्येव ज्ञेयम् । अत्र क्वचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायाङ्गीकारमकृत्वा कृष्णसंज्ञात्वमेव निषिध्यते किन्तु यवयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्येति । सूत्रे प्रत्ययरूपनिमित्तादन्यस्य हरोऽपि महाहर इति महाहरत्वात् त्रिविक्रमादिकं न स्यादिति ज्ञेयम् । आदेशः स्थानिवत् क्वचिदिति अर्थमाह नामेति नाम्नोः धातोः प्रत्ययस्य विष्णुपदस्य च आदेशस्य तज्जातिवद्भावः नामादिस्वरूपवद्भावः सर्वत्रैव भवति । वर्णानामादेशस्य तद्व्यक्तिवद्भाव आदेशि-वर्णस्वरूपवद्भावश्च । यत्र मन्तव्यस्तत्रैव, न तु सर्वत्रेति । अतो अत्र युष्मन्नादेशस्यापि नामत्वं क्वचिद्विशेष इति विशेषमाह ॥११४॥

बाल०—श्वन् युवन् ईव्वर्जित । युवती इति आदिर्येषां तान् वर्जयित्वा ईव्वर्जिततद्धिते तु परे वस्य उर्भगवति । ईव्वर्जिततद्धिते निषेधात् नाम्नो ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि

सौ मघवा । मघवानिति तु कालापाः ।

वहति स्वेच्छया वायुरुद्गच्छति च भास्करः ।

हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ ॥ इतिभट्टिः ।

मघवतु शब्दोऽप्यस्ति । “मघवद् वज्रलज्जानिदानम्” “सएवमुवत्वा-
मघवन्तमि”त्यादि प्रयोगदर्शनात् । मघवान् मघवन्तौ मघवन्तः ।
मघवद्भ्याम् ।

अथ दिवस वाची प्रतिदिवन् शब्दः । प्रतिदिवा प्रतिदिवानौ प्रति-
दिवानः । प्रतिदिवानं प्रतिदिवानौ ।

११६. धातो रवप्रागिदुतोस्त्रिविक्रमो, रवतो विष्णुजने; न कुर-
छुर-नामधातूनां नचतद्धितये ।

नाम्नो जातो धातु नामधातुरिति वक्ष्यते । अत्रपाठाद् विष्णुजनो वर्ण-

“यूनस्तु युवतिः साधु” इति वक्ष्यमाणत्वात् । भगवतीति किम्—श्वानौ युवभ्यां मघवसु ।
क्वचिद् ग्रहणादिह वराम स्थाने उरामादेशस्य तद्व्यक्तिवद्भावोऽर्थाद् वरामभावो न,
ततो यून इत्यादौ त्रिविक्रमादिः सिद्धः । लूनीत्यादौ तरामस्थाने नरामादेशस्य तद्व्यक्ति-
वद्भावोऽर्थात् तरामभाव इष्टः । तेन हि ख्य-त्याभ्यामित्यादिना ङसिङसोरस्य उच् सिद्धः ।

मघवानिति तु कालापा इत्यत्र तु शब्दो मतभेदेन सारस्य द्योतकः । ननु भट्टि
प्रयोगेऽपि मघवानिति पददर्शनात् कथमसारस्यत्वमिति चेत्तत्र सङ्गतिं करोति—मघवतु
शब्दोऽप्यस्तीति । तस्यैव प्रयोगोऽयं भट्टौ नतु मघवन् शब्दस्य । उभावपीन्द्र वाचिनौ ।
तदेव द्रढयति प्राचीन प्रमाणैः—मघवद् वज्रलज्जानिदानमित्यादिभिः । प्राचीन प्रमाणद्वये
मघवतुशब्दस्यैव प्रयोगो नतु मघवन् शब्दस्य, तत्र तराम-नुमोरप्रसङ्गात् ।

अमृता०—११६. धातोरिति । रवतुत्तरं विष्णुजने परे सति धातुसम्बन्धितोः
रवाभ्यां पूर्वयोरिरामोरामयो स्त्रिविक्रमः स्यात् । यदि धातोरिदतोः परस्यः ररामो

ग्रहणमिति न्यायाङ्गीकारेण युवतीत्यादिषु वस्य उः स्यादिति ज्ञेयम् । युवतीति ईवन्तम् ।
वस्येति तारामनिर्देश इति तस्मादरामसहित वरामस्य उर्भवतीति । ननु यून इत्यत्र लुल-
वुप् इतिवदुरामे कृते धातुश्चतुःसनस्येयुवावित्यनेन उवादेशः कस्मान्नस्यादिति चेत्तत्रैवम्
आदेशः स्थानिवत् क्वचिदिति न्यायेनात्र उरामस्य पूर्ववराम-व्यक्तिवद्भावो मन्तव्यस्तत्र
तु न सौ । अस्माकं मते मघवेति । मघवानिति तु कालापा वदन्तीति शेषः । मघवानिति
पदं न विरुद्धमिति भट्टिप्रयोगं दर्शयति हरिर्जक्षतीति । मघवन्शब्द इन्द्रवाचकः । यदि
मघवानित्यविरुद्धं, तर्हि अस्माकं मते तत्कथं भवत्विति चेत्तत्राह,—मघवतुशब्दोऽप्यस्तीति
सोऽपीन्द्रवाचक एव । मघवतुशब्दसङ्गावे हेतुमाह मघवद्वज्रेति ॥११५॥

बाल०—धातोरव । रवतः परवर्तिनि विष्णुजने परे धातुः सम्बन्धितोः रवाभ्यां

मात्रं गृह्यते न केवलस्वादयः । कुरादिनिषेधान्नाम्नोऽन्यत्रापि ज्ञेयम् ।
ततः शसि प्रतिदीवन्तः । प्रतिदीवन्ता ।
अरामहरस्य निमित्तत्वं मत्वेवात्र त्रिविक्रम विधानम्, ततो नासिद्धत्वम् ।
प्रतिदिवभ्याम् । तदेतत् प्रक्रियाकौमुद्यादौ । अन्येतु प्रतिदीवनो नस्य
विष्णुसर्गो विष्णुपदान्ते इति मन्यन्ते । प्रतिदिवा प्रतिदिवोभ्याम् ।

वरामो वा विष्णुजनेन सह सत्सङ्गः स्यात्तदैव इरामस्य उरामस्य वा त्रिविक्रमो भवतीति
फलितार्थः । न कुर छरेत्यादि किम्—कुर्वः कुर्यते; नामधातो—चतुर्यति गिर्यति; तद्धित ये—
धुर्य दिव्यमित्यादौ न त्रिविक्रमः । इसरोः अविष्णुपदार्थमेतत् । विष्णुपदान्तार्थमग्रे
वक्ष्यते । रवतो विष्णुजने इति किम्—प्रतिदिवा ।

अत्रेति—अत्रधातुसम्बन्धीयलक्षणे पाठाद् विष्णुजन परत्वं नाम्नो धातोर्वा स्वादे-
स्तिवादे र्वा ज्ञेयम् । अतएव त्रिविक्रममनेनहि सेत्स्यति । धातोरित्येव, तेन निर्गुणः
चतुर्धा इत्यादौ न त्रिविक्रमः ।

नासिद्धत्वमिति—क्वचिदनारङ्गकार्ये क्रियमाणे तदनिमित्तं वहिरङ्गमसिद्धमिति
नासिद्धं त्रिविक्रमः, तं प्रति अरामहरस्य निमित्तत्यमननात् । अत्रोभयकार्यस्य प्रकृता-
श्रितत्वेऽपि पूर्वस्य कार्यस्य त्रिविक्रमस्य बलवत्ता, प्रकृतावपि पूर्वपूर्वमन्तरङ्गमित्युक्तेः ।
अनोऽरामहरासिद्धे तु स्थानिवत्त्वात् तद्व्यवधाने त्रिविक्रमो नैव सिध्येत् । नचैवं स्थानि-
वत्त्वाभावे छस्यशो वस्य ऊठित्येव कथं न प्रवर्तन्त इति शङ्क्यम्, उभयोः प्रकृताश्रितत्वेऽपि
वरामात्पूर्ववृत्तिन इरामस्य त्रिविक्रमविधेरेवान्तरङ्गत्वेन बलवत्त्वात् ।

पूर्वयोरिरामोरामयोस्त्रिविक्रमो भवति । न कुर । कुर-कुर नामधातूनां त्रिविक्रमो न
भवति । अतः कुर्वः कुर्मः कुर्यादित्यादौ कुर्यते इत्यादौ नामधातो दिव्यति चतुर्यतीत्यादौ ।
व्यतिरेकेण कुक्कुरायत इत्यादौ च त्रिविक्रमो न भवति ।

न च । तद्धित ये च परे त्रिविक्रमो न भवति, अतः धुर्य इत्यादौ त्रिविक्रमाभावः ।
रवत इति स्पष्टार्थमन्यथा येन न व्यवधानं सम्भवति, तेना व्यवधानेऽपि स्यादिति न्याये-
नास्य व्यवधानेऽपीति प्रतिदिवानावित्यादौ त्रिविक्रमशङ्का स्यात् । किञ्च स्थान्यंशेऽनयोः
सद्भावे एव निमित्तांशे सद्भाव उचितो विपरीते तु विपरीतस्तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानात् ।
एवं निमित्तांशेऽपि योज्यं तस्मादनयोः परतः परवृत्तिनि विष्णुजने सति अनयोः पूर्वस्मिन्
धातोरिदुतो त्रिविक्रमो भवति नान्यव्यवधानेन । रवप्रागिति किं विध्यति बुध्यति । धातो-
रिति किं निर्गुणः चतुर्धा बलिव्यवसितिः गुरुव्यवस्यायुरित्यादौ न त्रिविक्रमेण भाव्यं
कुरादिगणपठनानुरोधात् तत् उबु क्विप् उप् उभ्यां वृण-उब्जितेत्यादौ च ररामसाहचर्याद-
न्त्यस्थस्यैव ग्रहणादस्य त्वोष्ठत्वात् न विष्णुजन इति किं प्रतिदिवानौ । अत्रेति अत्र
धातुसम्बन्धि-लक्षणे विष्णुजनस्य पाठात् विष्णुजनवर्णमात्रं गृह्यते । नाम्नोऽन्यत्रापि
ज्ञेयमिति दीव्यतीत्यादौ त्रिविक्रमो भवति अरामहरस्येति प्रतिदीव् इत्यादौ अरामहरस्य
निमित्तत्वं मत्वेव त्रिविक्रमविधानं कृतमिति क्वचिदनारङ्ग इत्यादि न्यायेन अरामहरस्य

११७. पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन्नित्येषां नस्य हरः सौ ।

११८. पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्णस्थाने, थात्पूर्व नुक् च ।

अविष्णुपदान्तस्येति विष्णुचक्रस्य हरिवेणुरिति । अत्र नागरलिपावप्य-
विष्णुपदान्ते यद्विष्णुचक्रं तन्नोचितम् । पन्थाः पन्थानौ पन्थानः ।
पन्थानं पन्थानौ --

११९. पथ्यादीनां संसार हरो भगवति ।

पथः पथा । एवकारेणैव सर्वत्र नियमात्त्रामान्तस्य नस्य हरः । तेन
पथिभ्याम् पथिभिः । एवं मन्थाः मन्थानौ मन्थानः । ऋभुक्षा ऋभुक्षाणौ
ऋभुक्षाणः । अथ शार्ङ्गिन्

अमृता०—११७. पथिनिति । सौपरे पथिन् ऋभुक्षिन् शब्दानां नरामस्य हरः
स्यात् । नच नामान्तस्येत्यादिनाहि सिद्धे व्यर्थमिदमिति वाच्यं, प्रक्रिया विपर्यय दोषात् ।
कृतेतु सर्वत्र प्रथमं नलोपे राजन् शब्दस्य राजाः इत्येवं सविष्णुसर्गं रूपमपद्येत, तत्त
अनिष्टमिति प्रागुद्दिष्टम् ।

अमृता०—११८. पथ्यादीनामिति । कृष्णस्थाने परे पथ्यादि त्रयाणामिरामस्य
आरामः स्यात्, आद्ययोः थात् पूर्व नुमागमश्च स्यात् । आगमत्वेन—आरामात् परं नुकि
प्राप्ते थात्पूर्वमिति विशेषोक्तिः । अविष्णुपदान्तस्येत्यादिना नस्य विष्णुचक्रं, ततो विष्णु
चक्रस्य हरिवेणुः, सररामयोरिति विष्णुसर्गे पन्थाः ।

अमृता०—११९. पथ्यादीनामिति । भगवति परे पथ्यादि त्रयाणां संसारहरः
स्यात् । ननु पथ्यादीनां सौ पृथक्लक्षणेन नलोपविधानात् तदन्यत्र तद्विधानवलादेव नस्य
लोपो नभवतु इति चेत्तत्र समाधत्ते—एवकारेणैवेति । एवकारेण हि सर्वत्र नियमो भवति,
अत इहसूत्रे एवकाराभावान्नियमाभावः । तेननामान्तस्येत्यादिसामान्यविधिना नरामहरः
स्यादेवेत्यर्थः । ऋभुक्षा इन्द्रः । मन्थाः मन्थनदण्डः । बुद्धेच हेपन्थाः ।

नासिद्धत्वम् । तदिति तदेतत् दर्शितं रूपं मतं वा प्रक्रियाकौमुद्यादौ सम्मतमिति शेषः ।
अन्ये तु प्रतिदीव्नो नस्य विष्णुसर्गे विष्णुपदान्ते इति मन्यन्ते । तन्मते प्रतिदिवा प्रति-
दिवोभ्यामिति प्रतिदिवा इति प्रथमतस्त्रिविक्रमस्ततः सोहरः ततो नस्य विष्णुसर्गः ॥११६॥

बाल०—पथिन् ॥११७॥

बाल०—पथ्या । अविष्ण्विति अविष्णुपदान्तस्य नस्य मस्य च विष्णुचक्रं वैष्णवे
इत्यनेन विहितस्य विष्णुचक्रस्य स्थाने विष्णुचक्रस्य हरिवेणुर्विष्णुवर्ग इत्यादिना हरिवेणु-
रिति । यत्रेति नागरलिपौ नागरालेखने ॥११८॥

बाल०—पथ्या । ननु पथिन् मथिन् इत्यादि लक्षणस्य पृथक्करणात् पथिभ्या-
मित्यादौ नामान्तस्येत्यादिना नलोपो न भवत्विति चेत्तत्राह—एवकारेणैवेति एवकारेणैव
सर्वत्र नियमः, अत एवकाराभावेन नियमाभावात् नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः स्यादेवेति ।

१२०. इन् हन् पूषन् अर्यमन् इत्येषामुद्धवस्य त्रिविक्रमः सुशयोरेव ।
शाङ्गौ शाङ्गिणौ शाङ्गिणः । शाङ्गिणम् शाङ्गिणौ शाङ्गिणः । शाङ्गि-
भ्याम् हेशाङ्गिन् । एवंवनमालिन् हलिन् दण्डिन् । हनिति हन्धातुः ।
ततःकंसहन्—कंसहा कंसहनौ कंसहनः । कंसहनम् कंसहनौ; वमसत्-
सङ्गहीनस्येत्यरामहरः ।

१२१. हनो हस्य घो णिन्नयोः ।

कंसघ्नः । कंसघ्ना कंसहभ्याम् । डौ कंसहनि कंसघ्नि । हेकंसहन् ।
एवं पूषा पूषणौ । पूष्णि पूषणि, पूषिचेत्येके । अर्यमा अर्यमणौ । संख्या
शब्दाः पञ्चन् प्रभृतयो नित्यवहुवचनान्ताः त्रिषुसरूपाः । षणान्त
संख्यातः कतेश्चेति । पञ्च पञ्च पञ्चभिः पञ्चभ्यः ।

१२२. रषणान्तसंख्याभ्यो नुडामि स्वार्थे ।

अमृता०—१२०. इनिति । इन्नन्तस्य, किवन्तहनधातोः, पूषन् अर्यमन् शब्दयोश्च
उद्धवस्य त्रिविक्रमः स्यात् सुशयोरेवपरयो नान्यत्र । नान्तेत्यादिना कृष्णस्थाने परे
त्रिविक्रमे प्राप्तेऽयं नियमः । इह नियमसूचनार्थ एवशब्दः । सौशौ चैवेत्यर्थः । तेनशाङ्गिणौ
इत्यादौ न त्रिविक्रमः । पूषा अर्यमा च सूर्यः । एवं इन् विन् प्रत्ययन्ताः गुणिन् सग्विन्
प्रभृतयः ।

अमृता०—१२१. हन इति । णइत् यस्य सणित् । णिच्च नश्च णिन्नौ तयोः । णिति
प्रत्यये नरामे वा परे हनधातो हाराम स्थाने घराम आदिश्यते । हन् इति धातुग्रहणात्
शब्दस्य निरासः । तेन अह् इत्यादौ नघत्वम् । णिति—आख्यातादौ जघानेत्यादि ।
हस्येति अराम उच्चारणार्थः । तेनवमसत्सङ्गहीनस्येत्यादिना हन अरामहरे सतीह नराम
परत्वम् । आख्यातादौ तूद्धवादर्शनात् नरामपरतैव—घ्नतीत्यादौ । तस्मादराम व्यवधाने
तु न, हननमित्यादौ । तथा णिति चारामव्यवधाने न—वृत्र हनमाचष्टे इत्यर्थे णौ वृत्र-
हयतीति । पूषि चेत्येक इति—तन्मते डौपक्षे अनएव लुग्भवति नतु तदरामस्य । पञ्चन्-
प्रभृतयस्त्रिषु लिङ्गेषु सरूपाः समानरूपाः । कतेश्चेतीति—जस्शसो मर्हाहर इति शेषः ।

अमृता०—१२२. रषेति । संख्या वाचिभ्यो रषणान्तशब्देभ्यः स्वार्थे नुडागमः
स्यात् आन् प्रत्यये परे । तत्ररान्तः चतुर्, पान्तः षप्, नान्ताः—पञ्चन् सप्तन् नवन् दशन्
शब्दाः । संख्याभ्य इति किम्—गिरां गुणिनाम् ।

बाल०—इन् हन् । नियमसूचनार्थमेवशब्दोपादानम् ॥१२०॥

बाल०—हनो हस्य । ण इत् । यस्य सणित् णिच्च नश्च णिन्नौ तयोः परयोः । पुषि
चेत्येक इति तन्मते डौ परे अनो लुग् भवति । संख्याशब्दाइति त्रिषु लिङ्गेषु । सरूपाः
समानरूपाः । षणान्तेति जस्-शसोर्मर्हाहरः ॥१२१॥

१२३, नान्तोद्धवस्य त्रिविक्रमो नामि ।

पञ्चानां पञ्चसु । एवं सप्तन् अष्टन् नवन् दशन् ।

१२४, अष्टनआविष्णुभक्तिषु वा ।

१२५, तस्मात् जस् शसो रौश् स्वार्थे ।

शङ् । शित् सर्वस्येति न्यायेन शिदादेशः सर्वादेशः । अष्टौ अष्ट अष्टौ अष्ट
अष्टाभिः अष्टभिः अष्टाभ्यः अष्टभ्यः अष्टाभ्यः अष्टभ्यः । पक्षद्वयेऽप्यष्टानाम् ।
अष्टासु अष्टसु । एवं परमपञ्च परमाष्टौ इत्यादि । अस्वार्थेतु — प्रिय-
पञ्चा प्रियपञ्चानौ प्रियपञ्चानः । भगवति — प्रियपञ्चजः इत्यादि ।
आमिप्रियपञ्चजाम् ।

अमृता०—१२३. नान्तेति । संख्येत्यनुवर्तते । संख्यावाचिनां नान्तानामुद्धवस्य
त्रिविक्रमः स्यात् नामि प्रत्यये परे । इह लोपानन्तरं वामनस्य त्रिविक्रमो नामीति
नप्रवर्तते नलोपस्यासिद्धत्वात् । तस्मादद्वात्ते विधानमेतत् । नच संस्यानान्तोद्धवस्य
त्रिविक्रम नामोति कृतेऽगोष्ठसिद्धे नान्तान्नुड् विधानं, पुनश्च नरामहर इत्येवंप्रक्रिया
गौरवमिति वाच्यम्; अष्टानामित्यत्र “अष्टन आ” इत्यारामे कृते नुड्विधानाभावात् अष्टाना-
मिति तथा अस्वार्थे प्रियपञ्चानामिति चानिष्टरूपमापद्येत । पञ्चानामिति—रपणान्तेति
नुट्, नान्तोद्धवस्येति त्रिविक्रमः, पूर्वस्य विष्णु पदवत्त्वान्नातान्तस्येति नरामहरः । अत्र
विष्णुजनादि प्रत्ययं ‘नाम’ निमित्ततया गृहीत्वैव नलोपः क्रियते अतो न तस्यासिद्धत्वमिति
विवेच्यम् । अत्राकरणात् सन्निपात लक्षण विधिस्तु नेष्टः ।

अमृता०—१२४. अष्टन इति । एकवर्णविधित्वादष्टन्शब्दस्य नराम स्थाने आरामो
वादिश्यते विष्णुभक्तौ परस्याम् । विष्णुभक्ताविति किम्—अष्टत्वम् ।

अमृता०—१२५. तस्मादिति । अष्टन्शब्दस्य विहितारामादुत्तरयोर्जस्शसोः स्थाने
औश् भवति स्वार्थे । पक्षद्वयेऽप्यष्टानामिति—ननुआदेशपक्षे तस्यनित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्च
प्रागेवात्वेकृते नान्तत्वाभावान्नुटोऽप्रवृत्तेः “अष्टामि”त्येव रूपं भवितु मर्हतीति चेन्न,
परिभाषा क्रमविपर्ययात् । यथाहि—विष्णुभक्तिस्त्विति समग्रव्यापोह्यारामादेश इत्यसौ
सामान्यः, “नुडामि” इत्येकदेशव्यापीति विशेषएव । एवंस्थिते पूर्वपरयोः परविधि
बलवानित्यादौ—“तेषुचोत्तरोत्तर” इत्यनेन नित्यादन्तरङ्गादपि विशेष (अपवाद) विधे

बाल०—रप ॥१२२॥

बाल०—नान्तौ । ननु मान्तात् कथं नुड्विधीयते पञ्चानामित्यादीनां संख्या-
नान्तोद्धवस्य त्रिविक्रम आमीति कृते सिद्धत्वादिति न वाच्यं अस्वार्थे प्रियपञ्चजामित्यत्र
प्रियपञ्चानामित्यनिष्टरूपं स्यात् । अष्टानामित्यत्र ‘अष्टन् आ विष्णुभक्तिषु वे’त्यनेनारामे
कृते अष्टामिति च स्यात् ॥१२३॥

बाल०—अष्ट । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्तते इति नरामस्यारामः ॥१२४॥

अगुनः परार्थत्वेऽप्यात्वं वा नत्वौश् । प्रियाष्टा प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः ।
भगवति विश्वपा वदेव—प्रियाष्टः । आमि प्रियाष्टाम् । पक्षे प्रियाष्टा
प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः । भगवति—प्रियाष्टनः । आमि प्रियाष्टनाम् ।
अर्वन् अर्वा ।

१२६, अनञ्पूर्वस्यार्वणोऽर्वतु सुविना ।

चतुर्भुजानुबन्धानां नुम् ।

१२७, नवर्जतवर्गस्यस्य नस्य न णत्वम् ।

अर्वन्तौ अर्वन्तः । अर्वन्तम् अर्वन्तौ अर्वतः । अर्वता अर्वद्भ्याम्, हेअर्वन् ।

बलवत्त्वं निर्धारितमस्ति सन्धि प्रकरणे । तस्मादिह प्रथमं रपणान्तेति नुटि कृते, आत्वे
चाष्टानामित्येव सिद्धम् । अनादेशपक्षेऽपि नुट्, नान्तोद्धवस्येति त्रिविक्रम स्ततो नामान्तस्य
नस्यहरः । परमपञ्चेति—परमाश्रतेपञ्च चेति विग्रहः । इहसंख्यायाः प्राधान्यमिति
तदन्तविधिः । प्रियपञ्चेति—प्रियाः पञ्च यस्य सः । गौणत्वात् संख्याया अप्राधान्यमिति
अस्वार्थता । भगवति प्रियपञ्चइति—वमसत्सङ्गहीनस्येति अनोऽरामे हरेतवर्गस्य
चवर्गः । प्रियपञ्चामिति—अस्वार्थत्वान्ननुम् । एतच्च काशिका सुपद्मादि सम्मतम् ।
दीक्षित—दुर्गादासौ तु प्रियपञ्चां प्रियपञ्चानामिति साधयतः । अष्टनः परार्थत्वेऽप्यात्वमिति—
आरामविधानसूत्रे स्वार्थशब्दाग्रहणात् । नत्वौशिति—औश् विधायक सूत्रे स्वार्थपद-
निवेशात् । भगवति प्रियाष्टत् इति—अत्राप्यनोऽरामहरः । इहतवर्गस्य (नस्य) टवर्गं
युक्तत्वेऽपि न टवर्गत्वम् अन्तरङ्गकार्ये क्रियमाणे बहिरङ्गस्यारामहरस्यासिद्धत्वात् ।
उभयाश्रितत्वेन आरामहरस्य बहिरङ्गता, केवलप्रकृत्याश्रितत्वेन णत्वत्यान्तरङ्गता ज्ञेया ।

अमृता०—१२६. अनञिति । सुविनेतरप्रत्ययेषु नञ्पूर्वभिन्नस्यार्वन् शब्दस्य अर्वतु
इत्येवमादेशोभवति । ऋराम इत् नुमर्थः । प्रत्ययेष्विति व्याख्यानात् तद्धितेऽपिस्यादेवा-
देशः, आर्वतमित्यादि प्रयोगसिद्धौ वामन-वोपदेव-दुर्गसिंहादीनां मतैक्यदर्शनात् । प्रत्यय
इति किम्—समासेमाभूत्; तेन “सहस्रद्वगवर्गव इति नैषधे श्रीहर्षः ।

अमृता०—१२७. नवर्जेति । ववर्गस्थस्य नस्य ररामादेरुत्तरं प्राप्त णत्वं न स्यात् ।
तवर्गान्तो यो नराम स्तत्र स्थितस्य नरामस्य स्यादेव णत्वं क्षुण्णमित्यादौ । अर्वन् शब्दो

बाल०—तस्मात् । तस्मादरामात् परयोर्जसृशसोः स्थाने स्वार्थे औश् भवति ।
शिदित सर्वादेशः । परमपञ्चेति परमाश्र ते पञ्च चेति विग्रहः । एवं परमाष्टाविति प्रिय-
पञ्चेति प्रियाः पञ्च यस्येति विग्रहः । अष्टन इति परार्थत्वेऽप्यत्वं वेति आरामविधानसूत्रे
स्वार्थशब्दोपादानाभावादिति शेषः । न त्वौशिति औश् विधानसूत्रे स्वार्थशब्दोपादाना-
दिति शेषः ॥१२५॥

बाल०—अनञ् । सुं विना विष्णुभक्तिषु परासु अनञ्पूर्वस्य अर्वन्शब्दस्य स्थाने
अर्वतु भवति ॥१२६॥

नञ् पूर्वस्य तु अनर्वा अनर्वाणौ । कृष्णगुप् तस्य पुंसि—कृष्णगुप्
कृष्णगुप् कृष्णगुपौ । मान्तः प्रशाम् तस्य पुंसि—
१२८. धातोर्मो नो विष्णुपदान्ते भवयोश्च ।

अत्र फलि चेति तस्यां भ्रमः, संगस्यत इत्यादौ विधानवलान्नरामस्यैव
स्थितिः स्यात् । प्रशान् । प्रशानो नस्य चादाविति ज्ञापकान्नस्य हरो
नस्यात् । प्रशामौ प्रशामः । प्रशान्भ्याम् । चतुर् नित्यं बहुवचनान्त
स्तस्य पुंसि—

घोटकवाची । कृष्णं गोपायति रक्षतीति कृष्णगुप् श्रीनन्दादिः । प्रशामिति—शमु उपरमे
धातोः विवपि हरिवेष्वन्तोद्धवस्येत्यादना त्रिविक्रमः ।

अमृता०—१२८. धातोरिति । विष्णुपदान्ते विषये भवयोश्च परयो धातो मरामस्य
नरामादेशः स्यात् । विष्णुपदान्त इति किम्—प्रशामौ । भवयो यथा—जङ्गन्मि, जङ्गन्वः
कृति च क्वसौ—जगन्वान् । भवयोः किम्—प्रशाम्यति । धातोरिति किम्—इदम् किम् ।
एवं तमु दमु धात्वोः प्रताम् प्रदामौ । तस्यां भ्रम इति सर्वेषाममतत्वात् । अत्रदोषमपि
दर्शयति—संगस्यतइत्यादाविति । सम्पूर्वात् गम्लृ धातोः कल्कौ स्यते प्रत्ययान्तं पद-
मेतत् । अविष्णु पदान्तस्येत्यादिना मरामस्य विष्णुचक्रम् । प्रकपेण शाम्यतीति प्रशान्
भगवद्वाची ।

ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कथं न स्यात् तत्रसिद्धान्तयति—
प्रशान् इत्यादि । प्रशानो नस्य चादौ हरिवेषुरिति सन्धिसूत्रम्—प्रशाम् शब्दस्य विष्णु-
पदान्ते विहित-नरामस्य हराभावं ज्ञापयति, अन्यथा नरामासद्भावे विधानवैफल्यं स्यात् ।
वस्तुत आदेशः स्थानिवत् क्वचिदित्यादौ वर्णानांतद्व्यक्तिवद्भावो यत्रमंस्यते तत्रैवेति
न्यायादिहैव (मराम) स्थानिवत्त्वस्य न्याय्यत्वाद् विधानसामर्थ्याच्च नरामहरो न स्यात् ।

नच वाच्यं—मरामहरस्य लक्षणविधानाभावात्तल्लोप प्राप्त्यर्थं मेव नरामविधान-
मिति । विष्णुपदान्ते मरामहरस्य पृथग्विधाने कृतेहि तत्सिद्धेः नरामं विधाय
तुनस्तल्लोपस्य प्रक्रियागौरवात् । “नत्वस्यासिद्धत्वान्न नकार लोपः” इति काशिका च ।
प्रशान्भ्यामित्यादौ पदान्तत्वान्नविष्णुचक्र-हरिवेषू ।

बाल०—नवर्ज । सुगमम् ॥१२॥

बाल०—धातोः । विष्णुपदान्ते विषये भवयोश्च परयोः । अत्रेति झलि चेति तस्य
प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमः सर्वेषाममतम् । दोषमप्याह संगस्यत इत्यादाविति विधानवलान्न-
विधानसामर्थ्यात् । गंस्यत इति गम्लृ सृप्लृ गतौ कन्किस्यते अविष्णुपदान्तस्येत्यादि-
नामस्य विष्णुचक्रम् । यद्यत्र नरामः स्यात्, तदा तस्यैव स्थितिः स्यात् अन्यथा झली-
तद्विधानमनर्थकं भवतीति प्रशान्भ्यामित्यादीनां प्रक्रियाकौमुदीमतेऽपि विष्णुपदत्वेनै-
सिद्धिरिति ज्ञेयम् । ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कस्मान्न भवती-

१२६. चतुरनडुहोराम् कृष्णस्थाने बुद्धेत्वम् ।

मइत् । चत्वारः चतुरः । विष्णुसर्गे कृते पुनाररामः—चतुर्भिः चतुर्भ्यः ।
रषणान्तेति नुट् चतुर्णाम् ।

१३०. ररामस्य नविष्णुसर्गः सुपि ।

चतुर्षु । प्रियचतुर्—प्रियचत्वारौ प्रियचत्वारः । अस्वार्थादामि न नुट्
प्रियचतुराम्, हेप्रियचत्वः । हल् शब्दस्य सुपि हल्षु । अभ्रतीति क्विपि
अभ्र शब्दात् सौ सत्सङ्गान्त हरे अप् अव् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति
तस्यां कल्पितम् ।

दैत्यवृश्मचाष्टे इति ण्यन्तात् विवप् प्रत्ययः । दैत्यव् दैत्यवौ ।

अमृता०—१२६. चतुरिति । कृष्णस्थाने चतुर् अनडुह् शब्दयोः आमागमः स्यात् ।
बुद्धस्य कृष्णस्थानत्वात् तत्राप्यामि प्राप्ते अमिति विशेष विधानम् । आमो मरामेत्वात्
चतुर् इत्यस्य उरामात् परं स्थितिः । चतुर्भिरित्यादौ सररामयोरिति विष्णुसर्गेकृते,
अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन पुनश्च ररामः । शामि—ररामात् सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं
विनेतिद्वित्वेचतुर्णाम् । अधातुत्वादुकारस्य न दीर्घता ।

अमृता०—१३०. ररामस्येति । सुपि विष्णुभक्तौ स-र-रामयोरित्यनेन प्राप्तो यो
विष्णुसर्गः सतु नस्यात् । चतुर्ष्विति—ररामात्सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विनेति निषेधात् षस्य
न द्वित्वम् । हेप्रियचत्वरिति—बुद्धेअम्विधानात् । बहुवचनात्तत्वाच्चतुर्शब्दस्य स्वार्थे तु
बुद्धत्वं न सम्भवेदित्यस्वार्थे दर्शितम् । तदन्तविधेरिष्टत्वात् परमचत्वा इत्यादि । आमितु
नुडेव—परमचतुर्णामिति ।

हल्ष्विति—ईश्वरेत्यादिना पत्वम् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति-सत्सङ्गान्यस्य हर
इत्यत्र यणः (हरिमित्राणाम्) सत्सङ्गान्तत्वे सति लोपस्य निषेध इति मतं प्रक्रियाकौमुद्यां
स्वकल्पितम्, कुत्राप्येवमदर्शनादिति भावः । अभ्रतीति—मेघवाची अभ्रशब्दः । तस्मात्
यइवाचरतीत्यर्थे क्यङः क्विप्; अराम हरोरामधातुके, पुनः कृत् क्विपि अभ्र शब्दो-
निष्पन्नः । दैत्यवित्—अनेकसर्वेश्वरस्य संसार हर इतिणौ संसारहरे—दैत्यविधातोः
क्विप् । ततो णेहरे क्विपो लोपेच दैत्यव् । विरामे न हरिकमलं, विष्णुदासत्वाभावा-
दन्तस्थवस्य ।

चेत्तत्राह प्राशान इति यद्यत्र नस्य हरः स्यात्तदा प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुरिति सूत्र-
मनर्थकं स्यात्तस्मान्नात्र नस्य हरः ॥१२८॥

बाल०—पुनर्राम इति अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन ॥१२८॥

बाल०—ररामस्य । सुपि परे हल्ष्विति । ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना पत्वम् । यल
इति यलो हरिमित्रस्य लुक् प्रतिषेधो वाच्य इति अवभ्रशब्दस्य ररामहरो न भवतीति तु
मतं तस्यां कल्पितमेव, नतु पूर्वाचार्यस्य सम्मतम् । दैत्येति अनेकसर्वेश्वरस्य संसारहर

नञ् पूर्वस्य तु अनर्वा अनर्वाणौ । कृष्णगुप् तस्य पुंसि—कृष्णगुप्
कृष्णगुप् कृष्णगुपौ । मान्तः प्रशाम् तस्य पुंसि—

१२८. धातोर्मो नो विष्णुपदान्ते भवयोश्च ।

अत्र फलि चेति तस्यां भ्रमः, संगस्यत इत्यादौ विधानवलान्नरामस्यैव
स्थितिः स्यात् । प्रशान् । प्रशानो नस्य चादाविति ज्ञापकान्नस्य हरो
नस्यात् । प्रशामौ प्रशामः । प्रशान्भ्याम् । चतुर् नित्यं बहुवचनान्त
स्तस्य पुंसि—

घोटकवाची । कृष्णं गोपायति रक्षतीति कृष्णगुप् श्रीनन्दादिः । प्रशामिति—शमु उपरमे
धातोः क्वपि हरिवेण्वन्तोद्धवस्येत्यादना त्रिविक्रमः ।

अमृता०—१२८. धातोरिति । विष्णुपदान्ते विषये भवयोश्च परयो धातोर्मरामस्य
नरामादेशः स्यात् । विष्णुपदान्त इति किम्—प्रशामौ । भवयो यथा—जङ्गन्मि, जङ्गन्वः
कृति च क्वसौ—जगन्वान् । भवयोः किम्—प्रशाम्यति । धातोरिति किम्—इदम् किम् ।
एवं तमु दमु धात्वोः प्रताम् प्रदामौ । तस्यां भ्रम इति सर्वेषाममतत्वात् । अत्रदोषमपि
दर्शयति—संगस्यतइत्यादाविति । सम्पूर्वात् गम्लु धातोः कल्कौ स्यते प्रत्ययान्तं पद-
मेतत् । अविष्णु पदान्तस्येत्यादिना मरामस्य विष्णुचक्रम् । प्रकपेण शाम्यतीति प्रशान्
भगवद्वाची ।

ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कथं न स्यात् तत्रसिद्धान्तयति—
प्रशान् इत्यादि । प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुरिति सन्धिसूत्रम्—प्रशाम् शब्दस्य विष्णु-
पदान्ते विहित-नरामस्य हराभावं ज्ञापयति, अन्यथा नरामासद्भावे विधानवैफल्यं स्यात् ।
वस्तुत आदेशः स्थानिवत् क्वचिदित्यादौ वर्णानांतद्व्यक्तिवद्भावो यत्रमंस्यते तत्रैवेति
न्यायादिहैव (मराम) स्थानिवत्त्वस्य न्याय्यत्वाद् विधानसामर्थ्याच्च नरामहरो न स्यात् ।

नच वाच्यं—मरामहरस्य लक्षणविधानाभावात्तल्लोप प्राप्त्यर्थं मेव नरामविधान-
मिति । विष्णुपदान्ते मरामहरस्य पृथग्विधाने कृतेहि तत्सिद्धेः नरामं विधाय
तुनस्तल्लोपस्य प्रक्रियागौरवात् । “नत्वस्यासिद्धत्वान्न नकार लोपः” इति काशिका च ।
प्रशान्भ्यामित्यादौ पदान्तत्वान्नविष्णुचक्र-हरिवेणु ।

बाल०—नवर्ज । सुगमम् ॥१२७॥

बाल०—धातोः । विष्णुपदान्ते विषये भवयोश्च परयोः । अत्रेति झलि चेति तस्यां
प्रक्रियाकौमुद्यां भ्रमः सर्वेषाममतम् । दोषमप्याह संगस्यत इत्यादाविति विधानवलात्
विधानसामर्थ्यात् । संगस्यत इति गम्लु सृप्लु गतौ कन्किस्यते अविष्णुपदान्तस्येत्यादि-
नामस्य विष्णुचक्रम् । यद्यत्र नरामः स्यात्, तदा तस्यैव स्थितिः स्यात् अन्यथा झलीति
तद्विधानमनर्थकं भवतीति प्रशान्भ्यामित्यादीनां प्रक्रियाकौमुदीमतेऽपि विष्णुपदत्वेनैव
सिद्धिरिति ज्ञेयम् । ननु प्रशानित्यत्र नामान्तस्येत्यादिना नस्य हरः कस्मान्न भवतीति

१२६. चतुरनडुहोराम् कृष्णस्थाने बुद्धत्वम् ।

मइत् । चत्वारः चतुरः । विष्णुसर्गे कृते पुनाररामः—चतुर्भिः चतुर्भ्यः ।
रषणान्तेति नुद् चतुर्णाम् ।

१३०. ररामस्य नविष्णुसर्गः सुपि ।

चतुर्थु । प्रियचतुर्—प्रियचत्वारो प्रियचत्वारः । अस्वार्थादामि न नुद्
प्रियचतुराम्, हेप्रियचत्व. । हल् शब्दस्य सुपि हल्पु । अभ्रतीति क्विपि
अभ्र शब्दात् सौ सत्सङ्गान्त हरे अप् अव् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति
तस्यां कल्पितम् ।

दैत्यवृश्मन्चष्टे इति ण्यन्तात् क्विप् प्रत्ययः । दैत्यव् दैत्यवो ।

अमृता०—१२६. चतुरिति । कृष्णस्थाने चतुर् अनडुह् शब्दयोः आमागमः स्यात् ।
बुद्धस्य कृष्णस्थानत्वात् तत्राप्यामि प्राप्ते अमिति विशेष विधानम् । आमो मरामेत्त्वात्
चतुर् इत्यस्य उरामात् परं स्थितिः । चतुर्भिरित्यादौ सररामयोरिति विष्णुसर्गेकृते,
अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन पुनश्च ररामः । शामि—ररामात् सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं
विनेतिद्वित्वेचतुर्णाम् । अधातुत्वादुकारस्य न दीर्घता ।

अमृता०—१३०. ररामस्येति । सुपि विष्णुभक्तौ स-र-रामयोरित्यनेन प्राप्तो यो
विष्णुसर्गः सतु नस्यात् । चतुर्विति—ररामात्सर्वेश्वरे तु हरिगोत्रं विनेति निषेधात् पस्य
न द्वित्वम् । हेप्रियचत्वरिति—बुद्धेअम्विधानात् । बहुवचनात्तत्त्वान्नतुर्शब्दस्य स्वार्थे तु
बुद्धत्वं न सम्भवेदित्यस्वार्थे दर्शितम् । तदन्तविधेरिष्टत्वात् परमचत्वा इत्यादि । आमितु
नुडेव—परमचतुर्णामिति ।

हल्ष्विति—ईश्वरेत्यादिना षत्वम् । यणः प्रतिषेधो वाच्य इति-सत्सङ्गान्यस्य हर
इत्यत्र यणः (हरिमित्राणाम्) सत्सङ्गान्तत्वे सति लोपस्य निषेध इति मतं प्रक्रियाकौमुद्यां
स्वकल्पितम्, कुत्राप्येवमदर्शनादिति भावः । अभ्रतीति—मेघवाची अभ्रशब्दः । तस्मात्
यइवाचरतीत्यर्थे क्यङः क्विप्; अराम हरोरामधातुके, पुनः कृत् क्विपि अभ्र शब्दो-
निष्पन्नः । दैत्यविति—अनेकसर्वेश्वरस्य संसार हर इतिणौ संसारहरे—दैत्यविधातोः
क्विप् । ततो णेहरे क्विपो लोपेच दैत्यव् । विरामे न हरिकमलं, विष्णुदासत्वाभावा-
दन्तस्थवस्य ।

चेत्तत्राह प्राशान इति यद्यत्र नस्य हरः स्यात्तदा प्रशानो नस्य चादौ हरिवेणुरिति सूत्र-
मनर्थकं स्यात्तस्मान्नात्र नस्य हरः ॥१२८॥

बाल०—पुनर्राम इति अनीश्वरादपि ररामज इत्यनेन ॥१२८॥

बाल०—ररामस्य । सुपि परे हल्ष्विति । ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना षत्वम् । यल
इति यलो हरिमित्रस्य लुक् प्रतिषेधो वाच्य इति अब्रशब्दस्य ररामहरो न भवतीति तु
मतं तस्यां कल्पितमेव, नतु पूर्वाचार्यस्य सम्मतम् । दैत्येति अनेकसर्वेश्वरस्य संसारहर

१३१. यवयो विष्णुपदान्तयोर्हरो गोपाले ।

नवयो हंर इति दैत्यभ्यां दैत्यभिः दैत्यवृषु ।

१३२. सर्वेश्वरे तु विकल्पः; हरेसति पुनर्न सन्धिश्च ।

दैत्यआधाति दैत्यवायाति । प्रच्छधातोः क्विवन्तः शरामान्तः कृष्ण-
प्राश् । कृष्णप्राट् कृष्णप्राशौ कृष्णप्राच्छावित्येके । एवं वाञ्छेर्वानिश् ।
हरविधेनित्यत्वात् वान्, वांशौ वांशः । वाञ्छावित्येके । कृष्णस्पृक्, कृष्णस्पृशौ ।

उदकपूर्वत्वेतु—उदकस्पृट् । परामान्तो दधृष् । दधृक् दधृशौ । कंस-
द्विष् । षस्यङः, कंसद्विट् कंसद्विड् कंसद्विषौ ।

षष् नित्यं बहुवचनान्तः । षणान्तेति,—षट् षड् षड्भिः षड्भ्यः ।
रषणान्तेति नुट्, षस्यङः ।

अमृता०—१३१. यवयोरिति । गोपालेपरे विष्णुपदान्तस्थितयोर्यरामवरामयोर्हरः
स्यात् । विष्णु पदान्तयोरिति किम्—अप्यते मव्यते । नवयोर्हर इति कृष्णसंज्ञा न
वाच्येति शेषः । तेन दैत्यभ्यामित्यादौ न त्रिविक्रमः । दैत्यवृष्विति हरिमित्रात् षत्वम् ।
गोपालपरत्वाभावान्नहि वलोपः ।

अमृता०—१३२. सर्वेश्वर इति । सर्वेश्वरे परेतु विष्णुपदान्तयो यवयो हंरो वा
भवति, हरपक्षे सन्धि निषेधश्च भवति । कृष्णप्राशिति—प्रच्छधातोः क्विप् प्रच्छादीनां
त्रिविक्रमः, छस्यशो वस्य ऊठित्यादिना छस्य शत्वे कृष्णप्राश् शब्दः । सौ कृष्णप्राडिति—
छशोराजेत्यादिना शस्य षः, ततः षस्य डोविष्णु पदान्त इति षस्य ङः, पक्षे हरिकमलश्च
कृष्णप्राट् । एवंविश्व प्रभृतिः । वान्शिति—वाञ्छिच्छायाम् धातोः क्विप् । इरामेद्धातो
नुम्, छस्यशोवस्य ऊठित्यादिना छरामस्य शरामः । हर विधेनित्यत्वादिति—वान्श-
शब्दस्य शरामस्य छशो रित्यादिना षत्वे कृते न कृतेच सत्सङ्गान्तस्य हरो भवत्येवेति तस्य
नित्यता । कृष्णस्पृगिति—सज्जदित्यादिना शस्य कः । एवं दधृक् । षणान्तेति—
जसृशसो मंहाहर इतिशेषः ।

इत्यनेन संसारहरः । दैत्यवित्यत्र वरामस्य विष्णुदासत्वाभावात् पक्षे हरिकमलत्वाभाव
इति ॥१३०॥

बाल०—यव । सुगमम् । यवयोर्हर इतीति । यवयोर्हरे कृष्णसंज्ञा न वाच्येति दैत्य-
भ्यामित्यादौ न त्रिविक्रमादि । दैत्यवृष्विति ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिना षत्वम् ॥१३१॥

बाल०—सर्वे । विष्णुपदान्तयोर्यवयोः सर्वेश्वरे तु परे हरो भवति । हरे कृष्ण-
प्राशिति प्रच्छधातोः क्विप् प्रच्छादीनां त्रिविक्रमो न च सङ्कर्षण इति त्रिविक्रमं सङ्कर्षण-
निषेधश्च । 'छस्य शो वस्य उट् हरिवेणौ क्वौ कंसारि वैष्णवे च' इति छस्य शः ।

१३३. नित्यं हरिवेणुविधिः प्रत्ययहरिवेणौ ।

मयद्येवेति तस्यां भ्रमः ।

१३४. पात् परस्य टवर्गयुक्तस्य च तवर्गस्य टवर्गः, नतु विष्णु-
पदान्ताट्टवर्गदिनाम-नवति-नगरीणाम् ।

तेननामष्टवर्गत्वं — षण्णां षट्सु । नवति-नगर्योष्टवर्गत्वम् षण्णदति
षड्णवति; षण्णगर्यः षड्णगर्यः ।

अमृता०—१३३. नित्यमिति । प्रत्ययहरिवेणौ परे हरिवेणुविधि नित्यंभवति ।
हरिवेणौ हरिवेणु वेंत्यनेन विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थमिदम् । अनेन डरामस्य णरामः ।
तस्यां भ्रमइति—मयटि प्रत्यये एव नित्यत्वविधानेन सुपिअव्याप्तेरत्र षड्णामिति
पाक्षिकतायां दोष इत्याशयः ।

अमृता०—१३४. पात्परस्येति । पात् परस्य तवर्गस्य, टवर्गयुक्तस्य च तवर्गस्य
टवर्गोभवति । विष्णुपदान्तादुत्तरस्य नाम-नवति-नगरीभिन्नस्य तु तवर्गस्य टवर्गो न
भवति । नामिति नुटासहामो निर्देशः । तेनविष्णुपदान्ते नामादिवर्जस्यैव निषेधात् तेषां
तु टवर्गत्वं स्यादेव । तत्र पात्परस्य तवर्गस्य टवर्गोयथा—पेष्टा कृष्ण इत्यादि । टवर्ग-
युक्तस्य यथा—अड्डति, कंसजिह्वीकते, अग्निचिड्डीनः, चक्रिण्डीकसे इत्यादि । विष्णु
पदान्ताट्टवर्गात्तु नानादि त्रयाणामेव टवर्गत्वं नान्येषाम् । षण्णमिति—पस्य डत्वे, टवर्ग-
युक्तस्य नामो नस्य णत्वे च नित्यं हरि वेणुविधिरिति पूर्व डरामस्य णत्वम् । नवति-नगर्योः
प्रत्ययत्वाभावाद् विभापयैव हतिवेणुविधिः । षण्णरः षड्णर इति—षट् च ते नरश्चेति
श्यामरामः । नर इति नृशब्दस्य जसो रूपम् । विष्णु पदान्तत्वात् नामादिभिन्नत्वाच्च
नरइत्यत्र न णत्वम् । प्रत्ययाभावान्नापि नित्यं हरिवेणुविधिः । अत्र षण्णरः स्थले षण्णव
षड्णवेति पाठश्च क्वचित्; तदा षड्णुणिता नव षण्णवेति विग्रहः ।

कृष्णप्राडिति छशोराजे'त्यादिना शस्य षः, 'पस्य ड' इत्यादिना पस्य डः 'विष्णुदासे'
त्यादिना डस्य टः । वान्शिति वाञि इच्छयोः इरामेत्यान्नुम् 'छस्य श' इत्यादिना छस्य
शः । वानिति 'छशोराजे'त्यादिना शस्य पे कृतेऽपि पस्य हरो भवतीति पविधानात् पूर्वमेव
'सत्सङ्गान्तस्ये'त्यादिना शस्य हरो भवति । कृष्णस्पृगिति 'स्रज् दिश् दृशे'त्यादिना शस्य
कः । दधृगित्यत्रापि तेनैव पस्य कः । 'पनान्ते'ति जस्-शसोर्महाहरः ॥१३२॥

बाल०—नित्यम् । प्रत्ययहरिवेणौ परे हरिवेणुविधिर्नित्यं भवति । 'हरिवेणौ
हरिवेणुर्वे'त्यनेन विकल्पे प्राप्ते नित्यतार्थं सूत्रमिदम् । अत्रानेन डरामस्य णरामः ॥१३३॥

बाल०—पात् परस्य । पात् परस्य तवर्गस्य टवर्ग भृतस्य तवर्गस्य च स्थाने टवर्गो
भवति । न तु । विष्णुपदान्ताट्टवर्गात् परस्य नाम-नवति नगरीभिन्नानां तवर्गस्य टवर्गो
न भवति । तेनेति नसहित आम् नाम् तस्य नामः । षण्णव इति नाम-नवति-नगरीभिन्न-
त्वान्न टवर्गत्वम् । ननु यद्यत्र टवर्गयुक्तस्येति कृतं, तर्हि कंसजिह्वीकत इत्सादीनि

नेह—षण्णरः षड्णरः । दतौ परवर्णौ इत्यादीनि तु सन्धिमात्र सुबोधाय-
पृथगुक्तानि । नतुविष्णुपदेत्यादौ विष्णुपदान्तग्रहण फलं घट्टिरित्यादौ
दर्शयिष्यते । अस्वार्थत्वात् प्रियषषः प्रियषषाम् सजुष् ।

१३५. सजुष् आशिष् इत्यनयोरिसुसन्तधातोश्चरो विष्णुपदान्ते,
तस्य विष्णुसर्गश्च सुपि ।

धातुग्रहणफलं समासकार्ये सषविधाने सर्पिष्काम्यतीत्यत्र वक्ष्यते ।

ननु पात्परस्येत्यादि लक्षणेनैव सिद्धेः कयं मन्धौ कंसजिटीकते चक्रिण्डौकसे
इत्यादि सिद्धये दतौपरवर्णौ इत्यादि लक्षणप्रपञ्च इति चेत्तत्राह—दताविति । आदिशब्देन—
“डढणेपु णरामः”, “प्रशानोनस्य चादौ हरिवेणु” रित्येतयोर्ग्रहणम् । उक्त लक्षणत्रयं
प्रथमतः सुकोमलभतीनां विद्यार्थिनां सन्धिमात्र सुबोधाय तत्रपृथगुक्तं, वस्तुतस्तु तत्सर्व-
मनेनैव सिध्यतीत्यर्थः । घट्टिरिति—घट्ट चेष्टायां धातोः—“क्तिर्लक्ष्म्यां भावे” इति
क्तिप्रत्ययः । सूत्रे विष्णुपदान्तादेव टवर्गात् तवर्गस्य टवर्गत्व निषेधेन इहाविष्णुपदान्तात्
टवर्गत्वमित्यर्थः । अस्वार्थत्वादिति—प्रियाः षट् येषां ते प्रियषषः, गौणत्वान्न जस-शसो-
र्महाहरः । एवंमामि रषणान्तेत्यनेन नुट् च न । सजुषिति—जुष प्रीतिसेवनयो धातोः
क्विपि जुष्, ततो जुषा सह वर्तत इति संजुष् ।

अमृता०—१३५. सजुषिति । विष्णुपदान्ते सजुष् आशिष् शब्दयोस्तथा इसुसन्त
धातोश्चान्तवर्ण स्थाने रः स्यात् । सजुषाशिषोर्धातुत्वेऽपि मूर्द्धन्यान्तत्वात् पृथगुक्तिः । तस्य
ररामस्य सुपि परे विष्णुसर्गश्च स्यात् । ररामस्य न विष्णुसर्गः सुपीति निषेधे प्राप्तेऽयं
विधिः । तत्र सहजररामस्यैव विष्णुसर्गं निषेधः चतुर्षु प्रभृतिषु । कृत्रिमत्वादिह तु
स्यादेवेति भावः । सजुषाशिषोः षस्य डो विष्णुपदान्त इति प्राप्ते तदपवादार्थं रविधानम्,
इसुसन्तधातोस्तूद्धवस्य त्रिविक्रमार्थं ज्ञेयम् । सर्पिष्काम्यतीति—सर्पिर्निच्छतीत्यर्थे काम्य-
प्रत्ययः । उक्तार्थानामित्यादि न्यायेन इच्छतेरप्रयोगः, ततः सर्पिस्काम्य इति स्थिते
विष्णुपदान्तत्वात् सरामस्य ररामः स्याद् यद्यत्रसूत्रे धातु ग्रहणं न क्रियेत । इह तु सरामस्य
विष्णुसर्गं स्तस्यपुनः “काम्ये तु न-ररामजविष्णुसर्गं विनेति परामः । सनाद्यन्तानाञ्च
धातुत्वात् तिप् शवादयः ।

प्रशाण्टीकत इत्यादीनि गरुत्मण्डयसे चक्रिण्डौकसे इत्यादीनि चानेनैव सिद्धयन्ति, तत्
किमर्थं तत्सिद्धयर्थं सन्धिप्रकरणे लक्षणं कृतमिति चेत्तत्राह दताविति । टवर्गे परे दतौ
परवर्णाविति । टठे परे प्रशानो नरामस्य हरिवेणुरिति । डढणेपु णराम इति लक्षणञ्च
सन्धिमात्रसुबोधाय पृथगुक्तम् । वस्तुतस्तु अनेनैव सिद्धयन्तीति । न त्विति । न तु विष्णु-
पदान्तादृवर्गादिनाम-नवति-नगरीणामिति सूत्रे । घट्टिरिति घट्ट चेष्टायाम् । ‘क्तिर्लक्ष्म्यां
भाव’ इति क्तिः । यदि विष्णुपदान्तादिति न कृतं स्वात्तदात्रापि टवर्गो न स्यादिति ।
प्रियषष् इति प्रिया षट् येषां ते इति अस्वार्थत्वात् षणान्तेत्यादिना न जसशसोर्महाहरः ।
प्रियदषामिति अस्वार्थत्वात् षणान्तेत्यादिना न नुट् ॥१३५॥

१३६. इरुन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमो विष्णुपदान्ते ।

सज्जः सज्जुषौ सज्जभ्याम् सज्जःषु, शौरित्वं सज्जःषु । सनन्तधातोः क्विप्,—
पिपठिष् । विष्णुपदान्तत्वान्निमित्तत्वं निवृत्तेः षत्वापायः । पिपठीः
पिपठिषौ पिपठिषः ।

पिपठीभ्याम् पिपठीःषु ।

एवं विश्वचिकीर्ष् । रात्सस्यैवेति—विश्वचिकीः विश्वचिकीर्षौ विश्व-
चिकीभ्याम् विश्वचिकीर्षु ।

अमृता०—१३६. इरुन्तेति । विष्णुपदान्ते विषये इरुन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमः
स्यात् । न च धातोरवप्रागिदुतोरित्यादिना इरुद्धवस्य यस्त्रिविक्रमो विहितस्तेनैवेष्टसिद्धः
किमनेनेति वाच्यम्; विष्णुजन सामान्यनिमित्तग्रहणादपदान्त एवासौ त्रिविक्रमइष्टः, इह
तुपदान्त एवेति विशेषः । किञ्च सौ सज्जः; पिपठीः प्रभृति स्थले ह्यस्य सम्यक् चरितार्थता,
एवमादिस्थले तस्याविषयत्वात् । सनन्तधातोरिति—पठितुमिच्छतीति वाक्ये सनन्त
पिपठिष धातोः क्विपि अरामहरे पिपठिष् शब्दः । तदाअविष्णुपदान्तत्वादीश्वरहरिमित्रे-
त्यादिना सनः सरामस्य पत्वं जातम् । अथ विष्णुपदान्ते तन्निमितापायात् नैमित्तिकस्य
पत्वस्यापाये पुनः सरामः, ततश्च रविधानं त्रिविक्रमश्च पिपठीः ।

विश्वचिकीर्ष्—अयञ्च शब्दः सनन्त विश्वचिकीर्ष् धातोः क्विपि सिद्धः । इहापि
विष्णुपदान्तत्वेन षत्वापायात् विश्वचिकीर्ष् इति पूर्ववत्; सौरात्सस्यैवेति सस्य हरः ।
ततो यावत्सम्भव स्तावद्विधिरिति न्यायेन धातो रवप्रागिदुतो रित्यादिना भूतपूर्वस्य
त्रिविक्रमस्यापायः, विष्णुजनरूप निमित्तापायात् । पुनरिरुन्तधातो रित्युद्धवस्य त्रिविक्रमो
ररामस्यविष्णुसर्गश्च—विश्वचिकीः ।

बाल०—सजुप् । एकवर्णो विधिरन्ते प्रवर्तते इति अन्ते ररामो भवतीति । तस्य ।
तस्य ररामस्य स्थाने सुपि परे विष्णुसर्गः स्यात् । ररामस्य न विष्णुसर्गः, सु-पीत्यनेन
प्रतिषेधे प्राप्ते विधानम् । सर्पिष्काम्यतीति सर्पिरिच्छतीत्यर्थे काम्यप्रत्यये कृते उक्तार्था-
नामप्रयोग इति न्यायेन इच्छतेरप्रयोगः । अन्तरङ्गेत्यादिना अमो महाहरः, ततः
सर्पिष्काम्य इति स्थिते विष्णुपदान्तत्वात् सरामस्य ररामे प्राप्ते धातुग्रहणात् न तत्
प्राप्तिस्ततः सरामस्य विष्णुसर्गः, काम्ये तु न ररामजविष्णुसर्गं विनेत्यनेन विष्णुसर्गस्य
परामः । ततो धातुसंज्ञत्वात् तिप् शप् ॥१३५॥

बाल०—इरुन्त । शौरित्वमिति 'शौरिषु शौरिर्वे'त्यनेन । सनन्तेति सनन्तधातोः
पिपठिषः क्विवन्तः पिपठिष शब्द इति । विष्णिति निमित्तत्वमविष्णुपदान्तत्वम् । विश्व-
चिकीरिति विष्णुपदान्तत्वात् षत्वापायः, रात्सस्यैवेति सत्सङ्गान्तस्य सस्य हरः,
इरुन्तेन त्रिविक्रमः, ररामस्य विष्णुसर्गः । विश्वचिकीर्ष्विति ररामस्य न विष्णुसर्गः
सुपीत्यनेन विष्णुसर्गनिषेधः ॥१३६॥

१३७. सहजस्य मूर्द्धन्यजातकरामसम्बन्धिनश्च क्षरामस्य सत्-
संगादिहरे डः अन्यस्य तु को वक्तव्यः, दिशिदृश्यनुदक
पूर्वस्पृशि जातस्य च ।

तत्र सहजे गोरक् । गोरट् गोरङ् गोरक्षौ गोरक्षः । गोरङ्भ्याम् गोरट्सु ।

१३८. रक्षे र्वा क इति केचित् ।

गोरक् । मूर्द्धन्यजे विश्विषलृ धात्वोः सनि विविक् —विविट् विविङ्
विविक्षौ विविक्षः । वह धातोर्वोढुमिच्छति विवक् -- विवट् विवङ्
विवक्षौ विवक्षः । अन्यस्य तु—वच धातो विवक् —विवक् विवग्
विवक्षौ । दहधातो दिधक् —दिधक् दिधग् दिधक्षौ दिधक्षः । दिश्या-
दीनाम् दिदिक् दिदृक् पिस्पृक् । मन्यन्ते च तदिदं पाणिनीयाः ।

अमृता०—१३७. सहजस्येति । सहजस्य स्वाभाविकस्य क्षरामस्य, मूर्द्धन्य वर्णजात
करामसम्बन्धिनश्च क्षरामस्य सत्सङ्गादिहरे सति शेषस्व परामस्य स्थाने डरामो भवति ।
तदन्यक्षरामस्य तु सत्सङ्गादिहरे परामस्य करामो वाच्यः । दिश्यादिजात क्षरामस्य च
सत्सङ्गादिहरे शेषस्य करामो वक्तव्यः । दिश्यादीनां मूर्द्धन्यजातक्षरामत्वात् डरामेप्राप्ते
करामार्थं पुनर्ग्रहणम् ।

अमृता०—१३८. रक्षेरिति । रक्षेः सत्सङ्गादिहरे शेष परामस्य करामो वा स्या-
दिति केचिदाहुः । पक्षे डरामश्च । अयमत्रविमर्शः—रक्षि तक्षिभ्यां ण्यन्ताभ्यां क्विपि तु
स्कोरिति नप्रवर्तते, णिलोपस्य स्थानिवद्भावादित्युक्त्वा केचित् सत्सङ्गान्तलोपं
कुर्वन्ति । केचित् पुनः सहजत्वात् स्कोरित्यादिना सत्सङ्गादिलोपमेव मन्यन्ते । तदे-
तन्मतभेदे केचिद्विकल्पमिच्छन्तीति मतान्तरं दर्शितम् । नात्रस्वमतत्वेन भ्रमितव्यम्,
सहजत्वेनोदाहृतत्वात् ।

विविक्षिति—विश प्रवेशने सनि द्विवचनं, छशोरित्यादिना शस्य षः, षढोः कः से
इति षस्य कः । ततः सनः सस्य षत्वं, कषसंयोगेक्षः । एवं विषलृ व्याप्तावित्यस्यापि ।
विविक्षिति—सन द्विवचने नरारामस्येरामः सनीति नरारामस्य इरामः अन्यत् पूर्ववत् ।
वचधातोर्वक्तुमिच्छतीत्यर्थे विवक्षः चवर्गस्येत्यादिना चस्य कः, षत्वमिति विशेषः ।

बाल०—सहजस्य स्वभावसिद्धस्य मूर्द्धन्यवर्णजातकरामसम्बन्धिनश्च क्षरामस्य
सत्सङ्गादि हरे सति डो भवति । परामस्य स्थाने डो भवतीत्यर्थः । अन्यस्य । अन्यस्य
तु क्षरामस्य सत्सङ्गादि हरे सति को वक्तव्यः । दिशि । दिश्यादि जातस्य क्षरामस्य च
सत्सङ्गादिहरे को वक्तव्यः ॥१३७॥

बाल०—रक्षेर्वेति रक्षधातोः क्षरामस्य सत्सङ्गादि हरे को वा भवतीति
केचिन्मन्यन्ते । मन्मते गोरगित्यपि । विविक्षिति विश प्रवेशने सन् द्विवचनं छशोराजे-

कालापास्तु घकार चवर्ग स्थानिकादन्यस्य षढादि-स्थानिकस्यापि कस्य लोपमाहुः । तेन विवोरित्याहुः । पिस् धातोः सरामान्तः सुपिस्, तुस् धातोः सुतुस् । सुपीः सुपिसौ सुपिसः । सुतुः सुतुसौ सुतुषः । षत्वं सुपीः पु, सुतुः पु ।

उरुश्रवस् । अत्वसन्तोद्धवस्येति त्रिविक्रमः, उरुश्रवाः उरुश्रवसौ उरुश्रवसः । उरुश्रवोभ्यां उरुश्रवःसु, हे उरुश्रवः । एवंविष्टरश्रवस् वेधस् इत्यादिः ।* अथ दोष् उणादि प्रत्ययान्तः । दोः दोषौ दोषः । दोषम् दोषौ ।

दिधक्षिति—दहभस्मी करणे द्विर्वनादि पूर्ववत्; दादेस्वधातोर्घ इतिहस्य घत्वं, जवर्ज हरिगदादे रित्यादिना दस्यघः, यादवमात्रे हरिकमलमिति घस्य क पत्वम् । दिदक्षिति—दृशिर प्रेक्षण इत्यस्य । नरऋरामस्याराम स्ततो नरारामस्येराम इतिविशेषः । पिस्पृक्षिति—स्पृश संस्पर्श इत्यस्य पूर्ववत् । उदकपूर्वत्वेतु—उदकस्पृडिति । एतानि पाणिनि-सम्मतानि ।

कालापास्तु षढादि स्थानिकस्य—मूर्द्धन्य जातस्येत्यर्थः; अपिकारात् सहजक्षराम-श्लिष्टकरामस्य च लोपमेवाहुर्नत्ववशिष्टपरामस्य डरामादिविधानम् । तेन तन्मते विवोरिति हि सिध्यति । यथाहि—विप्लुधातोः सन् किव्वन्तात् विविक्श् शब्दात् सु; परामस्थानीयस्य कस्य लोपे निमित्तापायाद् नैमित्तिकस्य पत्वस्यापायः सुलोपः, ततो विविस् इति स्थिते इसुसन्तधातोरिति सस्य रः, इरुन्तधातोरुद्धवस्य त्रिविक्रमे ररामस्य विष्णुसर्गः—विवीः । सुण्टु पेपति गच्छति चूर्णयति वेति सुपीः । एवं सुण्टु तोसति खण्डयतीति सुतुः । सुपीः ष्विति—सजुपाशीपित्यादिना सस्यरः, इरुन्तधातोरित्युद्धव-त्रिविक्रमः, तस्य विष्णुसर्गश्च सुपीति ररामस्य विष्णुसर्गः । नुम्विष्णुसर्गव्यवधानेऽपीति विष्णुसर्ग व्यवधाने ऽपि पत्वमित्यर्थः । दोरिति—विष्णुपदान्तत्वात् पत्वापाये सस्य विष्णुसर्गः ।

त्यादिना शस्य षः, षढो कः से इत्यनेन षस्य कः, शत्वं क ष संयोगे तु क्षः विपलु व्याप्तावित्यस्मादपि सन्, द्विर्वचनं, 'षढोः कः से' इति षस्य कः, पत्वम् । विवक्षिति वह प्रापणे सन् द्विर्वचनं 'नरारामस्येरामः सनी'त्यनेन नरारामस्येरामः । 'हस्य ढ' इत्यादिना हस्य ढः, 'षढोः कः स' इति ढस्य कः पत्वम् । विविक्षिति वचपरिभाषणे सन्, द्विर्वचनं, नरारामस्येरामः, चवर्गस्येत्यादिना चस्य कः, पत्वम् । दिधक्षिति दह भस्मीकरणे सन्, द्विर्वचनं नरारामस्येरामः, दादेस्तु डातोर्घः इति हस्य घः, जवर्जहरिगदादेरित्यादिनादस्य घः, यादवमात्रे हरिकमलमिति घस्य कः, पत्वम् । दिदिगिति दिदिक्षशब्दस्य रूपं दिदिक्षिति । दिश अतिसर्जने सन्, द्विर्वचनं, छशोराजेत्यादिना शस्य षः, षढोः कः स इति

* एवं चन्द्रमस् प्रचेतस् दिवौकस् दुर्मनस् प्रभृतयो वेधस् शब्दवत् ।

१३६. दोषो दोषन् यदुषु वा ।

वमसत्सङ्गेति अरामहरः । दोष्णः दोषः, दोष्णा दोषा दोर्भ्याम्
दोषभ्यामित्यादि ।

पीतं वस्ते परिदधाति पीतवस् । धातुं विनेति त्रिविक्रमाभावः—
पीतवः पीतवसौ । कंसंहिनस्तीति कंसहिंस् । अन्तरालपाठाद् विष्णु-
चक्र-विष्णुसर्गयोः सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वञ्चास्तीति सत्सङ्गान्तत्वात्
सस्य हरः । निमित्तापायान्नराम एव । धातु वर्जितेति विशेषणान्नात्र
त्रिविक्रमः । कंसहिन् कंसहिसौ कंसहिन्भ्याम् । षत्वविधौ नुमा
विष्णु चक्रमेव गृह्यते, ततो नेह षत्वं—कंसहिन्सु ।

वैकुण्ठवस्

अमृता०—१३६. दोष इति । सुगमम् । पीतमिति पीतवस्त्वमित्यर्थः । वस्ते इति
वसआच्छादने धातुरदादिः । अन्तरालपाठात् मध्ये पाठात् सर्वेश्वर-विष्णुजनयोरिति शेषः ।
सत्सङ्गान्तत्वात् सस्यहर इति—विष्णुचक्रस्यात्रविष्णुजनत्व मननात् सत्सङ्गान्तस्य सस्य
हर इत्यर्थः । धातुवर्जितेति विशेषात्—नान्त धातुवर्जित जान्तसत्सङ्गेत्यादि लक्षणे इति
शेषः । ननु कंसहिन्सु इत्यत्र नुमा व्यवधानेन कस्मात् षत्वं न ल्यादिति चेत्तत्र समाद-
धाति—षत्वविधावित्यादिना । तत्र नुम् शब्देन विष्णुचक्रमेव लक्ष्यत इत्यर्थः अत्रतु
विष्णुपदान्तस्य नुमो विष्णुचक्रत्वाभावान्न षत्वमिति मर्म ।

पस्य कः षत्वम् । दिट्गिति दिट्क्ष शब्दस्य रूपं दिट्क्षिति दृशिर् प्रेक्षणे सन्, द्विर्वचनं,
नर ऋरामस्य राम इति नरऋरामस्यारामः, नरारामस्येरामः, छशोराजेत्यादिना शस्य
पः, तनः पस्य कः, षत्वम् । पिस्पृगिति पिस्पृक्षशब्दस्य रूपं पिस्पृक्षिति स्पृश संस्पर्शे सन्,
द्विर्वचनं नरऋरामस्यारामः, वरारामेस्येरामः, शस्त पः पस्य कः, षत्वं मन्यन्ते चेति
तदिदं मतं पाणिनीयाश्च मन्यन्ते इति । कालापास्त्विति घकारचवर्ग स्थानीयात् ककारा-
दन्यस्य षढादि स्थानीयस्यापि ककारस्य लोपम् आहुः, न तु क्षइत्यस्य संयोगादि लोपे
डकारककारविधानं तेन ते विवीरित्याहुः । विवीरिति विशविप्लुधात्वोः सनन्तस्य
विविक्षधातोः क्विवन्तस्य रूपम् अत्र ककारः यकारस्थानीयः । तन्मते कलोपे कृते सनः
सस्य पूर्वं यत् सत्वं विहितं तस्य पदान्तत्वान्निवृत्तिर्भवति । ततः सस्य रः, ततो दीर्घः
रस्य विसर्गः । षत्वमिति विष्णुसर्गव्यवधाने ईश्वर-हरिमित्रेत्यादिनेति शेषः । दोरिति
विष्णुपदान्तत्वात् षत्वापायः ॥१३८॥

बाल०—दोषो । पीतमिति पीतवस्त्वमित्यर्थः । वस्तु इति वस आच्छादने अदादि ।
अन्तरालेति वर्णक्रमे अंश इति द्वौ सर्वेश्वर-विष्णुजनयोर्मध्ये पठितौ, अत एतयोः सर्वेश्वरत्वं
विष्णुजनत्वञ्चास्तीति । अत्र विष्णुचक्रस्य विष्णुजनत्वम् अतः हत्सङ्गान्तत्वात् सस्य हर
इति । धात्विति धातुवर्जितेति विशेषणात् नान्त-धातुवर्जित-सान्तसत्सङ्गेत्यादिना नात्र

१४०. ध्वंसुस्रं सु वस्वनडुहां दो विष्णुपदान्ते ।

अत्र झलि चेति तस्यां भ्रमः; ध्वस्त इत्यादौ दोषश्च । ध्वंसुस्रं सुधातु । चतुर्भुजानुबन्धत्वं नामावस्थायामेवगृहीतम् अच उपादानात् । तेनात्र न नुम्—वैकुण्ठध्वद् वैकुण्ठध्वत् वैकुण्ठध्वसौ वैकुण्ठध्वद्भ्याम् । एवं-वैकुण्ठश्चत् । अत्र वसु प्रत्ययः, विद्वसु । उदित्वाञ्चतुर्भुजानुबन्धानाश्च नुम्, नान्तेति त्रिविक्रमः, सत्सङ्गान्तहरः—विद्वान् विद्वान्सौ विद्वान्सः । विद्वान्सम् विद्वान्सौ ।

अमृता०—१४०. ध्वंसिति । विष्णुपदान्ते ध्वंसादीनामन्तवर्णस्य स्थाने दरामादेशः स्यात् । ध्वंसादि त्रयाणां विष्णुसर्गापवादः, अनुडुहस्तु दराम वाधकः । प्रक्रियाकौमुदीमतं दूषयति—ध्वस्त इत्यादौ दोषश्चेति । ध्वन्सुधातो विष्णुनिष्ठा क्तप्रत्यये अनिरामेता-मित्यादि वक्ष्यमाण सूत्रेणोद्धवनरामहरः । तरामस्य फलत्वात् (वैष्णवत्वात्) सरामस्य दरामप्रसङ्गः स्यादिति दोषः । ननु वैकुण्ठध्वदिति चतुर्भुजानुबन्धत्वेपि कथं नुमाभावः ? तत्र सङ्गतिमाह—नामावस्थायामेवेति । तत्रच हेतुः—अच उपादानादिति । चतुर्भुजानुबन्धत्वमनुचु इत्यस्याप्यस्ति तथापि तत्र यत् अच इति पृथग् ग्रहणं कृतं तेन धात्ववस्थायां चतुर्भुजानुबन्धत्वस्य न नुम् प्रसङ्गः किन्तु नामावस्थायामेवेति ज्ञापितमिति विशदः । ननु च विद्वस्शब्दस्यसौ नुमि सति विद्वन्स् इत्यवस्थायां सान्तसत्सङ्गत्वेऽप्युद्धव स्थाने नुमो विद्यमानत्वात् कथमुद्धव त्रिविक्रम इति चेत् ? सत्यमत्रेदमवधेयम्,—त्रिविक्रम लक्षणस्य वृत्तौ—“धातुवर्जितसान्त सत्सङ्गस्येति” एकवचननिर्देशतः, तथा “सान्तरूपेण यः सत्सङ्गः” इत्येवं व्याख्यानतश्च सत्सङ्गस्य तत्रैकवर्णत्वमभिप्रेतम्, अन्यथा तत्पूर्वस्थस्य सर्वेश्वरस्य उद्धवत्वासम्भवालक्षणे असम्भव नाम दोषोऽपतेत् । तस्मात् सान्तसत्सङ्गेति त्रिविक्रमः, ततो हर विधे नित्यत्वात् दरामं वाधित्वा सत्सङ्गान्तहरः । वसु प्रत्ययान्ते दविधेः सार्थक्यन्तु भ्यामादौ हि ज्ञेयम् । नचात्र सत्सङ्गान्तहरे नान्तत्वेन हि त्रिविक्रमे सिद्धे कथमनया कष्टकल्पनया व्याख्ययेति वक्तव्यम्,—कृत्सत्सङ्गान्तहह आगम नरामान्तो नान्तत्वेन नहिग्राह्यः; नान्ततयैवेष्टसिद्धावपि त्रिविक्रमसूत्रे महच्छब्दस्य पृथगुपादानं ज्ञापकादिति प्रागेवमहतु शब्दप्रसंगे प्रपञ्चितमस्ति ।

त्रिविक्रम इति । ननु कंसहिस्वित्यत्र नुम्व्यवधाने पत्वं कथं न स्यादिति चेत्तत्राह पत्व-विधौ न्विति नुम् स्थाने विहितस्य विष्णुचक्रस्यैव व्यवधाने पत्वं भवतीति नात्र पत्वम् । विष्णुपदान्तत्वात् नात्र नस्य विष्णुचक्रम् ॥१३६॥

बाल०—ध्वंसु । विष्णुपदान्ते विषये ध्वंस्वादिनाम् अन्तस्य दो भवति । अत्रेति । दोषमप्याह ध्वस्त इत्यादौ दोषश्चेति । ध्वस्त इति ध्वन्सु अधःपतने क्तः । अनिरामेतां विष्णुजनान्तानामुद्धवनरामो हरः कंसारावित्यनेन नरामोहरः । ननु वैकुण्ठध्वदित्यत्र चतुर्भुजानुबन्धत्वात् अच इत्यादिना नुम् कसनान्तस्यादिति चेत्तत्राह चतुर्भुजानुबन्धत्वमिति हि नामावस्थायां यस्य चतुर्भुजानुबन्धत्वं तस्य नुम् भवति, अस्य तु धात्ववस्थायां

१४१. वसोर्वस्य उर्भगवति ।

वस्येति सारामनिर्देशः । षत्वम्, विदुषः विदुषा विद्वद्भ्यां विद्वद्भिः ।
विदुषे हेविद्वन् ।

आदिवस् प्रभृतयः कृत्प्रकरणे साधयिष्यन्ते । रूपाणि यथा—आदिवान्
आदिवांसौ आदिवांसः । आदिवांसं आदिवांसौ आदुषः । आदुषा
आदिवद्भ्याम् । एवं जक्षिवस् । अथ जग्मिवस् । जग्मिवान् जग्मि-
वांसौ जग्मिवांसः । जग्मिवांसं जग्मिवांसौ । तथा जगन्वस् । जगन्वान्
जगन्वांसौ जगन्वांसः । उभयत्रभगवति जग्मुषः इत्यादि । पुंस् ।

१४२. पुंसः पुमसुः कृष्णस्थाने ।

अत्र च सुटीति तस्यां भ्रमः; गौणत्वे ब्रह्मणि दोषश्च । उराम इत् ।
पुमान् पुमांसौ पुमांसः । पुमांसं पुमांसौ पुंसः । पुंसा पुंभ्यां पुभ्याम् ।

अमृता०—१४१. वसोरिति । भगवति परे वसोर्वस्य उः स्यात् । साराम निर्देश
इति—अराम सहितस्य वरामस्य स्थाने उरामो भवतीत्यर्थः । वसोरिति सामान्येन ग्रहणं
क्वसोरपि प्राप्त्यर्थम् । तेनकृत्प्रकरणे ये आदि वस्प्रभृतयो वक्ष्यन्ते तेषामपि वरामस्य
उरामो भवतीति दर्शयति—रूपाणि यथेति । आदुष इति—निमित्तस्य वसो वरामस्यापा-
यादिटो निवृत्तौ षत्वम् । उभयत्रेति—क्वसौ विहित-विकल्पितेडो गम्लृधातो जति
जग्मिवस् जगन्वस् शब्दद्वयेऽपीत्यर्थः । जग्मि वस्शब्दस्य वस्यउरामे कृते निमित्तापाया-
दिटो निवृत्तौ पत्वे च जग्मुषः । जगन्वस् शब्दस्य तु वस्योरामे कृते निमित्तस्य वरामस्या-
पायात् पुनर्नरामस्य मरामः । ततो गमहनजनेत्यादि वक्ष्यमाणसूत्रेणोद्धवादर्शने जग्मुष
इति । एवं चतुर्भुजानुबन्धादीयसु प्रत्ययान्तानां श्रेयस्प्रभृतोनां श्रेयान् श्रेयांसावित्यादि ।

अमृता०—१४२. पुंस इति । कृष्णस्थाने परे पुमस् शब्दस्य पुमसु रित्यादेशः
स्यात् । गौणत्वे ब्रह्मणि दोषश्चेति—तत्रपाण्डवस्यहि सुटसंज्ञत्वेन ब्रह्मणिअतिपुमस्
शब्दस्य द्वितीया बहुत्वे शौ त्वव्याप्तेः—‘अतिपुंसि’ इत्यनिष्टरूपं स्यादिति दोषः; यत स्तत्र

चतुर्भुजानुबन्धत्वम् अतो न नुम् । अत्र हेतुमाह,—अच उपादानादिति अन्यथा अच इति
न कृतं स्यात् ॥१४०॥

बाल०—वसोर्वस्य । सारामनिर्देश इति अरामसहितस्म वरामस्य स्थाने उर्भवती-
त्यर्थः । आदुष इति निमित्तापायादिटो निवृत्तिः । उभयत्रेति उभयत्र जग्मिवस् जगन्वस्
इति शब्दद्वये । जग्मिवस्शब्दे वस्य उरामे कृते निमित्तापायादिटो निवृत्त्या जग्मुष इत्यादि
भवति । जगन्वस् शब्दे तु वस्य उरामे कृते निमित्तापायान्नरामस्य मरामः । ततो गम्
हन् जन् खन् घसामुद्धवादर्शन कंसारि सर्वेश्वरे डं विनेत्यनेन उद्धवादर्शनमिति जग्मुष
इत्यादि अत्र असिद्धरूपं न त्याज्यमिति प्रतिज्ञाया व्यभिचारो जात इति ज्ञेयम् ॥१४१॥

नुमा सर्वोऽप्यनुस्वारो लक्ष्यते इति भागवृत्तिकारादयः । अत औणादिक-
सस्यास्य पुंस इत्यादौ तत्त्व निषेधो वाच्यः । अत्रतु षत्वम्—पुंषु ।
नेत्यन्ये—पुंसु । उशनस्, उशना उशनसौ उशनसः ।

१४३. उशनसो नान्तत्वं सलोपित्वं दिष्णुसर्गत्वञ्च बुद्धे ।

हेउशनन् हेउशन हेउशनः । एवं अनेहा अनेहसौ । पुरदंशा पुरदंशौ ।

‘अतिपुमांसि’ इत्येवं भवितव्यम् । पुमानिति—चतुर्भुजानुबन्धत्वान्नुम्, नान्त धातुवर्जितेति
त्रिविक्रमः, सत्सङ्गान्तहरः, सोहंरश्च । पुंम्यामित्यादि—सत्सङ्गान्तहरे मोविष्णुचक्रं,
ततो विष्णुपदान्त त्वाद् विष्णुचक्रस्य वा हरिवेणुः ।

नुमेति—षत्वविधौ “नुम् विष्णु सर्गं व्यवधानेऽपि” इत्यत्र नुमशब्देन सर्वविधोऽ-
प्यनुस्वारो लक्ष्यते; अर्थाद्विष्णु पदान्तस्य नस्य मस्य च वैष्णवइति विधानानुसारतो
नराम स्थानिकं मरामस्थानिकञ्च विष्णुचक्रं नुमशब्देन लक्ष्यीक्रियत इत्याहुर्भागवृत्ति-
कारादयः । अतः पुंसः पुंसा इत्यादौ मरामस्थानिकानुस्वार व्यवधानेऽपि षत्वं प्राप्तमिति
तन्निषिध्यति—औणादिकस्येति । अस्य पुंम्स् शब्दस्य औणादिक सस्य षत्व निषेधो
वाच्यः, वक्तुमुचित इत्यर्थः । अन्येषामौणादिकसरामाणान्तु भवत्येव षत्वं—दोषः
हवींषीत्यादौ ।

पुंष्विति—सत्सङ्गान्त सरामस्य हरे निमित्तापाये नैमित्तिक विष्णुचक्रस्यापाये च
पुनः “मो विष्णुचक्रं विष्णुजन” इति विष्णुचक्रम्, सुपः सस्य षत्वञ्च । नेत्यन्य इति
पाणिनि-क्रमदीश्वरादयः । उशनेति—ऋरामसखिभ्यामिति सोराच् संसारहरश्च । उशना
शुक्रः । शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कवि रित्यमरः ।

अमृता०—१४३. उशनसइति । बुद्धेपरे उशनसो नान्तत्वं—सरामस्थाने नरामः
सलोपित्वं—सरामस्य लोपः, तथा विष्णुसर्गत्वं—सरामस्य विष्णुसर्गश्च भवतीत्यर्थः । हे
उशनेति सलोपे कृते एओवामनेभ्यो बुद्धस्यादर्शनम् । हेउशन इति—सस्य विष्णुसर्गेकृते

बाल०—पुंसः । अत्र चेति । दोषमप्याह गौणत्वे ब्रह्माणि दोषश्चेति तथाहि अति-
पुम् इत्यादौ पुमसः स्यात् । नुमेति यस्य कस्यापि स्थाने योऽनुस्वारो विधीयते, नुमा स
सर्वोऽपि लक्ष्यते । षत्वविधाविति शेषः इति भाषावृत्तिकारादयो वदन्तीति शेषः । ननु
तर्हि पुंस इत्यादौ षत्वं कथं न स्यादि चेत्तत्राह अत इति अस्य औणादिकस्येति सरामस्य
प्रत्ययत्वमूचनार्थमौणादिकसस्यैव षत्वनिषेधज्ञापनार्थञ्चोक्तम् । अत्र तु षत्वं पुंष्विति यतः
स्वादि-सरामोऽप्यम् । नेत्यन्य इति अन्ये क्रमदीश्वरादयः । उशनेति ऋरामसखिभ्यामुशनस्
इत्यादिना सोराच् । संसारस्य हरश्चिति इत्यमरः ॥१४२॥

बाल०—उशः । बुद्धे परे उशनसो नान्तत्वं भवति । सरामस्य स्थाने नरामो
भवतीत्यर्थः । सलोपित्वमिति सरामस्य लोपो भवतीत्यर्थः । विष्णुसर्गान्तत्वञ्चेति
सरामस्य विष्णुसर्गे भवतीत्यर्थः । हे उशनेति सलोपे कृते ‘एओवामनेभ्य’ इत्यादिना

हेअनेहः हेपुरदंशः । श्वेतवाह् पुरोडास् उक्थशास् प्रभृतयस्तु छान्दसाः ।
कृष्णवाह् ।

१४४. हस्य ढः नहो धः दादेस्तु धातोर्घः, द्रुह मुह नश स्नुह
स्निहां वा विष्णु पदान्ते वैष्णवे च ।

एते सर्वेऽपि धातवः । कृष्णवाट् कृष्णवाड् कृष्णवाहौ कृष्णवाहः ।

१४५. वाहो वा ऊठ् भगवति ।

१४६. अद्वयादूठो वृष्णीन्द्रः ।

कृष्णौहः । कृष्णौहा कृष्णवाड्भ्यां कृष्णवाट् सु ।

अत्र कंसद्विदसु इत्यत्रच षढोः कःसे इति नप्राप्नोति, अत्राकरशेन केवल-

अन्तरालपाठाद् विष्णुसर्गस्य विष्णुजनत्वस्वीकारेण राधाविष्णुजताभ्यामिति सोर्हरः ।
अनेहा कालः ।

अमृता०—१४४. हस्येति । विष्णुपदान्ते विषये वैष्णवे च परे धातो हंरामस्य
ढरामः स्यात्, नह बन्धने धातो हंस्य घः स्यात्, दरामादिधातोस्तु हस्य घः स्यात् । द्रुहादि
पञ्चानां धातूनामन्तवर्णः घरामो वा स्यात्, पक्षे यथासम्भवं ढरामादयः । ननुहरामान्त-
धातूनामिह ढत्वे घत्वे विहिते, नशेस्तु हरामान्तत्वामावात् ढत्वमपि न सिध्यति कुतः
पुनर्घत्वम् । अतएतैः सह नशेः पाठ उभयाङ्गासम्भवादप्रासङ्गिक इति चेत् ? सत्यं
श्रूयताम् । नशे घत्वं वेति लक्षणेन पृथगारम्भेगौरवं स्यादिति यावत् सम्भवविधेरनुसरणे-
नेत्थं विवरणीयम्—द्रुहो दादित्वान्नित्यं घत्वे प्राप्ते पाक्षिकढत्वम्, नशेः छशो रित्यनेन
नित्यपत्वे प्राप्ते पाक्षिकघत्वम्, अन्येषां नित्यं ढत्वे प्राप्ते पाक्षिक घत्वमनेन विहितमिति ।
अन्येषामुदाहरणानि वक्ष्यन्ते । नणेः—नक् नग् नट् नड् नग्भ्यां नड्भ्यां नक्षु नट्सु ।
कृष्णवाट् वासुदेवः ।

अमृता०—१४५. वाह इति । भगवति परे वाह् इत्यस्य वा स्थाने ऊठ् भवति ।
वा इति लुप्तपष्ठोः ।

अमृता०—१४६. अद्वयादिति । अद्वयात् परस्य ऊठो वृष्णीन्द्रः स्यात् । पुनः
सन्धिना कृष्णौहः । अत्र कृष्णवाट्सु इत्यत्र । अकरणेऽपि हेतुः—केवलधातु विषयत्वादिति ।

बुद्धस्यादर्शनम् । हे उशन इति सस्य विष्णुसर्गे कृते अन्तरालपाठाद्विष्णुसर्गस्य विष्णु-
जनत्वात् राधाविष्णुजनाभ्यामित्यादिना सोर्हरः ॥१४३॥

बाल०—हस्य ढः । हस्य स्थाने ढो भवति, नहो हस्य स्थाने धो भवति, दादे-
र्धातोस्तु हस्य स्थाने घो भवति, द्रुहमुहादीनामन्तस्य घो वा भवति विष्णुपदान्ते वैष्णवे
चेति सर्वत्र योज्यं सर्वेऽपीति सर्व एवेत्यर्थः ॥१४४॥

बाल०—वाहो वा । वेति सूत्रबलेन लुप्तपष्ठो ॥१४५॥

धातु विषयत्वात् । ततश्च कृष्णवाट् साद्भवतीत्यादौ कृदन्तधातो
स्तद्धितोऽपि न स्यात् । सम्मत रूपत्वात् । पाणिनीयैरपि समाधेय-
मेवेदम् । असुपीत्युक्त्वापि क्रमदीश्वर-पद्मनाभाभ्यां तद्धिते तु समाधेय मेव ।
कृष्णपण्डित स्त्वपदान्त इत्युक्त्वा सर्वमेव समादधे ।

अथ अनडुह् । चतुरनडुहो राम् ।

१४७. अनडुहो नुम् च सौ ।

सत्सङ्गान्त हरः । असिद्धत्वान्ननस्यहरः । अनड्वान् अनड्वाहौ
अनड्वाहः । अनड्वाहम् अनड्वाहौ अनडुहः । अनडुहा अनडुद्भ्याम् ।
बुद्धेत्वम् हेअनड्वन् ।

क्विवन्तस्य धातुत्वेऽपि नामत्वविद्यमानत्वान्न केवल धातुत्वम्; शुद्धधातुत्वाभाव इत्यर्थः ।
कृष्णवाट्सादिति—देये अधीने च सातिप्रत्यय स्तद्धितः । पाणिनीयैरपि कृष्णवाट् सादिति
रूपं समा धातव्यम् । अत्रच समात्र निमित्तत्वेन तद्धित साति प्रत्ययेऽति व्याप्तेः समाधान-
मावश्यकमित्यर्थः । असुपीत्युक्तेऽपि सुवभिन्ने तद्धिते अतिप्रसङ्गः स्यादिति तत्र च
समाधानं कर्तव्यं क्रमदीश्वर पद्मनाभाभ्याम् । कृष्णपण्डितः प्रक्रिया कौमुदी टीकाकारः ।
तेन खलु “पढोः कःसेऽपदान्ते” इत्येवं व्याख्यातम् । तेन हि धातुविषयत्व मेवायातम् ।
कृष्णवाट्सु कृष्णवाट्सादित्यादौ पदान्तत्वान्न कत्व प्रसङ्ग इति सम्यक् समाहितं तेन ।

अमृता०—१४७. अनडुह इति । असिद्धत्वादिति—क्वचिदन्तरङ्गे कार्ये क्रियमाणे
इत्यादि न्यायेन नस्य हरो न भवति । अत्रान्तरङ्गकार्यं नरामहरः, स्वल्पाश्रितत्वात् ।
वहिरङ्गं सत्सङ्गान्तहरः, बह्वाश्रितत्वात् । अनः शकटं वहतीति अनड्वान् वृषभः ।
अनडुद्भ्यामिति—ध्वंसु स्रंसु इत्यादिना हरामस्य दरामः । गोधुगिति—दादेस्तु धातो र्घं
इति हस्य घत्वम् । विष्णुदास इत्यादिना घरामस्य गरामः ।

बाल०—अद्व । अत्रेति अत्र कृष्णवाट् सु इत्यत्र च । हेतुमाह अत्रेति अत्र नामज-
विष्णुपदप्रकरणे अकरणेन तस्य लक्षणस्य केवलं धातुविषयत्वादिति । ततश्चेति ततः
केवलधातुविषयत्वाद्धेतोः कृष्णवाट् सादिति साति प्रत्ययस्तद्धितः । तद्धितेऽपि न
स्यादिति । यतः अत्र केवलधातुविषयत्वाभावः । सम्मतेति कृष्णवाट् सादित्यादेः सर्व-
सम्मतरूपत्वात् पाणिनीयैरपि इदं कृष्णवाट् सादित्यादिकं रूपं समाधेयमेव, तेषामत्र स्पष्टं
समाधानं नास्तीति तैरप्यत्र समाधानं कर्तव्यमित्यर्थः । असुपीति क्रमदीश्वर-पद्मनाभा-
भ्यामसुपीत्युक्त्वा कृष्णवाट्स्वित्यादिकं समाहितं तद्धिते कृष्णवाट् सादित्यादिकन्तु ताभ्यां
समाधेयमेव भवति, न तु समाहितम् । कृष्णेति कृष्णपण्डितः प्रक्रियाटीकाकारः । अपदान्त
इत्युक्त्वेति करामविधानसूत्रे इति शेषः । कृष्णवाट् सादित्यादौ च पदान्तत्वादसमाधेय-
परो न भवतीति ॥१४६॥

बाल०—अन । असिद्धत्वादिति क्वचिदन्तरङ्ग इत्यादि न्यायेनेति शेषः । गोधुगिति

गोदुह् । जवर्जहरिगदादेरित्यादि; गोधुक् गोधुग् गोदुहौ गोधुग्भ्यां
गोधुक्षु । घत्वे धातोरित्यौपदेशिकत्वंमेव गृह्यते, तेन दामलिङ्वाचरतीति
क्विवन्तात् क्विपि दामलिट् ।

कंसद्रुह् । कंसध्रुक् कंसध्रुग् कंसध्रुट् कंसध्रुङ् कंसद्रुहौ । कंसध्रुग्-
भ्याम् कंसध्रुङ्भ्याम् । एवं कृष्णमुह् कृष्णस्निह् इत्यादयः । कृष्णा-
ङिर्ब्रलिह् । हस्य ङः, कृष्णाङिर्ब्रलिट् कृष्णाङिर्ब्रलिङ् कृष्णाङिर्ब्रलिहौ ।
तुरासाह् ।

१४८. साढः षाट् ।

तुराषाट् तुराषाङ् तुरासाहौ तुरासाहः । तुराषाङ्भ्याम् ।

॥ इति विष्णुजनान्ताः पुलिङ्गाः ॥

घत्वे इति—घत्वविधान सूत्रे धातो रिति औपदेशिकत्वं आद्योच्चारण सिद्ध धातुत्वं
नतु कृत्रिमम्; गण पठितधातुरेव गृह्यत इति फलितार्थः । तेनेति—दामलिङ्वाचरतीति क्विपि
दामलिट् शब्दः । ततो दामलिङ्वाचरतीत्यर्थे क्वचित् क्यङः क्विविति नामधातौ
दामलिट्; पुनस्तस्मात् कृत्क्विविपि दामलिट् शब्दः । इहनामधातो धातुत्वेऽपि न हि
स्वाभाविकधातुत्वं, नाम्न उत्तरे प्रत्ययान्तरेण तद्विधानात् । अतो हस्थानिकस्य टरामस्य
न हि घत्वमित्यभिप्रायः । एवं कृष्णस्निक् कृष्णस्निट् कृष्णस्निग्भ्यां कृष्णस्निङ्भ्यां
कृष्णस्निक्षु कृष्णस्निट्सु ।

अमृता०—१४८. साढ इति । साढः स्थाने साट् स्याद् विष्णुपदान्त इति शेषः ।
हस्य स्थाने ढेकृतेसति पत्वं भवतीत्यर्थः । तुरं वेगं सहत इति तुराषाट् देवराजः ।

॥ इतिव्याख्यात। विष्णुजनान्ताः पुलिङ्गाः ॥

दादेस्तु धातोर्घ इति हस्य घः, विष्णुदास इत्यादिना घस्य गः, विष्णुदासस्य हरिकमल-
मित्यादिना गस्य कः, पक्षे गरामस्यैव स्थितिः । घत्व इति घरामविधाने धातोरित्यस्य
औपदेशिकत्वमेव गृह्यते । उपदेशे उच्चारणमात्रे यो दादिधातुस्तस्य हरामस्य स्थाने घो
भवतीत्यर्थः । गणपठित-धातोरेव ग्रहणमिति फलितार्थः । तेनेति दामलिङ्वाचरतीति
य इवाचरति तस्मात् क्यङिति क्यङ्, क्वचित् क्यङ् क्विप्, ततः कृत् क्विप् क्विविति
क्यङ् क्विप् । कंसध्रु गिति द्रुहमुहेत्यादिना हस्य घः, पक्षे हस्य ङः कंसध्रुङिति ॥१४७॥

बाल०—साढः । साढः स्थाने षाट् स्यात्, हस्य स्थाने ढे सति पत्वं भव-
तीत्यर्थः ॥१४८॥

॥ इति विष्णुजनान्ताः पुलिङ्गाः ॥



अथविष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

तत्र चरामान्त ऋच् । चवर्गस्येति ऋक् ऋग् ऋचौ ऋचः । ऋग्भ्यां ऋक्षु । एवञ्च वाच् ।*

स्त्रज् दिशद्दृश् इत्यादि-स्त्रक् स्त्रग् स्त्रजौ स्त्रजः । समिध् समित् समिद् । †
सीमन्-सीमा सीमानौ सीमानः । सीम्नः सीम्ना । ईड्योस्तु वा
सीम्नि सीमनि ।

अप् नित्यं बहुवचनान्तः । नान्तेति त्रिविक्रमः—आपः अपः ।

१४६. अपो दोभे ।

अद्भिः अप्सु । हेआपः । तदन्तत्वात् स्वद्भिरित्यादि । ककुभ्—ककुप्
ककुब् ककुभौ ककुब्भ्यां ककुप्सु । गिर,—इरुन्तधातोः । गीः गिरौ
गिरः । गीर्भ्याम् गीर्षु । एवं पुर्—पूः पुरौ पुरः । चतुर्—स्त्रियां
चतस्त्रादेशः । चतस्त्रः चतस्त्रः चतसृभिः चतसृभ्यः चतसृणां चतसृषु ।
लक्ष्मीस्थयोरिति विशेषणात् समस्तस्यान्यलिङ्गत्वेऽपि तत्तदादेशः ।
प्रियास्तिस्रो यस्य सप्रियतिसा प्रियतिस्रौ प्रियतिस्रः । प्रियचतसा
प्रियघतस्रौ प्रियचतस्रः । डसिङसोः प्रियतिस्रः प्रियचतस्रः । प्रिय-

ऋच्यते स्तूयतेऽनया ऋक् वेदोमन्त्रश्च । धुत् तडित् सरित् प्रभृतयः कंसजित्
शब्दवत् । उपनिषद् सम्पद् सम्बिद् शरद् दृषद् मृद् प्रभृतयः कृष्णविद् वत् । समित्
तृणकाष्ठादीन्धनम् । पामम् शब्दो रोगवाची सीमन् वत् । आप्नुवन्तीति आपः जलानि ।

अमृता०—१४६. अप इति । भरामे परे अपोऽन्तस्य दराम आदिश्यते । भे इति
किम्—अप्सु । ककुभ्शब्दो दिग्वाची । इरुन्त धातोरित्यादिना उद्धवस्य त्रिविक्रम
इतिशेषः ।

गृणातीति गी वाक् । प्रियचतसेति—प्रियाश्चतस्रो यस्येति विग्रहः । प्रियतिस्र इति

अथ विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

बाल०—अपो । भे परे अपोऽन्तस्य दो भवति । इरुन्तधातोरित्यादिना उद्धवस्य
त्रिविक्रमः । प्रियचतस्येति प्रियाश्चतस्रो यस्येति विग्रहः प्रियत्रिरिति प्रियास्त्रयः प्रियाणि
त्रीणि वा यस्याः सेति अत्र समस्तस्यैव लक्ष्मीत्व न तु त्रिशब्दस्येति न तिस्रादेशः ॥१४६॥

* एवं सच शुच् प्रभृतयश्च । रुज्शब्दो व्याधिवाची रुज्वत् ।

† एवं धुध् युध् वीरुधादयश्च ।

तिसृणाम् । समस्तमात्रस्य लक्ष्मीत्वेतु प्रियत्रिः प्रियत्री प्रियत्रयः । दिव् ।

१५०. दिव ओसौ ।

द्यौः दिवौ दिवः । दिवं दिवौ दिवः । दिवा

१५१. दिव उर्विष्णुपदान्ते ।

द्युभ्यां द्युषु । दिश् —दिक्दिग् दिशौ दिग्भ्याम् दिक्षु । एवं दृश् अथ-
द्विष् कंसद्विड्वत् । एवंविप्रुष् । अथाशिष् —सजुषित्यादिना रः ।
आशीः आशिषौ आशिषः । आशीर्भ्याम् आशीःषु । उष्णिह् —उष्णिक्
उष्णिग् उष्णिहौ । उपानह् —नहोधः—उपानत् उपानद् उपानहौ ।

॥ इति विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

—तिस्र चतस्रो रिति रः । प्रियत्रिरिति—प्रिया स्त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या इति
विग्रहः ।

अमृता०—१५०. दिव इति । सौपरे दिवः अन्तस्य औरामादेशः स्यात् । द्यौः
स्वर्गः । सुरलोको द्यौ दिवौ द्वेस्त्रियां क्लीवे त्रिपिष्टपमित्यमरः ।

अमृता०—१५१. दिव उरिति । विष्णु पदान्ते विषये दिवोऽन्तस्य उरामादेशो
भवति । द्युभ्यामिति—वरामस्योरामे सति इद्वयमेव यः सर्वेश्वर इति यरामः । विप्रुड्
विन्दुः । पृषन्ति विन्दु पृषताः पुमांसो विप्रुषस्त्रियामित्यमरः । एवं रुष् तृष् त्विष्
प्रभृतयः । त्विट् कान्तिः । तथा सरामान्ता अप्सरस् सुमनस् प्रभृतयो वेधस् शब्दवज्
ज्ञेयाः । उष्णिक् सप्ताक्षरचरणं छन्दः । स्रज्दिशित्यादिना करामः । उपनह्यति पाद-
मित्युपानत् पादुकेत्यर्थः ।

॥ इति व्याख्याता विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

बाल०—दिवः सौ परे दिवोऽन्तस्य और्भवति ॥१५०॥

बाल०—दिवः । विष्णुपदान्ते विषये दिवोऽस्य उर्भवति ॥१५१॥

॥ इति विष्णुजनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥



अथ विष्णुजनान्ताः नपुंसकलिङ्गाः ।

तत्रापि प्रत्यच् । प्रत्यक् प्रतीची प्रत्यश्चि । २ । प्रतीचा प्रत्यग्भ्याम् ।
एवंप्राच् । प्रत्यञ्च् प्राञ्च् शब्दयोस्तु—प्रत्यङ् प्रत्यश्चो प्रत्यश्चि । २ ।
शौडरामद्वयंलेख्यं किन्तु मितः स्थाने नरामसद्भावे नुम् न दृश्यते । यथा
कंसहिंसो ब्रह्मणि—कंसहिंसीति केवलं विष्णुचक्रं स्यात् ।

तिर्यच्—तिर्यक् तिरश्चो तिर्यश्चि । २ । ऊर्ज्—ऊर्क् ऊर्ग ऊर्जो ऊर्जि । २

१५२. बहूर्जो नुम् प्रतिषेधः ।

बहूर्जि । अन्त्यात् पूर्वं नुमिच्छन्त्येके । बहूर्जोति ।

जगत् जगती जगन्ति । २ ।

अथ शतृ प्रत्ययान्तभवतु—भवत् । ईप्रत्यये नुम् कृत् प्रकरणे वक्ष्यते—
भवन्ती भवन्ति ।

प्रतीची इति—अचोऽरामहरो भगवतीत्यरामहरे निमित्तापाये नैमित्तिकस्य
यरामस्येराम स्तत स्तस्य त्रिविक्रमश्च । प्रत्यश्चि इति—शेःकृष्णस्थानसंज्ञत्वेन तस्मिन् परे
सर्वेश्वर वैष्णवान्तयोरिति नुम्, तवर्गस्य चवर्ग इति नरामस्य अरामः । टादौ पुरुषोत्तम-
वत् । शौडरामद्वयं लेख्यमिति—पूजार्थवाचिनां प्रत्यश्चादिशब्दानां शौ—सर्वेश्वर
वैष्णवान्तयोरित्यनेन नुमि कृतेअरामद्वयं लेख्यं, नुमोऽपरिहार्यत्वात् । किन्तु मितः स्थाने
अर्थादन्त्यसर्वेश्वरात्परे नरामे विद्यमाने सति नुम् न दृश्यते, नतिष्ठतीत्यर्थः । अन्यदप्युदा-
हरति—यथेति । कंसहिंसीत्यत्र केवलंविष्णुचक्रमेव तिष्ठति नतु नुम् । धातोः सरामत्वादिह
नपत्वम् । तिरश्चोति—तिर्यच स्तिरश्चिरिति तिरश्चादेशः । शोणित वाची असृज शब्द
ऊर्ज वत् ।

अमृता०—१५२. बहूर्ज इति । सर्वेश्वर वैष्णवान्तयोरिति शौ प्राप्तनुम्—बहूर्ज्
शब्दस्यनिषिद्धः स्यात् । अन्त्यादिति—जरामात् पूर्वं ररामात्तु परम् । तथाहि वार्तिकं—
अन्त्यात् पूर्वं नुममेक इति । भाष्यमते तु नुम् न प्राप्नोति । “अचः परो यो फल् तदन्तस्य

अथ विष्णुजनान्ताः नपुंसकलिङ्गाः ।

प्रतीची इति अचोऽराम हर इत्यादिना अरामहरः । निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्य-
पाय इति न्यायेन यरामस्य इरामस्ततस्त्रिविक्रमश्च । शाविति शौ अराम द्वयं लेख्यं भवति
सर्वेश्वर-वैष्णवान्तयोर्नुम् शावित्यनेन विहितस्यनुमोऽपरिहार्यत्वादिति शेषः, किन्तु मितः
स्थाने अन्त्यसर्वेश्वरात् परे नरामसद्भावे नरामविद्यमानतायां सुम् न दृश्यते नुम् न तिष्ठ-
तीत्यर्थः । यथेति कंसहिंसो ब्रह्मणि शौ कंसहिंसीति भवति । अत्र केवलं विष्णुचक्रं भवति,
न तु नुम् तिष्ठतीति । तिरश्चो इति तिर्यचस्तिरश्चित्यादिना तिर्यचस्तिरश्चि ।

बाल०—बहूर्जो । अन्त्यादिति अन्त्यात् जरामात् । ईप्रत्यये नुम् कृत्प्रकरणे

तुदत् भातृ करिष्यत् प्रभृतीनां विकल्पः । तुदत् तुदत् तुदती तुदन्ती
तुदन्ति । एवं भात् भाती भान्ती । करिष्यत् करिष्यती करिष्यन्ती ।
महच्छब्दः—महत् महती महान्ति ।२। ब्रह्मन्—ब्रह्म । वमसत्सङ्ग-
हीनस्येति विशेषणादरामहराभावः । ब्रह्मणी ब्रह्माणि ।२। ब्रह्मणा
ब्रह्मभ्याम् ।

१५३. नस्य हरो वा ब्रह्मणि बुद्धे ।

हेब्रह्म हेब्रह्मन् । एवं चर्मन् वर्मन् शर्मन् ।

अथ अहन् ।

१५४, अहो विष्णुसर्गो विष्णुपदान्ते ।

न समासे पुंसीति वाच्यम् ।

अहः । ईड्योस्तु वा, धातुत्वाभावाद् घत्वाभावः ।

अह्नी अहानि ।२। अह्ना ।

१५५, अस्य स्वाद्यभावएव रविधिर्वाच्यः ।

अहोभ्याम् । बुद्धेऽपि हेअहः । समासेपुंसि तु दीर्घाहा निदाघः । बुद्धेतु

नुम्" इत्येवं व्याख्यानात् । नुम्कृतप्रकरणे वक्ष्यत इति—शप् शाभ्यां शतु नुम् ईप्रत्यये
इत्यनेन । तुदत् प्रभृतीनां विकल्प इति—तत्रैव शेषाद्व्यात्तु वेत्यनेन । महान्तीति—
नान्तेत्यादि लक्षणे महदपामित्यनेनोद्धवस्य त्रिविक्रमः । ब्रह्मभ्यामिति—नामान्तस्येति
नस्य हरः ।

अमृता०—१५३. नस्येति नपुंसक लिङ्गे बुद्धे परे नस्य हरो वा स्यात् । नामान्तस्य
नस्य हरो बुद्धं विनेति नित्यं हराभावे प्राप्ते विकल्पवचनम् । नामन् शब्दस्य नाम
नामनी नाम्नी नामानि । ठादौ पुरुषोत्तमवत् । एवंप्रेमन् धामन् व्योमन् प्रभृतयो नामन्
वत् । तथा जन्मन् कर्मन् मर्मन् वर्त्तन् भस्मन् छद्मन् सद्यन् प्रभृतयश्च ब्रह्मन्वत् ।

अमृता०—१५४. अह इति । विष्णुपदान्ते विषये अहन् शब्दस्य नरामस्य विष्णु
सर्ग आदिश्यते । समासे पुंसि तु स न भवति । धातुत्वाभावादिति—हनो हस्य घो
णिन्नयोरित्यनेन घरामो न भवति, यतस्तल्लक्षणं हनधातुपरमेव ।

अमृता०—१५५. अस्येति । अहन् शब्दसम्बन्धीय-विष्णुसर्गस्य स्वादिप्रत्ययाभावे

वस्यत इति 'शप् शाभ्यां शतुर्नुम् ईप्रत्यये' इत्यनेनेति शेषः । तुदत् भातृकरिष्यत्प्रभृतीनां
विकल्प इति शेषाद्व्यात्तु वेत्यनेनेति शेषः ॥१५२॥

बाल०—नस्य । सुगमम् ॥१५३॥

बाल०—अहो । विष्णुपदान्ते विषये अहोऽन्तस्य विष्णुसर्गो भवति । न समासे ।
धातुत्वाभावात् । हनो हस्य घो निन्नयोरित्यनेन घो न भवति ॥१५४॥

हेदीर्घाहन् । अत्रणत्वं वाच्यम्—दीर्घाहाणौ दीर्घाहाणः दीर्घाह्लिः ।
सुपथिन्—सुपथि सुपथी सुपन्थानि । शसि च सुपन्थानि । पथ्यादीनां
सुटि नुमिति तस्यां भ्रमः ।

दृष्टशार्ङ्गिन्—दृष्टशार्ङ्गि दृष्टशार्ङ्गिणी दृष्टशार्ङ्गीणि । एवं दृष्टकंसह
दृष्टकंसहनी दृष्टकंसघ्नी दृष्टकंसहानि ।२। दृष्ट पूषन् दृष्टार्यमन् ।

स्वप् स्वपी, नान्तधातुवर्जितेति त्रिविक्रमः स्वाप्पि ।२। स्वद्भूचाम् ।
वार्—वाः वारी वारि ।२। अनीश्वरादपि ररामजः—वाभ्याम् ।
अत्रापि चतुर्—चत्वारि ।२।

पयस्—पयः पयसी पयांसि ।२। पयोभ्याम् ।(१)

एव रविधिर्वाच्यः, “अहो विष्णुसर्गस्य रः” इत्यादिना विहितो रविधि रित्यर्थः । तेनात्र
स्वादित्वात् अहोभ्यामिति नरामः किन्तु “आदरामगोपालयो”रिति सन्धिरेव । दीर्घा-
हेति—दीर्घाणि अहानि यत्रेति पीताम्बरः । तस्यान्यपदार्थवाचित्वात् पुरुषोत्तमता ।
निदाघो ग्रीष्मकालः । दीर्घाह्निति—समासे पुंस्त्वान्न विष्णुसर्गः । णत्वं वाच्यमिति—
समासे पूर्वं पदान्नस्य णोवक्ष्यते । सुन्दरः पन्था यत्र तत् सुपथि नगरम् । सुपथि इति—
नामान्तस्य नस्य हरः । सुपथी इति—पथ्यादीनां संसारहरो भगवतीति संसारहरः ।
सुपन्थासीति—पथ्यादीनामिरामस्यारामः कृष्णस्थाने, थात् पूर्वं नुक् च । पथ्यादीनां
सुटिनुमिति—तथा सति शसः स्थाने शेः सुट्त्वाभावात्तत्र नुमः (तन्मते नुकः) प्राप्ति न
स्यादिति दोष एव ।

दृष्टशार्ङ्गीणीति—इन्हन्तित्यादिना शौ उद्धवस्य त्रिविक्रमः । दृष्टकंसघ्नी इति—
अनोऽरामहरे हनो हस्य घः । ईङ्ग्योस्तु वेति अरामहराभावपक्षे दृष्ट कंसहनी इति ।
सुष्ठु आपो यस्मिन् तत् स्वप् सरः । स्वद्भूचामिति—“अपो दो भे”इति परामस्य दरामः ।
पयः क्षीरं पयोऽम्बुचेत्यमरः । घृतमाज्यं हविः सर्पिरिति चामरः । हविषी इति—प्रत्यय-
सरामत्वादीश्वरात् पत्वम् । हविःषु इति—सररामयो रिति विष्णुसर्गः, ततस्तद् व्यवधाने
ऽपि पत्वमित्यर्थः ।

अतिपुमिति—अतिक्रान्तं पुमांसमिति विग्रहः । अन्तराल पाठाद् विष्णुचक्रस्य

बाल०—अस्य । अस्य विष्णुसर्गस्य स्थाने रविधिः स्वाद्यभाव एव वाच्यः, तेन
अहोभ्यामित्यादौ अहो विष्णुसर्गस्य र इत्यादिना ररामो न भवति दीर्घाहेदि दीर्घानि
अहानि यत्रेति विग्रहः । पथ्यादीनामिति अस्माभिः कृष्णस्थाने थात् पूर्वं लुग्विधीयते,
अतः सुपथीत्यादौ न लुग् भवति । सुटि परे थात् पूर्वं नुम् भवतीति प्रक्रियाकौमुदोमतं
तत्तु भ्रम एवेति । दृष्टकंसघ्नी इति हनोदस्य घो निन्नयोरिति हस्य घः । स्वद्भूचामिति

१. एवं अम्भस् अरुस् आगस् उरस् एनस् ओजस् तपस् तेजस् तमस् नमस् मनस् यशस्
रहस् वचस् वत्तस् वासस् शिरस् श्रेयस् सरस् सदसादयः ।

हविस्—हविः । औणादिकसरामोऽयं प्रत्ययः । अतः षत्वम्—हविषी
हवींषि । २। हविर्भ्याम्, विष्णुसर्गः षत्वं—हविःषु । शौरित्वं हविष्षु ।
एवं धनुस् । (१)
अतिपुंस्—अतिपुम् अतिपुंसी अतिपुंमासि । २।
स्वनडुह्—स्वनडुत् स्वनडुही स्वनड्वांहि । २।

॥ इति नपुंसकलिङ्गाः ॥

॥*॥ इति लिङ्गत्रयं दर्शितम् ॥*॥

सर्वेश्वरत्वं विष्णुजनत्वञ्च स्वीकारादिह तु विष्णुजनत्वमननेन सत्सङ्गान्तस्य सस्य हरः,
अथ निमित्तापायात् विष्णुचक्रस्य पुनर्मरामः । अतिपुमांसीति—पुंसः पुमसुरिति पुमसादेशे
विष्णुचक्रेण सान्तसत्सङ्गत्वादुद्धवस्य त्रिविक्रमः । षत्वन्तु निषिद्धं पुलिङ्गप्रकरणे ।
स्वनडुदिति—ध्वंसु स्रंसु वस्वनडुहामिति हरामस्य दरामः । अनड्वांहीति—चतुरनडुहो-
रित्याम्, सर्वेश्वरवैष्णवान्तयोरिति नुम् । न चामः प्रागेव नुमि कृतेऽपि तुल्यमेव रूपमिति
किमनयासाधनरीत्येति वक्तव्यम् । नुम् विधिर्वह्नाश्रितत्वाद् वहिरङ्गम्, आम्विधिस्तु
स्वल्पाश्रितत्वेनान्तरङ्गम् । अतो बलवत्त्वादादौ हि आमः प्रवृत्तिस्ततो नुम इति ।

॥ इति व्याख्यातं लिङ्गत्रयम् ॥

अपोदोभे इत्यनेन परामस्य दः । अतिपुमिति सत्सङ्गान्वस्य हर इत्यादिनासराम-
हरः ॥१५५॥

॥*॥ इति नपुंसकलिङ्गाः ॥*॥



